पाँचवाँ
परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण

प्रथम संस्करण १९५४
द्वितीय संस्करण १९५६
तृतीय संस्करण १९५८
चतुर्थ संस्करण १९५९
पंचम संस्करण १९६०

मूल्य ६ रुपये ५० न० पै०

एक सम्मति

मुझे अपने सहयोगी प्रो. एम. के. अग्रवाल द्वारा लिखित "शिक्षा के
सिद्धान्त" नामक पुस्तक पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस पुस्तक में शि
प्रत्येक अंग पर पूर्ण रूप से प्रकाश डाला गया है। सर्वप्रथम शिक्षा तथा शि
उद्देश्य, शिक्षा और दर्शन का सम्बन्ध, शिक्षा की विविध दार्शनिक धारा
शिक्षा में अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ— इन सब विषयों पर प्रोफेसर महोदय ने बड़ी
बीन करके रोचक ढंग से लिखा है। इन सब विषयों के अतिरिक्त प्रमुख
दार्शनिकों के शिक्षा-सिद्धान्तों तथा विचारधाराओं की विवेचना क्रमानुसार,
एवं सुचारु रूप से की गई है। लेखक ने शिक्षा दार्शनिकों का विवरण पृथक्
रूप से न करके विविध दार्शनिक विचारधाराओं के अन्तर्गत किया है। य
पुस्तक की बड़ी विशेषता है। यह पुस्तक ट्रेनिंग कॉलेज के शिक्षक-विद्यार्थि
लिये नहीं अपितु सर्व शिक्षाप्रेमियों के लिये अत्यन्त रोचक तथा उपयुक्त
होगी। हिन्दी जगत में शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्तों पर अभी तक कोई ऐसी
नहीं लिखी गई है। अतः इस पुस्तक ने एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। मैं
मित्र प्रोफेसर साहिब को इस सफल प्रयास के लिये हृदय से बधाई देता हूँ। मुझे
विश्वास है कि यह पुस्तक शिक्षा विषयक ग्रन्थों में एक उच्च स्थान प्राप्त करेगी

शान्तिचन्द्र गुप्त
एम. ए., एम
भूतपूर्व अध्यक्ष, प्रशिक्षण विभ
मेरठ कॉलिज, मेरठ

१२-१-५५

प्राक्कथन

स्वतन्त्रता के बाद भारतवर्ष मे इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हम
ता के तात्त्विक सिद्धान्तों का पुन.निर्माण करें। पुरातनकाल में भारतीय शिक्षा-
ति तथा भारतीय दर्शन मे सामजस्य था। उस समय जीवन के प्रति जो दृष्टि-
ण था उसी के अनुसार शिक्षा-पद्धति का भी निर्माण हुआ। आजकल हमारी
ा-पद्धति में और जीवन के दर्शन मे बड़ा अन्तर है। एक तरफ़ हमारी शिक्षा-
ति विज्ञानोन्मुखी होती जा रही है और दूसरी तरफ़ अभी तक हमारे विश्वास
रे पुरातन शास्त्रों के आधार पर बने हुए हैं। हमे इस बात का प्रयत्न करना
कि इन दोनों मे मेल स्थापित हो।

इस समय जबकि हम अपनी शिक्षा का पुनःनिर्माण कर रहे हैं इस बात की सब
बड़ी आवश्यकता है कि हम उन तात्त्विक सिद्धान्तो पर विचार करें कि जिनकी
याद पर भारतवर्ष की शिक्षा-पद्धति का निर्माण कर सकें। हमारे अध्यापक ट्रेनिंग
लेजो मे पश्चिम के दार्शनिकों के तात्त्विक सिद्धान्तों से तो परिचित होते हैं लेकिन
को यह मालूम नहीं कि भारतवर्ष की शिक्षा-प्रणाली किन तात्त्विक सिद्धान्तों पर
र्भर है। हमारी संस्कृति का ठीक प्रकार से विकास हो सके इसके लिये यह
वश्यक है कि वे तात्त्विक सिद्धान्त जिनके आधार पर हम शिक्षा का पुन.निर्माण
ना चाहते हैं हमारे सामने स्पष्ट होने चाहिएं। हमको यह मालूम होना चाहिए
कोई भी संस्कृति केवल पुरानी रूढ़ियों और विचारों पर स्थिर नहीं रह सकती।
यादी सिद्धान्तों के पुनःनिर्माण किये बिना संस्कृति की गति रुक जाती है।

मुझे प्रसन्नता है कि प्रो. एस. के. अग्रवाल ने शिक्षा के तात्त्विक सिद्धान्तों पर
पुस्तक लिखी है। हिन्दी में इस विषय पर पुस्तकों का बड़ा अभाव है।
अग्रवाल जी ने उस न्यूनता की पूर्ति की है इसलिये इस प्रयास का स्वागत करना
हिये। श्री अग्रवाल जी ने इस पुस्तक को तैयार करने में प्रशिक्षण विद्यालयों को
ान में रक्खा है। इस दृष्टिकोण से यह प्रयत्न सफल हुआ है और मुझे आशा है
प्रशिक्षण विद्यालयों के विद्यार्थी इस पुस्तक से पूरा लाभ उठायेंगे।

ाभवन, उदयपुर।
ा० ३. १. ५१.

कालूलाल श्रीमाली

दो शब्द

शिक्षा सिद्धान्त (Theory of Education) अथवा शिक्षा दर्शन (Philosophy of Education) पर अङ्ग्रेजी भाषा में पर्याप्त पुस्तकें उपलब्ध हैं। किन्तु राष्ट्र भाषा में ऐसी पुस्तकों का अत्यन्त अभाव है; जो पुस्तकें हैं भी उनका *क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। हिन्दी भाषा में अभी तक कोई ऐसी पुस्तक नहीं* लिखी गयी जो उक्त विषय पर उत्तर प्रदेशीय प्रशिक्षण विद्यालयों (L. T. Colleges) के निर्णीत पाठ्य-क्रम का पूर्ण रूप से अनुसरण करती हो। परिणामतः शिक्षा के *विद्यार्थियों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। 'शिक्षा के* तात्त्विक सिद्धान्त' इस अभाव को दूर करने का एक लघु प्रयास है।

प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य शिक्षा के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक तथा सामाजिक आधारों को स्पष्ट करना तथा उनके प्रभाव के परिणामस्वरूप शिक्षा के *क्षेत्र में समय-समय पर जो परिवर्तन हुए हैं उनसे पाठकों को अवगत कराना है।* शिक्षा के उक्त आधारों को समझे बिना शिक्षा के विभिन्न अङ्गों अर्थात् उद्देश्य, पाठ्य-क्रम, संगठन, अनुशासन, शिक्षण-विधि आदि के क्रमिक विकास को समझना *यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अतः इस पुस्तक में* शिक्षा के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा वैज्ञानिक विकास का विवेचन किया गया है। शिक्षा के विभिन्न 'वादों' (Isms) के विवरण के साथ-साथ उन सभी प्रमुख शिक्षा-शास्त्रियों तथा शिक्षा के प्रयोगों की भी चर्चा की गयी है जिन्होंने शिक्षा के सभी तत्त्वों तथा अङ्गों को अपने विचारों तथा प्रयोगों से प्रभावित किया है। वर्तमान *शिक्षा-प्रणाली में जो-जो प्रवृत्तियां पाई जाती हैं उन सबका भी उल्लेख किया गया* है। शिक्षा में समाजवाद तथा व्यक्तिवाद के संघर्ष का तथा इस संघर्ष के फलस्वरूप जो नवीन शिक्षा-योजनायें और शिक्षण-पद्धतियां प्रस्फुटित हुई हैं उनका वर्णन विस्तार से देने की चेष्टा की गई है। *शिक्षा, समाज तथा राज्य के* पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। शिक्षा में राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाया जाय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय, इस प्रश्न पर भी विचार प्रकट *किये गये हैं।*

यद्यपि यह पुस्तक एल. टी. विद्यालयों के नवीन पाठ्यक्रमानुसार लिखी गई *है,* तथापि पुस्तक को अपने क्षेत्र में शास्त्रीय बनाने की पूरी चेष्टा की गई है जिससे एम. एड., एल. टी., बी. टी. तथा बी. एड. के विद्यार्थी लाभ उठा सकें।

अपने सहयोगियों के प्रोत्साहन, छात्रों के अनुरोध तथा शिक्षा में इस विषय के महत्त्व की दृष्टि से मैंने इस पुस्तक भार के वहन की चेष्टा की है। मुझे इसमें कितनी

...पाठक ही बता सकेंगे। पाठकों की सुविधा के लिये पुस्तक की
भाषा सरलतम हिन्दी रखी गई है और हिन्दी की सर्वमान्य शब्दावली के साथ-साथ
अङ्गरेजी के पारिभाषिक शब्द भी दिये गये हैं। आशा है कि इस पुस्तक से अङ्गरेजी
और हिन्दी दोनों भाषा भाषी लाभ उठा सकेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक को मौलिक नहीं कहा जा सकता। पुस्तक को उपयोगी तथा
विस्तृत बनाने के लिये मैंने अन्य लेखकों की पुस्तक तथा शिक्षा-सम्बन्धी पत्रिकाओं
की निस्संकोच सहायता ली है, जिनका यथास्थान उल्लेख कर दिया है। उनके नाम
सहायक ग्रन्थों की सूची में दिये गये हैं। मैं इन सब लेखकों के प्रति अपनी कृतज्ञता
प्रकट करता हूँ।

अपने सहयोगी प्रोफ़ेसर श्री जे. पी. गोविला, प्रोफ़ेसर पी एम नागर तथा
प्रोफ़ेसर जगदीश चन्द्र गोयल का मैं बड़ा आभारी हूँ, जिन्होंने पुस्तक को प्रस्तुत करने
में मुझे बड़ी सहायता दी है।

हस्तलिपि दोहराने का काम मेरे मित्र व छात्र श्री धनकेश शर्मा (शान्त),
एम. ए. एल, टी., श्री केशव चन्द्र गुप्ता, मिस कैलाश कुमारी पाठक, श्री एस. के.
...रासिया तथा श्री राधेश्याम बंका ने किया है। अतः मैं उनका हृदय से आभारी
हूँ। इस पुस्तक के प्रूफ-संशोधन में श्री केशव चन्द्र गुप्ता ने बड़ी सहायता की है।
अतः मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

इस पुस्तक का प्राक्कथन केन्द्रीय शासन के शिक्षा मन्त्री डा० के. एल श्रीमाली
ने लिखा है। उन्होंने अपने गुरुतर कार्य भार के रहते हुए भी इस प्राक्कथन को
लिखने का कष्ट किया इसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं।

अन्त में श्री मदन मोहन, मालिक, निष्काम प्रेस मेरठ जिनके सहयोग से इस
पुस्तक का छपना सम्भव हो सका उन्हें धन्यवाद देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं।

यदि शिक्षा के विद्यार्थी तथा अन्य शिक्षा-प्रेमी इससे लाभान्वित हो सके तो मैं
अपने इस प्रयास को सार्थक समझूंगा। पुस्तक अधिक उपयोगी बनाने के सुझाव
धन्यवाद स्वीकार किये जायंगे।

मेरठ
...तूबर, १९५४

एम० के० अग्रवाल

पंचम संस्करण

'शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त' का पंचम संस्करण प्रस्तुत करते हुए मुझे ब
है। इस पुस्तक की उपयोगिता एवं श्रेष्ठता सर्वविदित हो चुकी है और इसकी
निरन्तर बढ़ती जा रही है। इसके लिए मैं अपने पाठकों का हृदय से आभारी
पिछले संस्करणों के अनुभव तथा विद्यार्थियों की माँग के आधार पर पुस्तक का
संस्करण पहले से अधिक सरल में छपवाया जा रहा है और प्रत्येक अध्याय के
गत वर्ष की परीक्षाओं में आए हुए प्रश्न भी जोड़ दिये गये हैं। पिछले संस्करणों में
में आवश्यक संशोधन तथा परिवर्द्धन किया गया है, इस कारण प्रस्तुत सं
मूलतः एक पुनर्मुद्रित संस्करण ही है। मुझे यह सूचित करते हुए बड़ा हर्ष है कि
विश्वविद्यालय ने भी बी. ए., बी. टी ; एम. ए. तथा अन्य कक्षाओं के लिये
पुस्तक को मान्यता दे दी है। यह इस पुस्तक की उपयोगिता का पर्याप्त
है।

आशा है कि इस संस्करण को भी आपसे वही स्वागत मिलेगा जो गत व
इस पुस्तक को मिला है। जिन महानुभावों ने इस पुस्तक की प्रशंसा की है,
सभी सज्जनों का हृदय से आभारी हूं। पुस्तक और भी अधिक उपयोगी बन
सुझाव सधन्यवाद स्वीकार किए जायेंगे।

अध्यक्ष
डिपार्टमेंट ऑफ एजुकेशन
मेरठ कालिज, मेरठ
सितम्बर, १९६०.

एस. के. अग्रवा

विषय-सूची

शिक्षा के तात्त्विक सिद्धान्त

पहला अध्याय

शिक्षा : उसके अर्थ, रूप तथा कार्य

शिक्षा क्या है ? (*What is Education ?*)– शिक्षा देने अथवा ग्रहण करने की प्रथा आदि काल से ही किसी न किसी रूप में प्रचलित है। अनन्त काल से ही मनुष्य कुछ न कुछ सीखता आया है। शिक्षा द्वारा वह अपने आचार-विचार तथा रहन-सहन में परिवर्तन और परिमार्जन करता आया है। इसके द्वारा ही उसने अपनी तथा समाज की उन्नति की है। पर शिक्षा क्या है ? शिक्षा किसे कहते है ? इसका क्या अर्थ है ? यह जानने का बहुत कम लोगों ने प्रयास किया है। कुछ मनुष्यों की धारणा है कि नैतिकता तथा धर्म के समान शिक्षा की भी ठीक ठीक परिभाषा नहीं दी जा सकती। यद्यपि शिक्षा की परिभाषा करना कठिन है तथापि अपने-अपने विचारानुकूल लोगों ने शिक्षा की परिभाषा भिन्न भिन्न प्रकार से की है। अधिकतर मनुष्य शिक्षा का अर्थ किसी विद्यालय में अध्ययन करना समझते है और शिक्षित व्यक्ति से उनका तात्पर्य एक ऐसे व्यक्ति से होता है जिसने किसी विद्यालय में भिन्न भिन्न विषयो का अध्ययन किया है। परन्तु यह उनकी भूल है मनुष्य अनेक विषयो का अध्ययन करने के पश्चात् भी अशिक्षित अथवा मूर्ख हो सकता है, क्योंकि शिक्षा ग्रहण करना एक बात है और अध्ययन करना दूसरी बात शिक्षा और अध्ययन पर्यायवाची शब्द नहीं है। इन दोनो शब्दों मे आकाश पाताल का अन्तर है। शिक्षा की परिधि केवल विद्यालय तक ही सीमित नहीं, शिक्षा का क्षेत्र तो अत्यन्त विस्तृत है। जर्मनी के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री पेस्टालॉजी (Pestalozzi के अनुसार "शिक्षा मनुष्य की समस्त शक्तियों का स्वाभाविक, प्रगतिशील और विरोधहीन विकास है।" (Education is defined as a natural, harmonious and progressive development of man's innate powers. अरस्तु (Aristotle) के अनुसार शिक्षा का कार्य 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निर्माण करना है।" स्ट्रेयर (Strayer) का कथन है कि शिक्षा वह है जो मनुष्य विद्वान् के कार्यों मे अन्तर ला देती है। (Strayer defines Education as worth just the difference it makes in the activities of the individual who has been educated) दूसरे शब्दों में शिक्षा शिक्षित और अशिक्षित व्यक्ति का अन्तर मात्र है। स्वामी विवेकानन्द के कथनानुसार "मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।" जे. एस. टॉमस

G. H. Thomson) के अनुसार, शिक्षा बाह्य वातावरण के प्रभावों का एक निश्चित रूप है जिनके द्वारा मनुष्यों के आचार-विचार, आदत तथा व्यवहार में सुधार होता है अर्थात् जिनके द्वारा उत्तमोत्तम गुणों का विकास होता है। एक अन्य मत के अनुसार "शिक्षा वह साधन है जिससे परिस्थितियों तथा वातावरण पर विजय प्राप्त की जाती है और एक नये वातावरण की रचना की जाती है।" किसी अन्य व्यक्ति के अनुसार "पढ़ने लिखने के पश्चात् जो कुछ हमारे पास बच रहता है वही शिक्षा है।" इस प्रकार कुछ व्यक्तियों तथा शिक्षा-शास्त्रियों ने 'शिक्षा' की परिभाषा कुछ चुने हुए शब्दों अथवा वाक्यों में देने का प्रयत्न किया है। परन्तु अभी तक कोई ऐसी परिभाषा नहीं दी जा सकी है जो सर्व मान्य हो। किसी निश्चित परिभाषा के अभाव में 'शिक्षा' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाना कितना स्वाभाविक है यह बताने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार शिक्षा एक बहु-अर्थी शब्द है। विभिन्न व्यक्तियों ने अपने-अपने आदर्शानुसार शिक्षा के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये हैं। परन्तु साधारणतः शिक्षा के दो अर्थ लगाए जाते हैं :— (१) व्यापक (wider) और (२) संकुचित (narrower)। व्यापक और संकुचित अर्थ की विशेषताएं निम्नलिखित हैं :—

शिक्षा का व्यापक अर्थ (*Wider meaning of the term Education*)—इस अर्थ के अनुसार शिक्षा वह क्रिया है जिससे मनुष्य के जीवन का विकास होता है अथवा जिससे वह परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करता है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री टी. रेमन्ट (T. Raymont) के अनुसार "शिक्षा विकास का वह क्रम है, जिससे मनुष्य अपने को आवश्यकतानुसार भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल बना लेता है।" (Education is defined as a process of development in which consists the passage of human being from infancy to maturity, the process by which he adapts himself gradually in various ways to his physical, social and spiritual environment.) शिक्षा का यह कार्य जीवन भर चलता है। बालक जन्म से लेकर अन्तिम समय तक कुछ न कुछ सीखता है। उसका सारा जीवन ही शिक्षा काल है। [illegible] प्रत्येक स्थान पर कुछ न कुछ सीखता है। [illegible] यह शिक्षा न [illegible] सीमित रहती है और न केवल [illegible] [illegible] इस प्रकार की [illegible] [illegible]

विजय पाता है, जीवन की अनेकानेक समस्याओं को सुलझाता है और कर्तव्यों का पालन करता है। यदि यह विकास न हो तो वह अपने जीवन में असफल रहता है। यह शिक्षा शब्द का व्यापक अर्थ है। इसी प्रकार के विचारों के कारण रूसो (*Rousseau*) और वर्ड्सवर्थ (*Wordsworth*) ने प्रकृतिवादी शिक्षा पर बल दिया है। शिक्षा के उपरोक्त अर्थ के अनुसार संसार के सभी व्यक्ति शिक्षार्थी हैं और सभी शिक्षक। मनुष्य स्वयं भी सीखता है और दूसरों को भी सिखाता है।

शिक्षा का संकुचित अर्थ (*Narrower meaning of the term*)—जब हम बालक की शिक्षा की चर्चा करते हैं तो हम शिक्षा शब्द का प्रयोग एक संकुचित रूप में करते हैं। इस अर्थ के अनुसार शिक्षा कुछ विशेष प्रभावों तथा विषयों के अध्ययन में सीमित हो जाती है। इस अर्थ के अनुसार बालकों को केवल वह ज्ञान दिया जाता है जिसको समाज का वयस्क वर्ग उनके जीवन के लिये उपयोगी समझता है। यह शिक्षा बालक एक पूर्वनिश्चित योजना द्वारा प्राप्त करता है। यह शिक्षा जीवन के केवल कुछ ही वर्षों तक प्राप्त की जाती है। विद्यालय इसकी प्राप्ति का मुख्य स्थान होता है। विद्यालय में एक विशेष प्रकार का व्यक्ति निर्देश करता है जो शिक्षक कहलाता है। शिक्षक बालक की शिक्षा का उत्तरदायी माना जाता है। बालक विद्यालयों में कई विषयों पर निर्देश ग्रहण करता है। अतएव अधिकतर मनुष्यों ने शिक्षा का अर्थ विशेष प्रकार की पुस्तकें पढ़ना समझा है। यह "शिक्षा" शब्द का संकुचित अर्थ है।

उक्त वर्णित शिक्षा से बालकों को कोई लाभ नहीं होता, उनका सर्वाङ्गीण विकास नहीं होता। वे तोते की तरह विषयों को रट कर पंडित तो हो जाते हैं, किन्तु उन्हें व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त नहीं होता। उन्हें पुस्तकीय ज्ञान तो मिल जाता है, किन्तु उनका मानसिक तथा चारित्रिक विकास नहीं होता। ऐसी शिक्षा केवल निर्देश तक ही सीमित रह जाती है। अतः शिक्षा के इस संकुचित तथा सीमित अर्थ के लिये अध्यापन अथवा निर्देशन शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर शिक्षा तथा निर्देश का अन्तर जान लेना भी आवश्यक है।

शिक्षा और निर्देश (*Education and Instruction*) — उक्त अंतर के अतिरिक्त शिक्षा और निर्देश में अन्य भी कई भेद हैं। शिक्षा को अङ्ग्रेजी में एडूकेशन (*Education*) कहते हैं। 'एडूकेशन' शब्द लेटिन के 'एडूकेटम' (*Educatum*) शब्द से निकला है जिसका अर्थ है 'शिक्षित करना'। 'ए' (*E*) का अर्थ है 'अन्दर से' तथा 'डूको' (*Duco*) का अर्थ है 'आगे बढ़ाना'। अतएव एडूकेशन अथवा शिक्षा का अर्थ है 'अन्तःशक्तियों का बाहर की ओर विकास करना', ज्ञान को भीतर ठूँसना नहीं। शिक्षा का उद्देश्य आन्तरिक शक्तियों का सर्वाङ्गीण विकास है। एडिसन महोदय के अनुसार 'शिक्षा वह क्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य को अपने में निहित उन शक्तियों तथा गुणों का दिग्दर्शन होता है जिनका शिक्षा के बिना प्रकट

(G. H. Thomson) के अनुसार, शिक्षा बाह्य वातावरण के प्रभावों का ए
समन्वित रूप है जिसके द्वारा मनुष्यों के आचार-विचार, आदत तथा व्यवहार
सुधार होता है अर्थात् जिसके द्वारा उत्तमोत्तम गुणों का विकास होता है। ए
अन्य मत के अनुसार "शिक्षा वह साधन है जिससे परिस्थितियों तथा वातावर
पर विजय प्राप्त की जाती है और एक नये वातावरण की रचना की जाती है।
किसी अन्य व्यक्ति के अनुसार "पढ़ने लिखने के पश्चात् जो कुछ हमारे पास बच रहत
है वही शिक्षा है।" इस प्रकार कुछ व्यक्तियों तथा शिक्षा-शास्त्रियों ने 'शिक्षा' क
परिभाषा कुछ चुने हुए शब्दों अथवा वाक्यों में देने का प्रयत्न किया है। परन्तु अभ
तक कोई ऐसी परिभाषा नहीं दी जा सकी है जो सर्व मान्य हो। किसी निश्चित
परिभाषा के अभाव में 'शिक्षा' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाना कितना स्वाभावि
है यह बताने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार शिक्षा एक बहु-अर्थी शब्द है
विभिन्न व्यक्तियों ने अपने-अपने आदर्शानुसार शिक्षा के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये हैं।
परन्तु साधारणतः शिक्षा के दो अर्थ लगाए जाते हैं :— (१) व्यापक (wider)
और (२) संकुचित (narrower)। व्यापक और संकुचित अर्थ की विशेषताएं
निम्नलिखित हैं :—

शिक्षा का व्यापक अर्थ (Wider meaning of the term Education)-
इस अर्थ के अनुसार शिक्षा वह क्रिया है जिससे मनुष्य के जीवन का विकास होता है
अथवा जिससे वह परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करता है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री
टी. रेमन्ट (T. Raymont) के अनुसार "शिक्षा विकास का वह क्रम है, जिससे
मनुष्य अपने को आवश्यकतानुसार भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक वातावरण के
अनुकूल बना लेता है।" (*Education is defined as a process of development in which consists the passage of human being from infancy to maturity, the process by which he adapts himself gradually in various ways to his physical, social and spiritual environment*) शिक्षा का यह कार्य जीवन भर चलता है। बालक जन्म से लेकर
अन्तिम समय तक कुछ न कुछ सीखता है। उसका सारा जीवन ही शिक्षा काल है।
वह माता पिता, भाई बहिन, अध्यापकों, मित्रों तथा अन्य व्यक्तियों से हर समय
प्रत्येक स्थान पर कुछ न कुछ सीखता है। जितने लोगों का बालक से सम्पर्क होता है वे
सभी बालक के शिक्षक हैं। यह शिक्षा न तो घर तक सीमित रहती है और न केवल
स्कूल तक। इस प्रकार की शिक्षा घर, स्कूल तथा अन्यान्य स्थानों पर होती रहती
है। स्वयं प्रकृति भी बालक को अनेक प्रकार की शिक्षा देती रहती है। इस प्रकार की
शिक्षा के क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हैं। अतः शिक्षा उस विकास का नाम है जो बचपन से
अन्तिम क्षण तक होता है। इसी विकास के बल पर मनुष्य अपनी परिस्थितियों पर

विजय पाता है, जीवन की अनेकानेक समस्याओं को सुलझाता है और कर्तव्यों का पालन करता है। यदि यह विकास न हो तो वह अपने जीवन में असफल रहता है। यह शिक्षा शब्द का व्यापक अर्थ है। इसी प्रकार के विचारों के कारण रूसो (*Rousseau*) और वर्ड्सवर्थ (*Wordsworth*) ने प्रकृतिवादी शिक्षा पर बल दिया है। शिक्षा के उपरोक्त अर्थ के अनुसार संसार के सभी व्यक्ति शिक्षार्थी हैं और सभी शिक्षक। मनुष्य स्वयं भी सीखता है और दूसरों को भी सिखाता है।

शिक्षा का संकुचित अर्थ (*Narrower meaning of the term*)—जब हम बालक की शिक्षा की चर्चा करते हैं तो हम शिक्षा शब्द का प्रयोग एक संकुचित रूप में करते हैं। इस अर्थ के अनुसार शिक्षा कुछ विशेष प्रभावों तथा विषयों के अध्ययन में सीमित हो जाती है। इस अर्थ के अनुसार बालकों को केवल वह ज्ञान दिया जाता है जिसको समाज का वयस्क वर्ग उनके जीवन के लिये उपयोगी समझता है। यह शिक्षा बालक एक पूर्वनिश्चित योजना द्वारा प्राप्त करता है। यह शिक्षा जीवन के केवल कुछ ही वर्षों तक प्राप्त की जाती है। विद्यालय इसकी प्राप्ति का मुख्य स्थान होता है। विद्यालय में एक विशेष प्रकार का व्यक्ति निर्देश करता है जो शिक्षक कहलाता है। शिक्षक बालक की शिक्षा का उत्तरदायी माना जाता है। बालक विद्यालयों में कई विषयों पर निर्देश ग्रहण करता है। अतएव अधिकतर मनुष्यों ने शिक्षा का अर्थ विशेष प्रकार की पुस्तकें पढ़ना समझा है। यह "शिक्षा" शब्द का संकुचित अर्थ है।

उक्त वर्णित शिक्षा से बालकों को कोई लाभ नहीं होता, उनका सर्वाङ्गीण विकास नहीं होता। वे तोते की तरह विषयों को रट कर पंडित तो हो जाते हैं, किन्तु उन्हें व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त नहीं होता। उन्हें पुस्तकीय ज्ञान तो मिल जाता है, किन्तु उनका मानसिक तथा चारित्रिक विकास नहीं होता। ऐसी शिक्षा केवल निर्देश तक ही सीमित रह जाती है। अतः शिक्षा के इस संकुचित तथा सीमित अर्थ के लिये अध्यापन अथवा निर्देशन शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर शिक्षा तथा निर्देश का अन्तर जान लेना भी आवश्यक है।

शिक्षा और निर्देश (*Education and Instruction*)—उक्त अन्तर के अतिरिक्त शिक्षा और निर्देश में अन्य भी कई भेद हैं। शिक्षा को अङ्गरेजी में एजूकेशन (*Education*) कहते हैं। 'एजूकेशन' शब्द लैटिन के 'एजूकेटम' (*Educatum*) शब्द से निकला है जिसका अर्थ है 'शिक्षित करना'। 'ए', *E*, का अर्थ है 'अन्दर से' तथा 'ड्यूको' (*Duco*) का अर्थ है 'आगे बढ़ाना'। अतएव एजूकेशन अथवा शिक्षा का अर्थ है 'अन्तःशक्तियों का बाहर की ओर विकास करना', ज्ञान को भीतर ठूंसना नहीं। शिक्षा का उद्देश्य आन्तरिक शक्तियों का सर्वाङ्गीण विकास है। एडिसन महोदय के अनुसार "शिक्षा वह क्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य को अपने में निहित उन शक्तियों तथा गुणों का दिग्दर्शन होता है जिनका शिक्षा के बिना प्रकट

होना असम्भव है।' इसके विपरीत निर्देश का अर्थ है अध्यापन द्वारा बालक तक किसी नियम के ज्ञान को पहुँचाना। इसमें अध्यापन विधियों का प्रयोग किया जाता है। ज्ञान अन्दर से उत्पन्न नहीं होता। बालक ज्ञान को खोजकर अपने आप नहीं निकालता अपितु शिक्षक किसी न किसी प्रकार ज्ञान को बालक पर थोप देता है, चाहे उस ज्ञान को बालक समझे या नहीं। इस ज्ञान को बालक ग्रहण नहीं कर पाता और यह ज्ञान केवल परीक्षा में उत्तीर्ण होने का साधन मात्र बन कर रह जाता है। जीवन में आवश्यकता पड़ने पर उससे काम नहीं लिया जा सकता। ऐसी शिक्षा वास्तविक शिक्षा नहीं, वास्तविक शिक्षा में बालक ज्ञान को स्वयं खोज कर प्राप्त करता है और अपने प्रयत्नों द्वारा अपनी आन्तरिक शक्तियों का विकास करता है। इस प्रकार वह जो ज्ञान प्राप्त करता है वह उसका अपना होता है, किसी का दिया हुआ नहीं। जो ज्ञान बालक अपने आप प्राप्त करता है वह स्थायी होता है। आवश्यकता पड़ने पर वह उसका समुचित प्रयोग करता है।

शिक्षा में बालक को मुख्य स्थान दिया गया है और अध्यापन में अध्यापक प्रधान होता है। अध्यापन में बालक की रुचि तथा प्रवृत्ति का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। बालक को अध्यापक की इच्छानुसार तथा आदेशानुसार स्कूल-कार्य करना पड़ता है। उसे अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं होती। इससे उसका विकास कुण्ठित हो जाता है। इस प्रकार निर्देशन से बालक में स्वतंत्र सोचने की शक्ति नहीं उत्पन्न होती, उसकी बुद्धि तथा चरित्र का विकास नहीं होता और उसमें ऐसे गुणों का विकास नहीं होता जिनसे वह अपने जीवन को समाज के लिये अधिक से अधिक उपयोगी बना सके।

शिक्षा कोई जड़ वस्तु नहीं जो किसी को वस्तु के रूप में दी जा सके। शिक्षा तो एक प्रकार की चेतना है जिसे व्यक्ति स्वयं प्राप्त करता है। शिक्षा से जीवन की प्रगति होती है, अतः उसे प्रगतिशील क्रिया कहा गया है। कुछ विद्वान उसे सविचार प्रक्रिया कहते हैं क्योंकि शिक्षा के लिये विचारपूर्वक तथा जान बूझ कर प्रयत्न किए जाते हैं। एडम्स (Adams) महोदय ने शिक्षा को 'द्विमुखी प्रक्रिया' (Bi-polar Process) कहा है। उनके कथनानुसार शिक्षा के दो प्रमुख अंग हैं: एक बालक और दूसरा शिक्षक। शिक्षा के लिये इन दोनों के बीच आदान-प्रदान होता रहता है। शिक्षक अपने व्यक्तित्व के प्रभाव तथा ज्ञान के विभिन्न अंगों द्वारा बालक के आचार तथा व्यवहार में परिवर्तन तथा सुधार करता है जिससे उसका सम्यक् विकास सम्भव हो जाता है। शिक्षा स्कूल तक ही सीमित नहीं रहती, यह जीवन-पर्यन्त चलती रहती है। बालक प्रति क्षण आगे बढ़ता रहता है और उसके व्यक्तित्व का विकास होता रहता है। इस प्रकार शिक्षा जीवन की एक प्रगतिशील क्रिया है। इसका क्षेत्र अत्यन्त ही विशाल है। स्पष्ट है कि शिक्षा निर्देश की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, उत्तम तथा महत्त्व है।

ड्यूवी (Dewey) महोदय ने भी शिक्षा को एक 'प्रक्रिया' माना है। उनके अनुसार शिक्षा के दो प्रमुख अङ्ग हैं—एक मनोवैज्ञानिक (Psychological) और दूसरा सामाजिक (Social)। बालक का विकास इन्हीं दो अङ्गों पर निर्भर रहता है। मनोवैज्ञानिक अङ्ग का आशय यह है कि बालक का विकास उसकी मूल प्रवृत्तियों तथा शक्तियों पर निर्भर है। इसलिये शिक्षक को बालक की मूल-प्रवृत्तियों तथा शक्तियों से परिचित होना आवश्यक है। इनके अध्ययन से उसे शिक्षा की सामग्री का ज्ञान हो जायगा। इन्हीं के आधार पर शिक्षा प्रारम्भ करके वह बालक के विकास में सहायक हो सकता है। सामाजिक अङ्ग का तात्पर्य है कि समाज में क्रियाशील रह कर ही व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर सकता है। क्योंकि वह एक सामाजिक प्राणी है और हर समय समाज से कुछ न कुछ सीखता है। अपने वातावरण, माता-पिता, संगी-साथी तथा अन्य व्यक्तियों से प्राणी जो कुछ सीखता है वह उसकी शिक्षा है। यह सामाजिक भावना बालक में जन्म से ही अज्ञात रूप में आ जाती है और निरन्तर उसकी शक्तियों तथा व्यक्तित्व को प्रभावित करती रहती है। बालक का जीवन उस समाज के लिए होता है जिसका वह अङ्ग है। अतः उसकी शिक्षा उसी वातावरण में होनी चाहिए जिसमें वह रहता है। इस प्रकार ड्यूवी (Dewey) ने शिक्षा के सामाजिक अङ्ग को अधिक महत्व दिया है। सामाजिक अङ्ग पर विशेष बल दिये जाने के कारण कुछ व्यक्तियों ने शिक्षा को त्रिभुजी प्रक्रिया (Tripolar) माना है। शिक्षक, शिक्षार्थी और समाज इसकी तीन प्रमुख भुजायें हैं।

शिक्षा की परिभाषा-उपर्युक्त विवरण से शिक्षा के विभिन्न अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। अतः अब हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि शिक्षा और निर्देश समानार्थी शब्द नहीं है। यह निश्चित हो जाने के पश्चात् शिक्षा की परिभाषा दी जा सकती है। शिक्षा के विभिन्न अर्थों तथा परिभाषाओं की विवेचना करते हुए डाक्टर अदावल ने शिक्षा की परिभाषा के विषय में यह कहा है कि "शिक्षा वह सविचार प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति के विचार तथा व्यवहार में परिवर्तन तथा परिवर्द्धन होता है—उसके अपने तथा समाज के लिए।"[1] परन्तु साधारणतया जब हम शिक्षा के विषय में विचार विनिमय करते हैं तो हमारा अभिप्राय शिक्षा के संकुचित अर्थ अर्थात् स्कूली शिक्षा से होता है। अतः अब हम शिक्षा शब्द का प्रयोग इसी संकुचित रूप में करेंगे और इसी सम्बन्ध में शिक्षा के विभिन्न अङ्गों का विवेचन करेंगे।

शिक्षा की आवश्यकता

मानव जीवन के लिये शिक्षा की आवश्यकता पर अब किसी को सन्देह नहीं हो सकता। मनुष्य का बालक जन्म से ही असहाय होता है। प्रकृति ने पशुओं के बच्चों

[1] Bharatiya Shiksha Ke Siddhant by Dr. Adaval.

को इतना असहाय नहीं बनाया जितना मनुष्य के बालक को। मनुष्य का बालक जन्म लेते ही न चल सकता है, न कोई कार्य कर सकता है और न बोल ही सकता है। इसके विपरीत पशु और पक्षियों के बच्चे अपनी अपनी क्रियाओं को बिना सिखाये कर सकते हैं। परन्तु बिना सिखाये मनुष्य का बालक कुछ भी नहीं कर सकता। शिक्षा के प्रभाव से बालक चलने फिरने, बोलने तथा कार्य करने लगता है। अतः बालक के जीवन के लिये शिक्षा आवश्यक है।

मानव जन्म से ही अपने वातावरण से टक्कर लेता है। यदि वह अपने आपको वातावरण के अनुकूल बना लेता है तो वह जीवित रहता है अन्यथा नष्ट हो जाता है। जो प्राणी जितना अधिक अपने आपको वातावरण के अनुकूल बना लेता है वह जीवन में उतना ही अधिक सफल होता है। इस कार्य में शिक्षा बड़ी सहायक होती है। शिक्षा द्वारा ही मनुष्य अपने आपको वातावरण के अनुकूल बनाता है और उसी के द्वारा वह वातावरण तथा परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करता है।

बालक कुछ ऐसी मूल प्रवृत्तियों को लेकर जन्म लेता है जो सभ्यता तथा सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से उत्तम नहीं होतीं। शिक्षा द्वारा मनुष्य को सभ्य बनाया जाता है। उसकी आदिकालीन बर्बरता को नष्ट किया जाता है और उसे समाज में भली प्रकार जीवन व्यतीत करने योग्य बनाया जाता है। उसकी मूल प्रवृत्तियों को समाजोपयोगी मार्गों में रूपान्तरित किया जाता है। इस प्रकार मानव को सुखी, सभ्य तथा सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिये शिक्षा की आवश्यकता होती है। बिना शिक्षा के मनुष्य पशु के समान होता है उसमें आवश्यकता तथा परिस्थिति के अनुकूल कार्य करने की क्षमता उत्पन्न नहीं होती। केवल शिक्षा द्वारा ही मनुष्य को पशुता से ऊपर उठाकर मनुष्य तथा सन्त बनाया जाता है। उसकी दरिद्रता नष्ट की जाती है। उसे आवश्यकता तथा परिस्थिति के अनुकूल कार्य करने की क्षमता प्रदान की जाती है। दूसरे शब्दों में शिक्षा द्वारा मनुष्य को अशिक्षा के फल से मुक्त किया जाता है। अविद्या, दरिद्रता, कष्ट और शोक की जननी है। शिक्षा के सूर्य से अशिक्षा के अन्धकार को मिटाया जाता है। इसलिये वैयक्तिक उन्नति के लिये शिक्षा परमावश्यक है। शिक्षा द्वारा ही व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक तथा कलात्मक विकास सम्भव है। शिक्षा द्वारा ही मनुष्य में सामाजिक चेतना उत्पन्न की जाती है। समाज में बर्बरता के स्थान पर भ्रातृ-भावना लाई जाती है। शिक्षा के द्वारा ही हम सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित कर सकते हैं।

अपने थोड़े से जीवन काल में समस्त उपयोगी वस्तुओं का ज्ञान अपने आप ...सकता। यदि उसे प्रकृति पर ही छोड़ दिया जाय तो उसे सीखने में अधिक समय लगेगा और उसका बहुत सा ज्ञान निरर्थक सिद्ध होगा ... शिक्षण प्रायः धीमा, व्यर्थ और भटकाने वाला होता है। इसके

अतिरिक्त वर्तमान संसार का वातावरण इतना जटिल तथा परिवर्तनशील है कि बिना शिक्षा के हम इसका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते और बिना इसका ज्ञान प्राप्त किये हम सक्रिय रह कर सामाजिक कार्यों में भाग नहीं ले सकते। ड्यूवी का विचार है कि शिक्षा जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि बिना शिक्षा के जीवन की प्रगति नहीं हो सकती। शिक्षा हमारी प्रकृति प्रदत्त शक्तियों को प्रकट करती है और हमारे विकास तथा उन्नति में सहायक होती है। शिक्षा हमें वर्तमान सम्भावनाओं से परिचित कराती है। शिक्षा द्वारा ही हम मानवी अनुभवों का पुनः सगठन तथा पुनर्निर्माण करते हैं। अतः जीवन में शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु ध्यान रहे कि शिक्षा का क्षेत्र कुछ ही मनुष्यों तक सीमित नहीं रहना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य को शिक्षा की आवश्यकता होती है, अतः शिक्षा सर्वसाधारण के लिये है। मनुष्य जीवन की सभी अवस्थाओं के लिये शिक्षा आवश्यक समझी गई है। इस कारण कुछ व्यक्ति जीवन और शिक्षा में कोई अन्तर नहीं मानते। उनके कथनानुसार शिक्षा जीवन है और जीवन शिक्षा।

शिक्षा के रूप

नियमित तथा अनियमित शिक्षा (*Formal and Informal Education*)

शिक्षा के अनेक रूप हैं, जैसे नियमित तथा अनियमित शिक्षा, प्रत्यक्ष तथा परोक्ष इत्यादि। नियमित शिक्षा वह शिक्षा है जो जानबूझ कर विचारपूर्वक दी जाती है। इस शिक्षा को बालक भी स्वयं जानबूझ कर ग्रहण करता है। इस शिक्षा का प्रोग्राम तथा ध्येय पहले से निश्चित होता है। इसमें बालकों को निश्चित ज्ञान दिया जाता है। यह शिक्षा निश्चित समय पर नियमित रूप से दी जाती है। इस शिक्षा को प्रदान करने के लिए विशेष संस्थाएं होती हैं। बालक की नियमित शिक्षा का प्रारम्भ अनियमित शिक्षा के प्रारम्भ होने के पश्चात् होता है। प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने पर इस शिक्षा का प्रायः अन्त हो जाता है। इस शिक्षा में समय सारिणी पाठ्य-क्रम, अनुशासन आदि की आवश्यकता होती है। इस शिक्षा का मुख्य स्थान स्कूल है। समाज के विकास के साथ-साथ इस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता बढ़ती जाती है। इसीलिए स्कूलों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इस प्रकार की शिक्षा के लिये बालक के स्वभाव को समझना परमावश्यक है। इस प्रकार की शिक्षा के पाठ्य-क्रम का जीवन की आवश्यकताओं से परे हो जाना सम्भव है। ड्यूवी ने हमें इस भय से सावधान रहने का आदेश दिया है।

अनियमित शिक्षा का प्रारम्भ बालक के जन्म लेने के कुछ मास पूर्व ही हो जाता है। यह शिक्षा जीवन-पर्यन्त होती रहती है। यह शिक्षा अनायास बालक के अनजाने होती रहती है। दूसरे शब्दों में अनियमित शिक्षा आकस्मिक रूप में होती है। यह शिक्षा बालक घर के भीतर, बाहर, खेल के मैदान में, दूसरों के स्थानों पर, उठते-

बैठने, खेलते, कूदते, बातचीत करते तथा यात्रा करते समय प्राप्त करता है जितने लोगों से बालक का सम्पर्क होता है वे सभी किसी न किसी रूप में बालक के शिक्षक होते हैं। इस शिक्षा का कोई निश्चित समय व स्थान नहीं होता। इसमें समय-विभाग की आवश्यकता नहीं पड़ती और इस शिक्षा का कोई पाठ्यक्रम नहीं होता। बालक दूसरों से अनेक भली और बुरी बातें सीखता है। यह शिक्षा सुव्यवस्थित नहीं होती और इसकी प्रगति धीमी होती है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की शिक्षायें बालक के विकास के लिए आवश्यक हैं। ये शिक्षायें एक दूसरे की पूरक हैं। इन दोनों में एकता होने पर शिक्षा का कार्य सुचारु रूप से चलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बालक के घर के वातावरण तथा स्कूल के वातावरण में सामंजस्य स्थापित करना चाहिए।

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष शिक्षा (*Direct and Indirect Education*)—ऊपर कहा जा चुका है कि शिक्षा 'द्विमुखी प्रक्रिया' है जो शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच होती रहती है। साधारणतया शिक्षक अपने आदर्श उद्देश्य तथा ज्ञान से शिक्षार्थी को प्रभावित करता है। शिक्षार्थी शिक्षक के सम्पर्क में रहता है इसलिये उसके व्यक्तित्व पर शिक्षक का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के प्रभाव से बालक जो कुछ भी सीखता है वह प्रत्यक्ष शिक्षा कहलाती है। और जब शिक्षार्थी पर शिक्षक के व्यक्तित्व का प्रभाव नहीं पड़ता है तब शिक्षक उसे अप्रत्यक्ष साधनों द्वारा प्रभावित करता है अप्रत्यक्ष साधनों के प्रयोग से शिक्षार्थी को प्रभावित करना तथा सिखाना परोक्ष शिक्षा कहलाती है। जो शिक्षा किसी निश्चित उद्देश्य से नहीं दी जाती और जिसमें शिक्षार्थी को अपनी इच्छानुकूल बढ़ने की स्वतन्त्रता होती है वह शिक्षा परोक्ष समझी जाती है।

सामान्य तथा विशिष्ट शिक्षा (*General and Specific Education*) जब शिक्षा किसी विशेष उद्देश्य से नहीं दी जाती तो वह सामान्य शिक्षा कहलाती है। यह शिक्षा बालक को सामान्य जीवन के लिये तैयार करती है। बालक को किसी विशेष व्यवसाय की शिक्षा न देकर उसे जीवन के विभिन्न कार्यों के लिए तैयार किया जाता है। इस शिक्षा से व्यक्ति की सामान्य बुद्धि तीव्र हो जाती है। इस शिक्षा को उदार शिक्षा भी कहते हैं।

विशिष्ट शिक्षा वह शिक्षा है जो किसी विशेष लक्ष्य को ध्यान में रखकर दी जाती है। बालक को किसी निश्चित कार्य के लिये तैयार किया जाता है। इस शिक्षा से बालक किसी एक निश्चित क्षेत्र में दक्षता प्राप्त करता है। बालक को इन्जीनियर अथवा डाक्टर बनाना विशिष्ट शिक्षा का उदाहरण है।

वैयक्तिक तथा सामूहिक शिक्षा (*Individual & Collective Education*) शिक्षा का यह रूप बालकों की संख्या से सम्बन्धित है। व्यक्तिगत शिक्षा में अकेले

बालक को शिक्षा दी जाती है। इस शिक्षा में उसकी प्रवृत्ति तथा रुचि का पूरा पूरा ध्यान रखा जाता है। उसकी रुचियों के अनुसार ही शिक्षा-विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं। वैयक्तिक शिक्षा पर बल दिये जाने के परिणामस्वरूप कई वैयक्तिक शिक्षण पद्धतियाँ प्रस्तुत की गई हैं जिनका विवेचन आगे किया जायगा। इसके विपरीत अनेक बालकों की एक ही प्रकार की एक ही साथ शिक्षा सामूहिक शिक्षा कहलाती है। यह शिक्षा बालकों के एक समूह को कक्षा में एकत्रित करके दी जाती है। इस शिक्षा में शिक्षक प्रत्येक बालक पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान नहीं दे पाता। इसमें व्यक्तिगत रुचियों तथा योग्यताओं की अवहेलना की जाती है। आजकल की पाठशालाओं में शिक्षा का यही रूप प्रचलित है।

शिक्षा के अङ्ग

शिक्षक – शिक्षारूपी त्रिभुज के तीन अंग हैं—शिक्षक, पाठ्य-विषय और बालक। इन तीनों के बीच शिक्षा का कार्य चलता है। समय तथा देश के अनुसार इनमें से किसी एक को प्रधानता दी गई है। प्राचीन काल में इस शिक्षा रूपी त्रिभुज का प्रधान अंग शिक्षक माना जाता था। शिक्षा में उसका स्थान महत्वपूर्ण था। विशेषकर हमारे देश की शिक्षा में शिक्षक का स्थान अत्यन्त ही उच्च माना जाता था। शिक्षक ही समस्त शिक्षा का केन्द्र बन गया था। अस्तु भारतवर्ष में शिष्य अपने आपको गुरु की छाया-मात्र समझता था। शिष्य में शिक्षक के प्रति आदर तथा श्रद्धा के भाव पैदा किये जाते थे। शिक्षक अपने आदर्शानुसार बालकों को शिक्षा देता था। इस शिक्षा में बालकों की रुचियों तथा योग्यताओं पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। बालक शिक्षा के लिये समझा जाता था। शिक्षक के मुख से निकले हुए शब्द ब्रह्म वाक्य समझे जाते थे और बालक उन्हें सहर्ष कंठस्थ करने का प्रयत्न करता था। प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य बालक को आत्म-ज्ञानी बनाना था इसलिये यह आवश्यक समझा जाता था कि बालक अपने शिक्षक को ईश्वर के रूप में देखे और उसके आदेशों का पालन करे। इसी में बालक का हित था। इस प्रकार प्राचीन काल में बालक शिक्षक की मानसिक दासता में रहता था।

पाठ्य-क्रम— मध्य काल में शिक्षा के दूसरे अंग अर्थात् पाठ्य-विषय पर विशेष महत्व दिया गया। विद्या की प्राप्ति अत्यधिक आवश्यक समझी गई। 'विद्या के लिये विद्या' के सिद्धान्त को अपनाया गया। शिक्षक का काम केवल विद्या देना समझा गया। विशेषकर योरप में ऐसी व्यवस्था अधिक रही। वहां उस समय यह प्रयत्न किया जाता था कि किसी प्रकार बालक विद्या के अंश कंठस्थ कर लें। सैद्धान्तिक तथा शाब्दिक भाषा का प्रचार हुआ। उत्तम भाषा ज्ञान तथा शैली अर्जित करना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बन गया। शिक्षा के इस रूप के कारण ही हमको कक्षा-प्रणाली, पाठ्य-पुस्तकों की प्रथा और बालकों को कंठस्थ कराके शिक्षा देने की

पद्धति प्राप्त हुई। पाठ्य-क्रम का क्षेत्र विस्तृत होता गया और उसमें विभिन्न विषयों का समावेश किया गया। दिन प्रतिदिन पाठ्य-विषयों की वृद्धि होती गई। मध्य काल में शिक्षा के इस रूप ने मनुष्य समाज की बहुत कुछ सेवा की; किन्तु दोषों की अधिकता के कारण इसका महत्व धीरे-धीरे क्षीण हो गया।

बालक— आधुनिक शिक्षा में बालक का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अब बालक शिक्षा का केन्द्र है। इस मत का सबसे पहिले एडम्स महोदय ने प्रतिपादन किया था। उन्होंने कहा कि शिक्षा का पूर्ण विवरण इस वाक्य में मिलता है कि "शिक्षक जॉन को लेटिन पढ़ाता है।" इस वाक्य में "पढ़ाता है" क्रिया के दो कर्म हैं एक "लेटिन" और दूसरा "जॉन"। शिक्षा में जॉन को भूल जाना भारी त्रुटि है। बालक को ध्यान में रख कर ही हम शिक्षा-कार्य में सफल हो सकते हैं। इसलिये शिक्षा के नवीन रूप में बालक को शिक्षा का केन्द्र माना गया है। अब शिक्षा के समस्त कार्य बालक की रुचियों के अनुसार किये जाते हैं। पाठ्य-क्रम, पाठ्य-विषय, पाठ्य-पुस्तकें इत्यादि उसकी रुचियों तथा प्रवृत्तियों के अनुकूल ही बनाई जाती हैं। वर्तमान युग की शिक्षा में शिक्षक का स्थान गौण समझा जाता है। अब शिक्षक से यह आशा की जाती है कि वह बालक को महत्त्व की दृष्टि से देखे और उसे ऐसी शिक्षा दे कि उसका स्वभाविक विकास सम्भव हो सके। इसलिये अब शिक्षक के लिये बालक की रुचियों प्रवृत्तियों तथा योग्यताओं का अध्ययन करना अपेक्षित है। बिना इनके अध्ययन के बालक को समुचित शिक्षा का प्रबन्ध नहीं किया जा सकता। अतः शिक्षा के नवीन दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा की प्रक्रिया का श्रीगणेश बालक से होता है।

शिक्षा के कार्य

व्यक्ति को शिक्षित करना— अपनी प्रारम्भिक अवस्था में व्यक्ति असभ्य होता है। उसके कार्य तथा आचरण मानव-समाज की सभ्यता के प्रतिकूल होते हैं। शिक्षा उसके आचरण को सुधार कर उसे सभ्य बनाती है। लिखना पढ़ना सिखाती है। लिखने पढ़ने की क्रिया में दक्ष होने पर मनुष्य भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार शिक्षा व्यक्ति के लिये ज्ञान का द्वार खोल देती है। इसी ज्ञान से व्यक्ति वातावरण को अपने अनुकूल बनाता है, परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करता है और अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करता है। शिक्षा व्यक्ति को उस सम्पूर्ण ज्ञान-राशि से परिचित कराती है जो अब तक मानव जाति ने संचित की है और जो उसकी सभ्यता तथा संस्कृति का आधार है। इस प्रकार शिक्षा द्वारा व्यक्ति मानव-सभ्यता तथा संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करता है। शिक्षित व्यक्ति का सभी स्थानों [illegible] होता है। शिक्षित व्यक्ति के अनुपात में ही राष्ट्र की उन्नति तथा प्रगति [illegible] जाती है।

[illegible] का विकास— शिक्षा व्यक्ति के विकास में सहायक होती है। उसकी

प्राकृतिक शक्तियों का विकास करती है और योग्यताओं को बढ़ाती है। उसको विद्वान् तथा चरित्रवान् बनाती है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति अच्छी आदतों, गुणों तथा भावनाओं को ग्रहण करता है। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री फ्रोबैल का कहना है कि आन्तरिक शक्तियों का विकास ही शिक्षा है। शिक्षा के अभाव में ये शक्तियाँ अविकसित रह जाती हैं। वास्तव में शिक्षा ही विकास है। शिक्षा ही जीवन है और जीवन मानव का क्रमिक विकास है।

भावी जीवन की तैयारी–शिक्षा बालक को भावी जीवन के लिये तैयार करती है। शिक्षा व्यक्ति को इस योग्य बनाती है कि वह अपने तथा अपने आश्रितों के लिए रोटी, कपड़ा तथा रहने के स्थान का प्रबन्ध कर सके। शिक्षा व्यक्ति को भिन्न-भिन्न व्यवसायों की शिक्षा देती है और व्यक्ति इन्हीं व्यवसायों द्वारा जीविकार्जन करते हैं। प्रायः अशिक्षित व्यक्तियों को जीविकार्जन में बड़ी कठिनाई होती है। यदि वह व्यापारी न हुआ तो सदैव आर्थिक संकटों से घिरा रहता है। ऐसे व्यक्ति का समाज में शिक्षित तथा व्यवसायी व्यक्तियों की अपेक्षा कम आदर होता है। समाज के कुछ लोग शिक्षा को अपने जीवन का व्यवसाय बना लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा मनुष्य को किसी न किसी व्यवसाय के लिये तैयार कर देती है जिससे वह अपने जीवन की अनेकानेक आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है।

सामाजिक भावना की जागृति—शिक्षा का एक सामाजिक कार्य भी है जो स्कूल द्वारा पूर्ण होता है। स्कूल द्वारा बालक के मन में ऐसे संस्कार पड़ते हैं जो समाज में एक प्रगतिशील जीवन बिताने के लिये आवश्यक होते हैं। शिक्षा द्वारा उन परिस्थितियों को प्रस्तुत किया जाता है जिनके प्रभाव के फलस्वरूप बालक में सामाजिक भावना का विकास होता है अर्थात् उसकी सामाजिक चेतना जाग्रत होती है। कक्षा के सामाजिक कार्यों में भाग लेने से बालक के हृदय में सहयोगिता, सहानुभूति, सहनशीलता तथा सहृदयता आदि गुणों का विकास होता है। इन गुणों के विकास से बालक दूसरों के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति का व्यवहार करता है और दूसरों के साथ मिलकर अपने आपको समाजोपयोगी कार्यों में लगाता है। समाज की उन्नति तभी समझी जाती है जब उसका प्रत्येक प्राणी सुखी हो। जब समाज के प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति होती है तो समाज स्वयं उन्नत हो जाता है। शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति करने का अवसर प्रदान करती है और उनमें ऐसी क्षमता उत्पन्न करती है जिससे वह समाज का हित कर सके। रूसो का कथन है कि बालक को रहन-सहन, विचार, परम्परा आदि जो एक समाज अथवा जाति के वातावरण हुए हैं, ग्रहण करने के लिये शिक्षा की आवश्यकता होती है। शिक्षा समाज के अतीत काल से बालक को परिचित कराती है जिससे बालक सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक परम्परा की रक्षा कर सके और उसके विकास में अपना योग दे सके।

इस प्रकार शिक्षा व्यक्ति को समाज के दिये हुए अधिकारों का समुचित उपयोग सिखाती है और उसे समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिये प्रेरित करती है।

नैतिक गुणों का विकास-शिक्षा व्यक्ति के मन में वे भावनाएँ उत्पन्न करती है जिनका नैतिकता से सम्बन्ध है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति अपने भीतर विभिन्न गुणों जैसे सत्य, प्रेम, सद्भावना, त्याग, अहिंसा आदि उत्पन्न करता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति चिरन्तन सत्यों तथा मूल्यों की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। इनकी प्राप्ति से व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास होता है जिससे उसे सुख, शान्ति तथा आनन्द मिलता है। सुख और शान्ति के काल में कला और साहित्य का सृजन होता है। इस प्रकार शिक्षा मानव-जाति के सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक विकास में सहायक होती है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति अपने आदर्शों को निश्चित करने तथा उनकी प्राप्ति के लिये उचित मार्ग का अनुसरण करने में समर्थ होता है।

प्रश्न

१. शिक्षा की परिभाषा और उसका क्षेत्र बतलाइए।

२. व्यापक अर्थ में शिक्षा से आप क्या समझते हैं? शिक्षा और निर्देशन के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

३. अनियमित शिक्षा (Informal Education) क्या है इस शिक्षा की प्रधान एजेन्सियाँ कौन कौन सी हैं?

४. शिक्षा के रूप, अङ्ग तथा कार्य का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

५. "Education is a natural, harmonious and progressive development of man's innate powers."— इस कथन की समालोचना कीजिए।

६. शिक्षा के अर्थ की विवेचना कीजिए और एक स्वतन्त्र प्रजातन्त्र देश के दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या कीजिए तथा उसका महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

दूसरा अध्याय

शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा के अर्थ समझ लेने के पश्चात् हमारे लिये यह अपेक्षित है कि हम शिक्षा के उद्देश्यों को भी भली प्रकार समझ लें, क्योंकि बिना उद्देश्यों के समझे हुए हम शिक्षण कार्य का सचालन ठीक ठीक नहीं कर सकते। किसी ने सत्य ही कहा है कि उद्देश्य के ज्ञान के बिना शिक्षक उस नाविक के समान है जिसे अपने लक्ष्य का ज्ञान नही तथा उसके शिक्षार्थी उस पतवार-विहीन नौका के समान हैं जो समुद्र की लहरो के थपेड़े खाती तट की ओर बहती जा रही है। इसके अतिरिक्त उद्देश्य सामने होने पर मनुष्य मे कार्य करने की अपूर्व शक्ति उत्पन्न हो जाती है और वह बडे उत्साह से कार्य करता है। उद्देश्य-रहित कार्य मे किसी का मन नही लगता। उद्देश्य रहित शिक्षा फलदायी भी नही होती। वर्तमान भारतीय शिक्षा इसीलिये दोषपूर्ण है कि उसका कोई भी निश्चित उद्देश्य नही।

देश, काल तथा जीवन के आदर्शानुसार शिक्षा के उद्देश्य सदैव बदलते रहे है। किस काल मे कौन सा उद्देश्य था इसकी चर्चा इस पुस्तक के क्षेत्र के बाहर है। अत. इसकी चर्चा न करके हम केवल उन विचारो का उल्लेख करेंगे जिन्होंने समय समय पर शिक्षा के उद्देश्यों पर प्रभाव डाला है अथवा जिसके आधार पर शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित किये गये है। केवल शिक्षक को छोड़कर लगभग सभी प्रकार के मनुष्यों ने शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करने का प्रयत्न किया है। माता-पिता, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, शासक तथा समाज के अन्य प्रकार के विचारकों और आदर्शवादियो ने अपने-अपने मतानुसार शिक्षा के उद्देश्य बताये हैं। जिस व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति रहा है उसने शिक्षा मे चरित्र-गठन तथा नैतिक विकास को मुख्य स्थान दिया है; और जिस व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य बाह्य जगत की पूर्णता रहा उसने शिक्षा का एकमात्र लक्ष्य जीवन को सुखी बनाना माना है। इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों ने अपने-अपने आदर्शानुसार शिक्षा के भिन्न-भिन्न उद्देश्य बतलाये है। जीवन के आदर्शों के अतिरिक्त देश और काल ने भी शिक्षा के उद्देश्यो को प्रभावित किया है। जिस देश मे जैसा वातावरण रहता है उसी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बन जाता है। जिस देश के व्यक्ति प्रजातन्त्रवाद के भक्त हैं वहा की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों को उत्तम नागरिक बनाना है। जहां समाजवाद फैला हुआ है वहां की शिक्षा का लक्ष्य ऐसे व्यक्ति तैयार करना है जो समाज-हित के सामने व्यक्तिगत लाभ को छोड़ दें। जिस देश मे एकसत्तावाद का बोलबाला है वहा की शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नागरिक तैयार करना है जो शासकों के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखें और उनकी आज्ञा मानने को सदैव तैयार रहें। और जिस राष्ट्र का कोई लक्ष्य नहीं होता

वहां की शिक्षा का भी कोई उद्देश्य नहीं होता। इस प्रकार देश काल तथा आदर्शा-नुसार शिक्षा के अनेक उद्देश्य हैं। अब यदि हम अपनी शिक्षा का उद्देश्य निश्चित करना चाहते हैं तो हमारे लिए यह अपेक्षित है कि हम शिक्षा के भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से परिचित हो जायें। अतः अब हम शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों का विवेचन करेंगे।

जीविकोपार्जन का उद्देश्य (Vocational Aim of Education)

जीवन में आजीविका कमाने की समस्या सबसे जटिल होती है। समस्या को हल करने के लिए प्रत्येक मनुष्य हर समय प्रयत्नशील रहता है। वह किसी न किसी व्यवसाय में लगा ही रहता है जिससे वह स्वयं अपने लिए तथा अपने आश्रितों के लिये रोटी कपड़ा तथा घर का प्रबन्ध कर सके। जीविकोपार्जन के हेतु ही वह शिक्षा प्राप्त करता है क्योंकि शिक्षा द्वारा इस समस्या को सुविधापूर्वक सुलझाया जा सकता है। शिक्षा हमें डाक्टर वकील, मास्टर, इंजीनियर, क्लर्क आदि बनाकर जीविकोपार्जन के लिए तैयार कर देती है। दूसरे शब्दों में शिक्षा द्वारा मनुष्य किसी न किसी व्यवसाय को सीख कर अपनी आजीविका कमाता है, अपने पैरों पर खड़ा होता है और अपने आश्रितों का पालन करता है। जीविकोपार्जन का ही उद्देश्य सामने रख कर वह शिक्षा प्राप्त करता है और अपने कार्य में सदा क्रियाशील रहता है। सर्व-साधारण की धारणा है कि जो शिक्षा बालकों को जीविकोपार्जन के लिये तैयार नहीं करती वह व्यर्थ है। इसी उद्देश्य को सामने रख कर माता-पिता अपने बालकों को विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने भेजते हैं और आशा करते हैं कि विद्यालय से निकल कर वे तुरन्त ही रुपया कमाने लग जायेंगे और अपना जीवन सुखपूर्वक बिता सकेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि लगभग सभी व्यक्तियों ने शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को जीविकोपार्जन में सहायता प्रदान करना माना है। चूंकि शिक्षा रुपया कमाने में सहायता करती है और रुपया होने पर ही व्यक्ति भली भांति खा-पी सकता है इसलिये इस उद्देश्य को 'दाल-रोटी' (Bread and Butter aim) का उद्देश्य भी कहा गया है। कुछ अन्य देशों में यह उद्देश्य 'ब्लू जैकिट' (Blue Jacket Aim) और 'ह्वाइट कालर' (White Collar Aim) उद्देश्य के नाम से प्रसिद्ध है।

उक्त उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में बड़ा महत्वपूर्ण तथा उपयोगी माना जाता है क्योंकि शिक्षा द्वारा मनुष्य अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेता है। पचहत्तर प्रतिशत व्यक्ति अपने बच्चों को इसीलिये स्कूल भेजते हैं। परन्तु क्या [illegible] का यही एकमात्र उद्देश्य है? यदि शिक्षा का उद्देश्य जीवन के लक्ष्य पर निर्भर [illegible]। जीवन का लक्ष्य केवल रोटी कमाना और पेट भरना है? पेट तो पशु भी किसी प्रकार भर लेते हैं। यदि पेट भरना ही लक्ष्य है तो पशु और मनुष्य [illegible] कोई भेद नहीं रहता। जीवन में केवल रोटी कमाना सब कुछ नहीं है। रोटी कमाने से जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती जीविको-

पार्जन के अतिरिक्त जीवन के अन्य कई पहलू हैं। जीवन का आदर्श तो कहीं अधिक ऊँचा है। हमारे पूर्वजों ने जीवन का लक्ष्य चार पुरुषार्थों अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति बताया है। जीविकोपार्जन के उद्देश्य को मान कर शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति को भला इन पुरुषार्थों की प्राप्ति कैसे हो सकती है? वह संसार के समस्त भौतिक सुख भले ही प्राप्त कर ले किन्तु उसका आध्यात्मिक तथा नैतिक विकास होना असम्भव है। मनुष्य जीवन को पूर्ण रूप से सफल बनाने के लिये व्यक्ति का मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास परमावश्यक है। फिर शिक्षा में जीविकोपार्जन का उद्देश्य कैसे माना जा सकता है?

इसके अतिरिक्त यदि दाल-रोटी के उद्देश्य को स्वीकार भी कर लिया जाय तो शिक्षा स्वयं साध्य न रह कर साधन बन जाती है। शिक्षा को एक साधन मान लेना उसे सर्वथा महत्वहीन बना देना है। किसी विद्वान ने सत्य कहा है, 'शिक्षा-शिक्षा के लिए है।' अतएव यह स्पष्ट है कि शिक्षा का महत्व स्वयं अपने में भी बहुत कुछ है।

जीविकोपार्जन के उद्देश्य को स्वीकार करने वालों का मत है कि इससे व्यक्ति तथा राष्ट्र की उन्नति होती है। कुछ सीमा तक उनका कथन सत्य है। व्यक्ति की उन्नति राष्ट्र की उन्नति है। इससे मनुष्य धनवान और समृद्धिशाली हो जाते हैं। राष्ट्र की व्यवसायिक तथा औद्योगिक उन्नति होती है। परन्तु जीविकोपार्जन का उद्देश्य स्वीकार करने वाले व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि इससे व्यक्तियों में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता, स्पर्धा तथा द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है और मानवीय गुण लुप्त हो जाते हैं। इससे राष्ट्र का बड़ा अहित होता है। इसलिये शिक्षा के उद्देश्य में उन बातों का भी समावेश होना चाहिये जिनसे मनुष्य में मानवीय गुणों का विकास हो और वह एक उत्तम नागरिक बन सके।

इस उद्देश्य के विरोधियों का कथन है कि अच्छी शिक्षा वह है जो मनुष्य को अवकाश के समय का सदुपयोग करना सिखादे। अपने खाली समय को उपयोग में लाना उतना ही आवश्यक है, जितना वह ज्ञान जिसके द्वारा हम जीविकोपार्जन करते हैं। उनके अनुसार रोटी कमाने के काम से फुर्सत पाकर मनुष्य क्या करता है यह उसकी शिक्षा पर निर्भर है। यदि एक मनुष्य काम से फुर्सत पाकर चोरी करता है, जुआ खेलता है अथवा ऐसी ही असंगत क्रियायें करता है तो उसकी शिक्षा संकुचित सीमित और एकांगी है। शिक्षा तो ऐसी होनी चाहिये जो मनुष्य को उचित आमोद-प्रमोद तथा अवकाश में समय का सदुपयोग करने के लिये तैयार करे। इसके अतिरिक्त आजीविका कमाने के चक्कर में पड़े रह कर हम संगीत, कला तथा साहित्य से भी कोई लाभ नहीं उठा सकते। और यदि हम इनसे दूर रहेंगे तो इनका विकास रुक जायगा; हमारा जीवन नीरस तथा गतिहीन हो जायगा। अवकाश काल के सदुपयोग

वहां की शिक्षा का भी कोई उद्देश्य नहीं होता। इस प्रकार देश काल तथा आदर्शानुसार शिक्षा के अनेक उद्देश्य हैं। अब यदि हम अपनी शिक्षा का उद्देश्य निश्चित करना चाहते हैं तो हमारे लिए यह अपेक्षित है कि हम शिक्षा के भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से परिचित हो जावें। अतः अब हम शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों का विवेचन करेंगे।

जीविकोपार्जन का उद्देश्य (Vocational Aim of Education)

जीवन में आजीविका कमाने की समस्या सबसे जटिल होती है। समस्या को हल करने के लिए प्रत्येक मनुष्य हर समय प्रयत्नशील रहता है। वह किसी न किसी व्यवसाय में लगा ही रहता है जिससे वह स्वयं अपने लिए तथा अपने आश्रितों के लिये रोटी कपड़ा तथा घर का प्रबन्ध कर सके। जीविकोपार्जन के हेतु ही वह शिक्षा प्राप्त करता है क्योंकि शिक्षा द्वारा इस समस्या को सुविधापूर्वक सुलझाया जा सकता है। शिक्षा हमें डाक्टर, वकील, मास्टर, इन्जीनियर, क्लर्क आदि बनाकर जीविकोपार्जन के लिए तैयार कर देती है। दूसरे शब्दों में शिक्षा द्वारा मनुष्य किसी न किसी व्यवसाय को सीख कर अपनी आजीविका कमाता है, अपने पैरों पर खड़ा होता है और अपने आश्रितों का पालन करता है। जीविकोपार्जन का ही उद्देश्य सामने रख कर वह शिक्षा प्राप्त करता है और अपने कार्य में सदा क्रियाशील रहता है। सर्वसाधारण की धारणा है कि जो शिक्षा बालकों को जीविकोपार्जन के लिये तैयार नहीं करती वह व्यर्थ है। इसी उद्देश्य को सामने रख कर माता-पिता अपने बालकों को विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने भेजते हैं और आशा करते हैं कि विद्यालय से निकल कर वे तुरन्त ही रुपया कमाने लग जावेंगे और अपना जीवन सुखपूर्वक बिता सकेंगे कहने का तात्पर्य यह है कि लगभग सभी व्यक्तियों ने शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को जीविकोपार्जन में सहायता प्रदान करना माना है। चूंकि शिक्षा रुपया कमाने में सहायता करती है और रुपया होने पर ही व्यक्ति सभी भांति आनन्दी बनता है इस लिये इस उद्देश्य को 'दाल-रोटी' (Bread and Butter aim) का उद्देश्य भी कहा गया है। कुछ अन्य देशों में यह उद्देश्य 'ब्लू जैकेट' (Blue Jacket Aim) और 'ह्वाइट कालर' (White Collar Aim) उद्देश्य के नाम से प्रसिद्ध है।

उक्त उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी माना जाता है क्योंकि शिक्षा द्वारा मनुष्य अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेता है। फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपने बच्चों को इसीलिये स्कूल भेजते हैं। परन्तु क्या शिक्षा का यही एक मात्र उद्देश्य है? यदि शिक्षा का उद्देश्य जीवन के स्तर पर निर्भर है तो क्या जीवन का लक्ष्य केवल रोटी कमाना और पेट भरना है? पेट तो पशु भी किसी न किसी प्रकार भर लेते हैं। यदि पेट भरना ही लक्ष्य है तो पशु और मनुष्य जीवन में कोई भेद नहीं रहता। जीवन में केवल रोटी कमाना सब कुछ नहीं है। केवल रोटी कमाने से जीवन की समस्त आवश्यक आशाओं की पूर्ति नहीं होती और

द्देश्य को मानने वाले मनुष्य बालकों को पुस्तकों से लाद देते हैं और उन्हें महा-
पण्डित बनाने का प्रयत्न करते हैं। बिना समझे पुस्तकीय ज्ञान को रट लेने के लिए
उन्हें बाध्य करते हैं। ऐसे व्यक्ति इस बात की चिन्ता नहीं करते कि अमुक विषय
के अध्ययन में बालक की रुचि है या नहीं। अमुक विषय उसके लिये उपयोगी है
अथवा नहीं। उनका लक्ष्य तो बालकों में ज्ञान भर देना है, चाहे बालक उस ज्ञान
को समझे या न समझे। इस प्रकार की विचारधारा ने स्कूलों को सूचना-गृह तथा
अध्यापकों को सूचना के व्यापारी बना दिया है। स्कूलों में बालकों को वास्तविक
ज्ञान की अपेक्षा केवल सूचनाएं मिलती हैं। इस प्रकार के ज्ञान से बालकों को कोई
लाभ नहीं होता। वे ज्ञान के भण्डार तो हो जाते हैं किन्तु संचित ज्ञान का सदुपयोग
नहीं कर पाते। ऐसा ज्ञान थोथा ज्ञान है। ज्ञान तो ऐसा होना चाहिये जो बालक
को भविष्य में आने वाली समस्याओं को सुलझाने में तथा जीवन की कठिनाइयों को
दूर करने में सहायक हो। इसीलिये कहा गया है कि शिक्षा बालक को भावी जीवन
के लिये तैयार करती है। अतः यह स्पष्ट है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल कोरे ज्ञान
को संचय कर लेना नहीं वरन् संचित किये हुए ज्ञान को जीवन के लिये उपयोगी
बनाना है। ज्ञान स्वयं उद्देश्य नहीं वरन् किसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन है।
अतएव कोरा ज्ञानार्जन शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं माना जा सकता। इस
उद्देश्य को मानकर चलना जीवन को संकीर्ण बना देना है।

मानसिक विकास

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य को केवल ज्ञानार्जन ही नहीं करना है वरन्
अर्जित ज्ञान को व्यवहार में भी लाना है। यह तभी सम्भव है जब बालक ज्ञान को
स्वयं खोज कर निकालता है और उसे अपने मस्तिष्क का एक अङ्ग बना लेता है।
जब अर्जित ज्ञान मस्तिष्क का एक अङ्ग बन जाता है तो बालक समय और परिस्थिति
के अनुसार उसी अर्जित ज्ञान के आधार पर व्यवहार करता है अर्थात् वह बुद्धि और
विवेक से काम लेता है। जीवन में बुद्धि का महत्व किसी से छिपा नहीं है। बुद्धिमान
व्यक्ति का सर्वत्र आदर होता है। मनुष्य उसे सुनने के लिये सदा इच्छुक रहते हैं।
बुद्धि के महत्व से प्रभावित होकर कुछ शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षा में कोरे ज्ञानार्जन
के स्थान पर 'मानसिक विकास' का उद्देश्य अधिक उपयोगी माना है।

मानसिक विकास का तात्पर्य मस्तिष्क की समस्त शक्तियों जैसे, विचार शक्ति,
कल्पना शक्ति, स्मरण शक्ति इत्यादि के विकास से है। दूसरे शब्दों में शिक्षा का
उद्देश्य मनुष्य की विचार शक्ति को पुष्ट बनाना तथा उसकी बुद्धि को तीक्ष्ण तथा
व्यावहारिकता प्रदान करना है। शिक्षा का यह उद्देश्य कोरे ज्ञानार्जन की अपेक्षा
अधिक मान्य है, क्योंकि मानसिक विकास होने पर मनुष्य अपनी शिक्षा तथा ज्ञान का
उचित उपयोग कर सकता है। ज्ञान सैद्धान्तिक न रह कर व्यावहारिक बन जाता

से ही ललित कला, संगीत, साहित्य तथा विज्ञान की उन्नति होती है। मनुष्य जीविकोपार्जन के कार्यों के अतिरिक्त अन्य दिशाओं में भी क्रियाशील रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि जीविकोपार्जन शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं माना जा सकता।

बौद्धिक विकास का उद्देश्य (Mental Development Aim)

इस उद्देश्य के दो पहलू हैं। इन दोनों पहलुओं को समझ लेना आवश्यक है। ये पहलू इस प्रकार हैं:—

(१) शिक्षा के लिये शिक्षा।

(२) मानसिक विकास के लिए शिक्षा।

शिक्षा के लिये शिक्षा (Knowledge Aim)

कुछ विद्वानों ने शिक्षा का उद्देश्य 'विद्या के लिए विद्या' (Knowledge for knowledge sake) माना है। शिक्षा का यह उद्देश्य प्राचीन काल से ही प्रमुख रहा है। विद्या ग्रहण करने की क्रिया आदि काल से चली आ रही है। शिक्षा द्वारा मनुष्य कुछ न कुछ सीखता आया है। पाठशाला में बालक कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही जाता है। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री कोमेनीयस (Comenius) शिक्षा के इस उद्देश्य से सहमत था। उसका कथन था कि आदर्श स्कूल का सबसे उत्तम कार्य दूसरों को ज्ञान देना है। शिक्षक के नाते हम सब का यह कर्तव्य है कि हम सब बालक को ज्ञान दें। यदि बालक भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तो शिक्षक का कर्तव्य पूरा हो जाता है। इस उद्देश्य को मान कर चलने वाले व्यक्ति बालकों को पुस्तकों से लाद देते हैं और उन्हें प्रत्येक विषय का पण्डित बनाने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। उनके विचार में जिस शिक्षा द्वारा मनुष्य ज्ञान संचय न कर सके वह निरर्थक है। अतः अधिकतर लोगों ने ज्ञानार्जन ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य माना है। ज्ञान प्राप्त करना और प्राप्त किये हुए ज्ञान को दूसरों तक पहुंचाना—यही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। यह उद्देश्य जीविकोपार्जन के उद्देश्य का बिल्कुल उल्टा है। जहां जीविकोपार्जन का उद्देश्य सांसारिक सुख तथा सम्पत्ति को बढ़ाना है वहां यह बुद्धि की सम्पत्ति को। इस प्रकार यह उद्देश्य ज्ञान-संचय अर्थात् मस्तिष्क श्रम पर जोर देता है।

ज्ञानार्जन के उद्देश्य को स्वीकार करने वाले व्यक्ति ज्ञानार्जन का बड़ा ही संकुचित अर्थ लगाते हैं। उनका कथन है कि 'उस वस्तु का ज्ञान जो हमारे सामने और निकट है, जो हमारे अनुभव, रुचि और प्रवृत्तियों के अनुकूल है, वह विद्या नहीं है। विद्या वह ज्ञान है, जिसको केवल विद्वान ही जानते हैं।' ऐसे व्यक्ति ज्ञान को साधारण अनुभव से अलग समझते हैं। इस प्रकार की भावना को 'मस्तिष्क की कुमारगी' (Cult of the Head) कहा गया है। ऊपर कहा जा चुका है कि इस

प्लेटो ने शारीरिक शिक्षा को अपनी योजना में प्रमुख स्थान दिया है। शारीरिक विकास के उद्देश्य से प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री रूसो भी सहमत था। रूसो का कथन था कि बालक के लिये प्रारम्भ मे खेल-कूद तथा व्यायाम का प्रबन्ध होना चाहिये जिससे उसकी शारीरिक शक्तियों का विकास हो और वह पूर्ण रूप से स्वस्थ हो जाय। मनुष्य के लिये स्वस्थ होना परमावश्यक है। यदि वह स्वस्थ नहीं है तो वह अपने कार्य में सफल न हो सकेगा, क्योंकि शारीरिक शक्ति से ही व्यक्ति स्फूर्तिमान तथा क्रियाशील रहता है। 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क वास करता है।' अस्वस्थ शरीर मानसिक व्याधियों का घर है। मानसिक विकास शारीरिक विकास पर निर्भर रहता है। शारीरिक विकास से व्यक्ति को शक्ति और बल मिलता है, उसमें उत्साह की वृद्धि होती है और उसके चारित्रिक गुणों का विकास होता है। शक्तिशाली व्यक्तियों से राष्ट्र को भी बल मिलता है। यदि राष्ट्र के नागरिक बलहीन होते हैं तो राष्ट्र भी शक्तिहीन हो जाता है। अतएव शिक्षा में शक्तिवर्द्धन तथा शारीरिक विकास का उद्देश्य व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के लिये हितकर है शारीरिक विकास के और भी कितने ही लाभ है किन्तु उन सबका यहाँ पर उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। पाठक उनसे भली-भांति परिचित है। अतएव यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि शारीरिक विकास का उद्देश्य शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है।

किन्तु, केवल शारीरिक विकास को ही शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य मानकर चलना शिक्षा को एकांगी बना देता है। बालक की दूसरी शक्तियों का विकास रोककर केवल उसकी शारीरिक शक्ति का विकास करना अनुचित है। अब संसार के समस्त शिक्षा-शास्त्री इस बात पर सहमत हैं कि बालक की समस्त शक्तियों का विकास होना चाहिये, केवल शारीरिक शक्ति का नहीं। विशेष रूप से बालक की मानसिक शक्तियों का विकास उतना ही आवश्यक है जितना शारीरिक शक्ति का। इन दोनों शक्तियों के विकास में एक प्रकार का सामंजस्य होना चाहिये। केवल एक पर ही बल देना हानिकारक है।

इसके अतिरिक्त केवल शक्ति, धन और पौरुष को प्राप्त करना जीवन का उद्देश्य नहीं है। यदि शिक्षा का उद्देश्य जीवन के आदर्श अथवा लक्ष्य को प्राप्त करना है तो शिक्षा में शारीरिक विकास का उद्देश्य एकमात्र उद्देश्य कैसे माना जा सकता है। शारीरिक शक्ति की वृद्धि पर आवश्यकता से अधिक बल देने से मनुष्य में पाशविक वृत्तियाँ उत्पन्न हो सकती है। इन वृत्तियों के उत्पन्न होने से मनुष्य में मानवीय गुणों का लोप हो जाना सम्भव है मानवीय गुणों के लोप होने पर मनुष्य बड़ा क्रूर और चरित्रहीन हो जाता है। यदि शारीरिक शक्ति की वृद्धि करने में हमने अपना चरित्र खो दिया तो हमारा जीवन व्यर्थ है, क्योंकि चरित्र ही सबसे अधिक मूल्यवान

है और आवश्यकता पड़ने पर मनुष्य के काम आ सकता है। मानसिक विकास होने पर मनुष्य किसी भी कार्य को बिना सोचे समझे नहीं करता। इससे उसे तथा समाज को हानि होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। अतः ऐसा व्यक्ति समाज का एक उपयोगी अङ्ग बन जाता है। समाज में उसका सम्मान होता है। मानसिक विकास द्वारा वैयक्तिक तथा चारित्रिक विकास भी सम्भव है। निस्सन्देह, कोरे ज्ञानार्जन की अपेक्षा मानसिक विकास का उद्देश्य अधिक मान्य है।

मानसिक विकास का उद्देश्य शिक्षा का एक उत्तम उद्देश्य तो माना जा सकता है, किन्तु उसे शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य मान लेने में अधिक कठनाइयां हैं। प्रथम तो शारीरिक विकास भी बालक के लिये उतना ही आवश्यक है जितना मानसिक विकास। किसी ने सत्य कहा है कि 'स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर' (A sound mind in a sound body) में ही हो सकता है। अतः मानसिक विकास के साथ साथ शारीरिक विकास भी होना चाहिये। कुछ लोगों का विचार है कि मानसिक विकास स्वस्थ शरीर पर ही निर्भर है। अतएव बालक का पहले शारीरिक विकास होना चाहिये। दूसरे, केवल विकसित मस्तिष्क को लेकर कोई भी मनुष्य जीवन में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। प्रायः ऐसा देखा गया है कि जिस मनुष्य का मानसिक विकास अधिक मात्रा में होता है वह जीवन की अन्य बातों में कोरा रह जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह अपने जीवन में असफल रहता है। जीवन में वही मनुष्य सफल होता है जिसका सर्वाङ्गीण विकास होता है अर्थात जिसे जीवन के सभी अङ्गों की शिक्षा मिलती है। अतः हमें व्यक्ति के केवल मानसिक क्षेत्र को ही शिक्षित नहीं करना वरन् उसके जीवन के सभी अङ्गों को शिक्षित करना है केवल मानसिक पक्ष को आवश्यकता से अधिक महत्व देने से जीवन के नैतिक तथा आध्यात्मिक पहलू बिल्कुल छूट जाते हैं और शिक्षा का कार्य-क्षेत्र संकुचित और अपूर्ण रह जाता है। तीसरे, मानसिक उद्देश्यों से मन को तो भोजन मिल जाता है किन्तु पेट खाली रह जाता है। इस लिए हमारी शिक्षा तो ऐसी होनी चाहिये जो हमें अपनी आजीविका कमाने के योग्य बना दे। इस प्रकार अब हम यह कह सकते हैं कि मानसिक विकास शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं माना जा सकता।

शारीरिक विकास का उद्देश्य (Physical Development Aim)

बहुत से व्यक्तियों ने शिक्षा का सर्वोत्तम उद्देश्य शारीरिक विकास माना है। इस उद्देश्य के अनुयाइयों का विचार है कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे बालक का शरीर स्वस्थ, स्वच्छ तथा बलवान हो। यदि हम अपने प्राचीन काल पर दृष्टिपात करें तो हमें मालूम होगा कि प्राचीन काल की शिक्षा में शारीरिक विकास पर अधिक बल दिया जाता था। ग्रीस के प्राचीन राज्य स्पार्टा की शिक्षा में शारीरिक विकास का उद्देश्य मुख्य था, फलतः वहां के योद्धा अपने बल तथा पौरुष के लिये विख्यात थे।

देने मे बालकों की रुचियों तथा प्रवृत्तियों की अवहेलना करनी होगी। उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कुछ प्रतिबन्ध लगाना होगा। यदि शिक्षा मे व्यक्तिगत रुचि, प्रकृति तथा स्वतन्त्रता का ध्यान न रखा जायगा तो शिक्षा अमनोवैज्ञानिक तथा अनुचित होगी। इसके अतिरिक्त यदि हम सभी बालकों को एक ही सांस्कृतिक नमूने मे ढालेंगे तो हमारा सांस्कृतिक विकास रुक जायगा। चौथे, सांस्कृतिक उन्नयन का उद्देश्य एकांगी है। बालक को केवल साहित्य, संगीत तथा कला की ही शिक्षा देना पर्याप्त नहीं। इस प्रकार की शिक्षा से वह भले ही अपना अवकाश काल बड़े आनन्द से काट लें, किन्तु वह अपनी दाल-रोटी की समस्या को हल न कर सकेगा। बालक की शिक्षा तो ऐसी होनी चाहिए जो जीविकोपार्जन मे सहायक हो। उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सांस्कृतिक उद्देश्य भले ही शिक्षा का एक उत्तम उद्देश्य हो किन्तु वह सर्वमान्य तथा सर्वोत्तम उद्देश्य नहीं हो सकता।

चरित्र निर्माण का उद्देश्य
(Character Development Aim)

अनेक शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य चरित्र का निर्माण करना है। उनके कथनानुसार शिक्षा का आदर्श शारीरिक बल बढ़ाना या ज्ञानार्जन करना नहीं किन्तु सुदृढ़ और सुन्दर चरित्र का गठन है। उनके मतानुसार मानव जीवन की समस्त कठिनाइयों, कष्टों तथा पतन का एकमात्र कारण चरित्रहीनता है। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री श्री राधाकृष्णन का कथन है कि 'भारत सहित सारे विश्व के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा केवल मस्तिष्क के विकास तक परिमित रह गई है। उसमें धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश नहीं है"। (The troubles of the whole world including India are due to the fact that education has become a mere intellectual exercise and not the acquisition of moral and spirtiual values) अतः शिक्षा में नैतिकता तथा धर्म का समावेश होना चाहिए क्योंकि नैतिक तथा धार्मिक भावना ही चरित्र-निर्माण में सहायक होती है। बालकों की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो उनके चरित्र को दृढ़ और पवित्र बनाये और उनका आचरण सुधारे। मानव जीवन मे चरित्र का अपना महत्व है। चरित्र के कारण ही मनुष्य मनुष्य समझा जाता है। सुन्दर आचरण ही मनुष्य और पशु का अन्तर बतलाता है। चरित्रवान् मनुष्य का प्रत्येक व्यक्ति आदर करता है। सच्चरित्र मनुष्य अपने जीवन मे सफलता प्राप्त करता है। वह अपने चरित्रबल से अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। इस प्रकार मानव-जीवन मे चरित्र का महत्व सर्वमान्य है।

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हरबार्ट ने शिक्षा को मनुष्य के नैतिक विकास का सबसे उत्तम साधन माना है। उनका कहना है कि "गुण" (virtue) शब्द से शिक्षा का

है। अतः चरित्र बल को खोकर शारीरिक बल प्राप्त करना कोई बुद्धिमानी नहीं है। चरित्र खो गया तो सब कुछ खो गया (If character is lost, everything is lost)। उक्त बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि शारीरिक विकास का उद्देश्य शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं माना जा सकता।

सांस्कृतिक उद्देश्य (Cultural Development Aim)

जीविकोपार्जन के उद्देश्य का विरोध करने वालों ने शिक्षा का उद्देश्य सांस्कृतिक उत्थान बतलाया है। सांस्कृतिक उद्देश्य का तात्पर्य है सुसंस्कृति का फैलाना। दूसरे शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सुसंस्कृत और सभ्य बनाना है। इस उद्देश्य के समर्थकों का कहना है कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे मनुष्य सामाजिक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक अनुभव प्राप्त कर सके। जो व्यक्ति कला, साहित्य तथा संगीत इत्यादि में रुचि रखता है वही सभ्य और सुसंस्कृत है। सभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति ही सुशिक्षित माना जाता है। उसका हर स्थान पर आदर होता है। अतः जो शिक्षा व्यक्ति को सुसंस्कृत नहीं बनाती वह व्यर्थ है। शिक्षा द्वारा मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने के लिये कुछ विषयों का अध्ययन आवश्यक समझा जाता रहा है, जैसे इङ्गलैंड में लैटिन तथा फ्रेंच का और भारतवर्ष में प्राचीनकाल में संस्कृत, मध्यकाल में अरबी और फारसी तथा वर्तमानकाल में अङ्गरेजी का। भाषा ज्ञान के अतिरिक्त सुसंस्कृत बनने के लिये व्यक्तियों में कुछ विशेष प्रकार के आचार-विचार, व्यवहार, रहन-सहन, आमोद-प्रमोद का होना आवश्यक समझा गया है। संगीत, कला तथा कविता में रुचि रखना सुसंस्कृत व्यक्ति का एक आवश्यक गुण समझा जाता है। वर्तमान काल मे सिग्रेट पीना, ताश खेलना, शराब पीना, नृत्य करना इत्यादि सुसंस्कृत व्यक्ति के गुण माने जाते हैं। शिक्षा के सांस्कृतिक उद्देश्य को स्वीकार कर लेने का आशय उक्त बातों की शिक्षा देना होगा।

सांस्कृतिक उद्देश्य का आशय समझ लेने के पश्चात् हमें यह मालूम करना है कि क्या यह शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य माना जा सकता है? इसको एकमात्र उद्देश्य मानने में अनेक कठिनाइयां हैं। सर्वप्रथम हम यही निश्चित नहीं कर पाते कि संस्कृति वास्तव में है क्या? 'संस्कृति' शब्द बहु-अर्थी है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने इस शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये हैं। अतः इस शब्द का कोई सुनिश्चित अर्थ नहीं है। ऐसी दशा में किन सांस्कृतिक तत्वों को शिक्षा द्वारा सिखाया जाये यह समस्या उठ खड़ी होती है। इस समस्या को हल करना सरल नहीं। दूसरे, वर्तमान संस्कृति के कुछ तत्वों, जैसे ताश खेलना, शराब पीना इत्यादि की हम शिक्षा नहीं दे सकते क्योंकि चारित्रिक तथा सामाजिक विकास की दृष्टि से इन बातों की शिक्षा व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिये हानिकारक है। तीसरे सभी बालकों को एक सांस्कृतिक रंग में रंगना अप्राकृतिक और अनुचित है। सांस्कृतिक उद्देश्य को ध्यान में रखकर शिक्षा

देने में बालकों की रुचियों तथा प्रवृत्तियों की अवहेलना करनी होगी। उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कुछ प्रतिबन्ध लगाना होगा। यदि शिक्षा में व्यक्तिगत रुचि, प्रकृति तथा स्वतन्त्रता का ध्यान न रखा जायगा तो शिक्षा अमनोवैज्ञानिक तथा अनुचित होगी। इसके अतिरिक्त यदि हम सभी बालकों को एक ही सांस्कृतिक नमूने में ढालेंगे तो हमारा सांस्कृतिक विकास रुक जायगा। चौथे, सांस्कृतिक उन्नयन का उद्देश्य एकांगी है। बालक को केवल साहित्य, संगीत तथा कला की ही शिक्षा देना पर्याप्त नहीं। इस प्रकार की शिक्षा से वह भले ही अपना अवकाश काल बड़े आनन्द से काट ले, किन्तु वह अपनी दाल-रोटी की समस्या को हल न कर सकेगा। बालक की शिक्षा तो ऐसी होनी चाहिए जो जीविकोपार्जन में सहायक हो। उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सांस्कृतिक उद्देश्य भले ही शिक्षा का एक उत्तम उद्देश्य हो किन्तु वह सर्वमान्य तथा सर्वोत्तम उद्देश्य नहीं हो सकता।

चरित्र निर्माण का उद्देश्य
(Character Development Aim)

अनेक शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य चरित्र का निर्माण करना है। उनके कथनानुसार शिक्षा का आदर्श शारीरिक बल बढ़ाना या ज्ञानार्जन करना नहीं किन्तु सुदृढ़ और सुन्दर चरित्र का गठन है। उनके मतानुसार मानव जीवन की समस्त कठिनाइयों, कष्टों तथा पतन का एकमात्र कारण चरित्रहीनता है। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री श्री राधाकृष्णन का कथन है कि 'भारत सहित सारे विश्व के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा केवल मस्तिष्क के विकास तक परिमित रह गई है। उसमें धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश नहीं है"। (The troubles of the whole world including India are due to the fact that education has become a mere intellectual exercise and not the acquisition of moral and spirtiual values) अतः शिक्षा में नैतिकता तथा धर्म का समावेश होना चाहिए क्योंकि नैतिक तथा धार्मिक भावना ही चरित्र-निर्माण में सहायक होती है। बालकों की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो उनके चरित्र को दृढ़ और पवित्र बनाये और उनका आचरण सुधारे। मानव जीवन में चरित्र का अपना महत्त्व है। चरित्र के कारण ही मनुष्य मनुष्य समझा जाता है। सुन्दर आचरण ही मनुष्य और पशु का अन्तर बतलाता है। चरित्रवान् मनुष्य का प्रत्येक व्यक्ति आदर करता है। सच्चरित्र मनुष्य अपने जीवन में सफलता प्राप्त करता है। वह अपने चरित्रबल से अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। इस प्रकार मानव-जीवन में चरित्र का महत्त्व सर्वमान्य है।

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हरबार्ट ने शिक्षा को मनुष्य के नैतिक विकास का सबसे उत्तम साधन माना है। उनका कहना है कि "गुण" (virtue) शब्द से शिक्षा का

पूर्ण उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। हरबार्ट का कथन है कि मनुष्य अपनी मूल-प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर ऐसा आचरण करता है जो समाज के लिये अहितकर होता है, अतः मनुष्य का आचरण सुन्दर बनाना शिक्षा का परम उद्देश्य है। शिक्षा का लक्ष्य है मनुष्य की उन प्रवृत्तियों को सुधारना जो पशुवत् होती हैं। शिक्षा बुद्धि के द्वारा बुरी प्रवृत्तियों को क्षीण करती है। मनुष्य सदाचारी पैदा नहीं होता। परन्तु उसके अच्छे विचार तथा इच्छाएं उसकी दुराचारी प्रवृत्तियों को दबाये रहती हैं। इस प्रकार शिक्षा का कर्तव्य उच्च विचार पैदा करना है जिससे मनुष्य में सदिच्छाएं उत्पन्न हों। दूसरे शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य में नैतिक तथा धार्मिक गुणों का विकास करना है। प्रेम, सद्भावना, सहानुभूति, दया, सत्यता, न्यायप्रियता, ईमानदारी इत्यादि नैतिक गुण समझे जाते हैं। इन गुणों के विकास से मनुष्य का आचरण सुन्दर और सभ्य हो जाता है। इन गुणों के अपनाने से मनुष्य चरित्रवान् बन जाता है। चूंकि शिक्षा द्वारा उक्त गुण ग्रहण किये जा सकते हैं इसलिये हरबार्ट शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण मानता है।

हरबार्ट महोदय ने चरित्र-निर्माण के लिये मनुष्य की रुचियों की वृद्धि व विकास आवश्यक समझा है। उनका कथन है कि जैसे हमारे विचार होते हैं, वैसी ही हमारी रुचि होती है और वैसा ही हमारा आचरण बन जाता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य की बाह्य क्रियाएं उसके मन के भीतर की क्रियाओं के अनुरूप होती हैं। अतएव हमें जिस बालक का चरित्र सुन्दर बनाना है पहले उस बालक के मन के भीतर की क्रियाओं का सुधार करना चाहिये अर्थात् उसके विचारों में सुधार करना चाहिये। विचारों को सुधारने के लिए बालक को विभिन्न प्रकार के विषयों का ज्ञान कराना चाहिये जिससे उसके जीवन के सभी अङ्ग शिक्षित हो जायें और वह जीवन के सभी क्षेत्रों में भली प्रकार से भाग ले सके। हरबार्ट के अनुसार ज्ञान सदाचार की कुन्जी है क्योंकि ज्ञान से रुचियाँ पवित्र हो जाती हैं और पवित्र रुचियां मनुष्य को सदाचारी बनाती हैं। ज्ञान के अभाव में व्यक्ति पशुवत् जीवन व्यतीत करता है। मूर्ख पुरुष कदापि सदाचारी नहीं हो सकता। हरबार्ट के अनुसार शिक्षा के पाठ्य-क्रम में उन विषयों को प्राथमिकता देनी चाहिये जो नैतिक और धार्मिक विचारों से भरे हुए हों। इस दृष्टि से उसने इतिहास और साहित्य की शिक्षा पर विशेष बल दिया है। इन दोनों ही विषयों द्वारा बालकों को नैतिक शिक्षा मिलती है। अतः बालकों को सदाचारी तथा सच्चरित्र बनाने के लिये उनकी रुचि इतिहास और साहित्य में बढ़ानी चाहिये।

लगभग सभी व्यक्तियों ने शिक्षा के इस उद्देश्य को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। इसके अन्तर्गत मनुष्य का सम्पूर्ण विकास सम्भव है। इसके द्वारा व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र सभी का कल्याण हो सकता है। अतः शिक्षा का आदर्श चरित्र-निर्माण बताकर हरबार्ट महोदय ने समाज की भारी सेवा की है। परन्तु अन्य उद्देश्यों की भांति हम

इस उद्देश्य को भी शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं मान सकते। इसमे कई दोष है। सर्वप्रथम यह निश्चय करना कठिन है कि चरित्र में किन-किन बातों को लिया जाय? शिक्षा के द्वारा किन-किन गुणों का प्रतिपादन किया जाय? चरित्र के अन्तर्गत कौन कौन से गुण होने चाहियें? इस विषय मे भिन्न-भिन्न मत हैं। दूसरे, केवल सच्चरित्रता से ही मनुष्य का काम नहीं चल सकता। हम स्कूल का सारा समय सत्यता, नैतिकता ईमानदारी आदि सिखाने में समाप्त नहीं कर सकते। केवल सच्चरित्रता मनुष्य को जीवन में सफल बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। चरित्र-बल के साथ-साथ व्यक्ति में व्यावहारिक कुशलता भी होनी चाहिये, जिससे वह अपनी जीवन सम्बन्धी समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान कर सके। यदि किसी व्यक्ति में सच्चरित्रता है किन्तु उसके पास जीविकोपार्जन का कोई साधन नहीं है तो ऐसा मनुष्य समाज पर भार-स्वरूप रहेगा। इस प्रकार चरित्र-निर्माण का उद्देश्य भी शिक्षा के दूसरे उद्देश्यों की तरह एकांगी है। और एकांगी होने के नाते जहां हमने दूसरे उद्देश्यों की आलोचना की है वहां चरित्र-निर्माण का उद्देश्य भी शिक्षा के एकमात्र उद्देश्य के रूप में स्वीकृत नहीं हो सकता। अत. चरित्र-निर्माण के साथ ही साथ जीविकोपार्जन, शारीरिक विकास, बौद्धिक विकास आदि उद्देश्यों को भी महत्व देना आवश्यक है। उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसी दृष्टिकोण के आधार पर हरबर्ट स्पेन्सर ने शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सम्पूर्ण जीवन के लिये शिक्षित करना बतलाया है। तीसरे नैतिकता तथा सदाचरण के शिक्षण में अनेक कठिनाइयां हैं। नैतिकता का शिक्षण किस प्रकार हो? नैतिक गुणों के विकास के लिये बालकों को कौन-कौन से विषय पढ़ाये जायें? इस विषय में कोई एक मत नहीं है। कुछ व्यक्तियों के अनुसार चरित्र सुधार के लिए नियमित धर्मोपदेश तथा सदुपदेश होने चाहियें। इसके विपरीत कुछ अन्य व्यक्तियों की धारणा है कि उक्त प्रकार के शिक्षण से बालकों के नैतिक जीवन में अधिक सुधार की सम्भावना नहीं। इस प्रकार के धर्मोपदेश से बालकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कोरे उपदेश देने से बालकों का चरित्र-निर्माण नहीं हो सकता। इस मतभेद के कारण अभी तक यह निश्चय नहीं किया जा सकता है कि धर्मोपदेश किसी विशेष घण्टे मे होना चाहिये अथवा नहीं। इसी प्रकार शिक्षा के विषयों में भी मतभेद है। हरबार्ट ने नैतिकता तथा सदाचरण को शिक्षा के लिये इतिहास तथा साहित्य के अध्ययन पर विशेष बल दिया है। पर क्या यह सम्भव है कि इन विषयों के अध्ययन से बालकों के नैतिक आदर्शों का उत्थान होगा? यद्यपि यह सत्य है कि इतिहास के उदाहरणों द्वारा हम बालकों को यह हृदयंगम करा सकते हैं कि भले काम का परिणाम भला होता है और बुरे काम का बुरा, और इन उदाहरणों द्वारा हम उसे भले काम करने के लिये प्रेरित कर सकते हैं, पर जहां, इतिहास में उक्त प्रकार के उदाहरण हैं वहां बुरे काम करने पर भी व्यक्तियों के फलने फूलने के

उदाहरण विद्यमान है। ऐसी दशा में केवल इतिहास द्वारा नैतिक सिद्धान्तों की शिक्षा देना अत्यन्त कठिन है। कहने का तात्पर्य यह है कि नीति और धर्म की शिक्षा कब और कैसे हो, इस विषय पर बड़ा मतभेद है। उक्त दोषों के कारण चरित्र-निर्माण का उद्देश्य शिक्षा के एकमात्र उद्देश्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि चरित्र-निर्माण का उद्देश्य शिक्षा के अन्य कई उद्देश्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

जीवन को पूर्णता प्रदान करने का उद्देश्य
(Complete Living Aim)

प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री हरबर्ट स्पेंसर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य जीवन को पूर्णता प्रदान करना है। इस उद्देश्य का तात्पर्य यह है कि मनुष्य की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो उसके जीवन के सभी अङ्गों का विकास कर सके अर्थात् उसके जीवन को पूर्णता की ओर ले जाये। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति का विकास एक क्षेत्र में सीमित न रह कर सर्वाङ्गीण होना चाहिये। इस प्रकार के विकास से मनुष्य जीवन की प्रत्येक परिस्थिति के लिए तैयार हो जाता है। वह यह भली-भाँति जान जाता है कि उसे अपने लिए, अपने साथियों के लिए और अपने समाज व राष्ट्र के लिए क्या-क्या करना है। उसकी शिक्षा उसके जीवन-यापन अर्थात् जीवन के सभी कार्यों को सफलतापूर्वक करने के लिए पूर्णरूप से तैयार कर देती है। स्पेन्सर ने जीवन की समस्त क्रियाओं को पाँच भागों में विभाजित किया है और इन क्रियाओं के अनुरूप ही उसने उपयुक्त विषयों का निर्वाचन किया। ये क्रियायें और पाठ्य-विषय निम्नलिखित हैं :—

क्रियायें	विषय
१ आत्मरक्षा की क्रिया २. जीवन को परोक्ष रूप से सुरक्षित रखने की क्रिया	शरीर विज्ञान, पदार्थ विज्ञान, भाषा ज्ञान गणित, भूगोल।
३. सन्तान-रक्षा सम्बन्धी क्रिया	बाल-मनोविज्ञान, गृहशास्त्र।
४. समाज रक्षा सम्बन्धी क्रिया	इतिहास, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र।
५. अवकाश के समय की क्रिया	साहित्य, संगीत, एवं कला।

जीवन की उक्त क्रियाओं को जिस क्रम से लिखा गया है उसी क्रम से उनका जीवन में महत्त्व भी है। अतः जीवन की इन क्रियाओं के महत्त्व के अनुसार बालकों की शिक्षा होनी चाहिए। अर्थात् शरीर विज्ञान, पदार्थ विज्ञान आदि को संगीत साहित्य और कला की अपेक्षा बालकों की शिक्षा में अधिक महत्त्व का स्थान देना चाहिए। इस प्रकार स्पेन्सर ने अपने 'शिक्षा' नामक ग्रन्थ में साहित्य और कला की अपेक्षा जीवन के रक्षा सम्बन्धी विषयों पर अधिक बल दिया है। दूसरे शब्दों में स्पेन्सर

महोदय पदार्थ विज्ञान के पक्षपाती और साहित्य तथा कला के विरोधी थे।

साधारणतः सम्पूर्ण जीवन का उद्देश्य बहुत अच्छा मालूम होता है। इससे दूसरे उद्देश्यों की कमी पूरी हो जाती है। परन्तु ध्यान पूर्वक विचार करने पर इसका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है। सर्वप्रथम हम यही निश्चित नहीं कर पाते कि जीवन की पूर्णता किस बात में है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के अनुसार जीवन की पूर्णता विभिन्न बातों में है। इस प्रकार जीवन की पूर्णता के विषय में कोई एक मत नहीं है। इस मत-भेद के कारण यह उद्देश्य अनिश्चित तथा असीमित प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इस उद्देश्य को मानने में और भी कई कठिनाइयाँ हैं। स्पेन्सर की यह सम्पूर्ण जीवन की कल्पना अत्यन्त ही संकीर्ण है। सम्पूर्ण जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति के लिये जो विषय चुने हैं उनमें आध्यात्मिक उन्नति करने वाले विषयों को महत्व पू स्थान नहीं दिया गया है। स्पेन्सर ने अपनी शिक्षा योजना में धर्म के लिये कोई स्थान ही नहीं रखा है। अतएव उनके उद्देश्य के अनुकूल शिक्षा ग्रहण करने पर बालक व्यवहारकुशल भले ही बन जाय किन्तु उसका आध्यात्मिक तथा नैतिक विकास न हो सकेगा। धर्म तथा नीति की शिक्षा के अभाव में बालक स्वार्थी बनेगा। ऐसे बालक को दूसरों के सुख अथवा दुख की चिन्ता नहीं रहती। जीवन को सुखी बनाने के लि नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक आदर्शों की उतनी ही आवश्यकता है जितनी विज्ञान की। किन्तु खेद है कि स्पेन्सर ने इस ओर लेश-मात्र भी ध्यान नहीं दिया है।

स्पेन्सर ने अपनी शिक्षा योजना में अन्य विषयों की अपेक्षा कला और साहित्य को गौण स्थान दिया है। यह शिक्षा के आदर्श के प्रतिकूल है। यदि शिक्षा का आदर्श जीवन में पूर्णता लाना है तो अवकाश काल के विषयों का उतना ही महत्व है जितना कि अन्य विषयों का। जो मनुष्य अपने व्यवसाय में चतुर है, किन्तु अवकाश के समय का समुचित उपयोग नहीं करता, वह अपना तथा समाज दोनों का अनिष्ट करता है। अतः फुरसत के समय का सदुपयोग कराने के लिए कला, संगीत तथा साहित्य की शिक्षा परमावश्यक है। कला और संगीत ही मनुष्य के अवकाश के समय के उचित और आदर्श मनोरंजन हैं। कला, संगीत तथा साहित्य की शिक्षा द्वारा ही मनुष्य सभ्य और सुसंस्कृत बना है। इसका अभाव बर्बरता का प्रमाण माना जाता है। अतएव बालकों की शिक्षा में इन्हें महत्व का स्थान देना चाहिए। इनको यदि महत्व का स्थान न दिया जाय तो इनका विकास रुक जायगा।

स्पेन्सर द्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण जीवन के उद्देश्य का विरोध करते हुए कुछ विद्वानों ने उनके चुने हुए विषयों का क्रम अमनोवैज्ञानिक बतलाया है। शिक्षक के लिये यह अपेक्षित है कि वह बालकों की रुचियों को ध्यान में रखकर शिक्षा दे। किन्तु इस उद्देश्य के अनुसार बालकों की रुचि का कोई ध्यान नहीं रखा जा सकता। उनकी रुचि के विपरीत उन्हें फिजियालॉजी और हाईजीन की शिक्षा दी जाती है। बालक

बचपन का ध्यान न रख कर बालक को भविष्य में क्या होना है इसकी शिक्षा बलपूर्वक दी जाती है। बालक का वर्तमान आज क्या है, क्या उसकी चाह है, क्या उसकी माँगें हैं, क्या उसकी प्रकृति है — इन सब बातों की इस उद्देश्य में उपेक्षा की जाती है। इसमें बालक की स्वतन्त्रता कम हो जाती है। वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी रुचि के अनुकूल कोई काम नहीं कर सकता। उसके ऊपर जीवन की पूर्णता का उद्देश्य बलपूर्वक लाद दिया जाता है। उक्त कठिनाइयों के कारण जीवन की पूर्णता का उद्देश्य शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं माना जा सकता।

सम-विकास का उद्देश्य
(The Harmonious Development Aim)

कुछ दार्शनिकों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, कलात्मक तथा नैतिक शक्तियों का सम-विकास है। यह उद्देश्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ मूल-प्रवृत्तियों को लेकर जन्म लेता है। शिक्षा मनोविज्ञान के अनुसार इन प्रवृत्तियों का सम-विकास परमावश्यक है, क्योंकि इनके सम-विकास के परिणामस्वरूप मनुष्य का एक संतुलित व्यक्तित्व प्रगट होता है। यदि इन जन्म जात प्रवृत्तियों के सम-विकास पर ध्यान न दिया जाय तो मनुष्य की कुछ प्रवृत्तियां दूसरों की अपेक्षा अधिक विकसित हो जायेंगी और उसके व्यक्तित्व का सन्तुलन बिगड़ जायगा। सन्तुलन बिगड़ जाने पर मनुष्य का व्यक्तित्व प्रभावशाली नहीं रहता। अतः शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे समस्त प्रवृत्तियाँ सम-रूप में विकसित हो जायें। अर्थात् केवल शारीरिक शक्ति या व्यवसायिक दक्षता अथवा सौन्दर्यानुभूति की शक्ति ही विकसित न हो वरन् समस्त शक्तियाँ समान रूप में विकसित हो जायें। इस प्रकार की शिक्षा से एकांगीपन दूर हो जाता है। जिन बालकों को प्रकृति ने एकांगी बनाया है उनकी एकांगिता की वृद्धि नहीं होगी।

परन्तु इस उद्देश्य को स्वीकार करते ही कठिनाइयां सामने आने लगती हैं और इसके दोष स्पष्ट हो जाते हैं। सर्वप्रथम सम-विकास का असली अर्थ लगाना सुगम नहीं है। पहला प्रश्न यह उठता है कि कैसा सम-विकास? बाहरी बातों का सम-विकास अथवा आन्तरिक शक्तियों का सम-विकास ? यदि पहली बात ठीक है तो व्यक्ति सभी बातों का थोड़ा- थोड़ा ज्ञान रखने वाला व्यक्ति होगा और उसे किसी भी बात अथवा विषय का सम्पूर्ण ज्ञान न होगा और यदि दूसरी बात ठीक है तो क्या इन शक्तियों का समान अथवा अधिक से अधिक विकास होना चाहिए ? यह [illegible] । समस्त शक्तियों तथा प्रवृत्तियों का सम-विकास अत्यन्त ही कठिन है। शरीर से बलिष्ठ हो, ज्ञान का भण्डार हो, नैतिक आदर्शों से परिपूर्ण व्यक्ति एक योगी कहलाता है इस प्रकार के व्यक्ति की रचना अत्यन्त ही ऐसा व्यक्ति लाखों में ही हो सकता है। प्राय देखने में तो यह आता है

कि व्यक्ति का पूर्ण विकास एक ही दिशा में होना है, सब दिशाओं में नहीं। उसका ध्यान एवं रुचि एक ही दिशा में केन्द्रित होते हैं और वह उसी दिशा में प्रगतिशील रहता है और सफलता प्राप्त करता है। अतएव सम-विकास की आशा करना उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं पर कुठाराघात करना है। दूसरे, हमारे पास कोई ऐसा मापदंड नहीं है जिसके द्वारा यह जाना जा सके कि प्रवृत्तियों का सम-विकास हुआ है अथवा नहीं। तीसरे, सभी प्रवृत्तियों का एक ही अनुपात में विकसित करना अमनोवैज्ञानिक और अनुचित है। एक ही अनुपात में समस्त शक्तियों को विकसित करने का तात्पर्य व्यक्तिगत भिन्नता को दूर करना है, किन्तु यह असम्भव है। चौथे शिक्षा में सम-विकास के उद्देश्य को मान लेने पर पाठ्य विषयों के निर्वाचन की समस्या उठ खड़ी होती है। बालकों को किन-किन विषयों का अध्यापन कराया जाय जिससे उनका सम विकास हो सके—यह निश्चय करना कठिन है। पाचवें, शरीर की बहुत सी शक्तियाँ जो पहले संचालित होती थी, अब काम में न आने के कारण मृतक समान हो गई हैं। उनको उभारना व्यर्थ है। इस उद्देश्य से शिक्षा के किसी निश्चित उद्देश्य का भान नहीं होता। हमें तो शिक्षा का कोई ऐसा लक्ष्य चाहिये जिसको ध्यान में रख कर शिक्षा दी जाय और जिससे बालक की समस्त शक्तियों का सन्तुलित विकास सम्भव हो सके।

व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य

(Development of Individuality Aim)

कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति की व्यक्तिगत शक्तियों का पूर्ण विकास है। इन विद्वानों में सबसे प्रसिद्ध विद्वान् व शिक्षा-शास्त्री टी. पर्सी नन हैं। उन्होंने व्यक्ति के विशेष व्यक्तित्व के विकास पर विशेष बल दिया है। उनका विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति में अपने विशेष गुण और योग्यताएँ होती हैं। व्यक्ति के इन जन्म-जात गुणों को विकसित करना और उसको इन गुणों का प्रयोग करने की क्षमता देना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। व्यक्तिगत उद्देश्य का समर्थन करते हुए नन महोदय ने लिखा है "संसार में जो भली वस्तुएँ आती हैं वे किसी न किसी व्यक्ति के स्वतन्त्र प्रयत्न से आती हैं। शिक्षा की व्यवस्था इसी सत्य के आधार पर होनी चाहिए।" इस उद्देश्य के समर्थकों का मत है कि बालक को अपनी रुचि तथा आवश्यकताओं के अनुसार विशेष दिशा में विकास करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये और जिस बालक की जिस ओर रुचि हो उसे उसी ओर बढ़ने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए। बालक को पूर्ण अधिकार होना चाहिये कि वह अपना जीवन जिस प्रकार चाहे व्यतीत करे और जिस दिशा में चाहे ले जावे। माता-पिता, गुरुजनों, समाज तथा देश को यह उचित नहीं कि वे बालक के स्वाभाविक विकास में बाधा डालें। बालक की प्रेरणा के विरुद्ध उसे किसी काम को करने के लिये बाध्य

रना अथवा उसे एक ऐसा जीवन व्यतीत करने के लिये विवश करना जिसके लिये वह बनाया ही नहीं गया—सर्वथा अनुचित है। अतएव बालक को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिये जिससे वह अपनी रुचि के अनुसार किसी व्यवसाय में लग जाय और अपनी रुचि के प्रतिकूल उसे किसी व्यवसाय को न करना पड़े। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक छात्र के गुण उसके जन्म जात व्यवसाय की ओर उन्मुख करने चाहिए। जो बालक खुली हवा और पशु-पालन से प्रेम करता है, उसे मुनीम या दफ्तर में बाबू बनाना ठीक नहीं है, न अङ्कगणित की साधना करने वाले शान्त युवक को खेती या बागवानी मे भेजना ही ठीक है। एक क्रीड़ाशील बालक को बैंक की कुर्सी से नहीं बांधना चाहिए वरन् उसे किसी क्रियाशील व्यवसाय में लगाना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति की रुचि ललित कला की ओर है तो उसे ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिये जिससे उसका इस दिशा में विकास हो सके और वह अपने काम में पूर्ण रूप से निपुण हो जाय। ऐसे व्यक्ति को बरबस डाक्टर बनाना अथवा किसी कारखाने में भेजना उसके प्रति अन्याय करना है। उसे डाक्टर बनने की शिक्षा देना वैसा ही है जैसे चौकोर खूंटी को गोल छेद में डालकर उचित प्रकार से फिट अथवा ठीक बैठ जाने की आशा करना। इस प्रकार 'नन' महोदय के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि तथा योग्यता के अनुसार अपना विकास करने के लिए अवसर मिलना चाहिए। विशेष व्यक्तित्व का विकास ही संसार की उन्नति का सार है। यद्यपि शिक्षा और संस्कृति का सामान्य स्तर सब के लिए एक ही तरह का अपेक्षित है, जिससे कि विभिन्न जीवन-शैलियों का सम्मिश्रण उपयोगी और ग्राह्य बन सके, तथापि इस सामान्य स्तर के पाने के बाद विशिष्ट योग्यता तो आवश्यक है ही। अतः शिक्षक को चाहिये कि वह प्रत्येक बालक की जन्मजात रुचियों तथा प्रवृत्तियों का पता लगाये और उनके अनुकूल शिक्षा दे जिससे प्रत्येक बालक के विशेष व्यक्तित्व का विकास हो सके। शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य यही है कि शिक्षा उन परिस्थितियों को जुटाने में संलग्न रहे जिसमें व्यक्तित्व का सम्पूर्ण और समग्र विकास सम्भव हो सके।

शिक्षा में विशेष व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य नया नहीं है। प्राचीन काल मे भी मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्मान था और उसे अपनी रुचि के अनुसार अपना विकास करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। ग्रीस तथा भारत में व्यक्तिगत शिक्षा की प्रधानता थी। मध्य काल में व्यक्ति को ऐसी कोई स्वतन्त्रता नहीं मिली। उसके व्यक्तित्व के विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। किन्तु वर्तमान युग में व्यक्ति के महत्त्व को फिर से स्थापित किया गया है। शिक्षा में व्यक्ति के महत्त्व को स्थापित करने का श्रेय प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री रूसो को है। सर्वप्रथम रूसो ने यह आवाज उठाई कि शिक्षा-व्यवस्था बालक के अनुरूप होनी चाहिये। उसका कथन था कि शिक्षक का यह कर्तव्य है कि वह बालक को ऐसी परिस्थितियों में रखे जिनमें उसके व्यक्तित्व का

ाविक विकास हो सके। इसके पश्चात् पेस्टालॉजी ने शिक्षा को बालक की
क प्रवृत्तियों पर आधारित करने का सुझाव रखा। तब से शिक्षा मनोविज्ञान,
त्रवाद, व्यक्तिवाद आदि की उन्नति के कारण शिक्षा में व्यक्तित्व के विकास का
य प्रमुख होता जा रहा है। प्रजातन्त्र राज्यों में तो यह पूर्ण रूप से स्वीकार कर
गया है कि शिक्षा का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का विकास करना है। आज
ी नवीन शिक्षा प्रणालियाँ प्रयोग में लाई जा रही हैं उन सब का लक्ष्य बालक के
तत्व का विकास करना है। आज सभी व्यक्तियों की यह धारणा है कि परिवार
तथा राष्ट्र व्यक्ति के विकास के साधन हैं। व्यक्ति इनके लिए नहीं, ये व्यक्ति
ये हैं। शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य के विरोधी शिक्षा में व्यक्ति को अधिक
देते हैं उनका मत है कि शिक्षा का उद्देश्य उत्तम व्यक्ति का निर्माण करना है।
ग सभी मनुष्यों का यह विचार है कि उत्तम व्यक्ति ही उत्तम नागरिक हो सकता
इसलिए व्यक्ति की शिक्षा समुचित रूप से होनी चाहिए। समस्त संस्थाओं जैसे
शिक्षालय तथा राज्य का प्रथम कर्त्तव्य व्यक्ति का उत्तम विकास करना है प्रत्येक
क की उत्तम शक्तियों की खोज करके उनके समुचित विकास के उपकरणों का
ोजन तथा, उसके व्यक्तित्व के विकास में योग देना शिक्षालय का कर्त्तव्य है।
अब शिक्षा का समस्त कार्य इस विचार को ध्यान में रख कर निर्धारित किया
ा है कि प्रत्येक बालक का अपने विशेष गुणों तथा शक्तियों के विकास के लिये
क से अधिक अवसर मिल सके। आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रयोगों ने सिद्ध कर
है कि बालकों में बुद्धि के भेद जन्म जात होते हैं। किसी बालक की बुद्धि प्रखर
ा है तो किसी की मन्द। कोई बालक मानसिक काम पसन्द करता है तो कोई
ीरिक। बुद्धि के इन भेदों और योग्यताओं की अवहेलना करके सभी के लिए कोई
पाठ्यक्रम बनाना एक भारी भूल है अर्थात् प्रत्येक बालक को एक ही प्रकार की
ा देना व्यक्तित्व के विकास के लिए अहितकर है।
वैयक्तिक हित की दृष्टि से व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य अत्यन्त ही महत्वपूर्ण
जो शिक्षा इस उद्देश्य को ध्यान में रख कर दी जायगी उससे बालक स्वयं लो-
उठायेगा ही किन्तु समाज का भी कल्याण होगा। ऐसी शिक्षा से व्यक्ति परि-
ितियों पर विजय प्राप्त कर सकता है। और सफल जीवन व्यतीत कर सकता है।
से चरित्र निर्माण में भी सहायता मिलती है। इङ्गलैंड के शिक्षा बोर्ड ने विशेष
ितत्व के उद्देश्य को महत्वपूर्ण मानते हुए अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं
शिक्षालय विशेष व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्रदान करता है और व्यक्ति के
न्त्र विकास में सहायता करता है वही अपने वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति करता
' किन्तु व्यक्तित्व के विकास को शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य मान लेना कठिन
इस उद्देश्य को स्वीकार कर लेने से व्यक्ति का महत्व बढ़ जाता है और समाज
महत्व कम हो जाता है। 'नन, महोदय ने व्यक्ति को समाज से अधिक महत्व दिया

है। उनका कथन है कि संसार में जो अच्छी वस्तुएं आती हैं वे किसी न किसी व्यक्ति के स्वतन्त्र प्रयत्न से आती हैं। पर व्यक्ति को समाज से अधिक महत्त्वपूर्ण मानना समाज के लिए अत्यन्त ही अहितकर है। इससे व्यक्ति में अहम् और अहंकार जाग्रत हो जाता है। वह समाज की अवहेलना करता है और अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करता है। व्यक्ति में अहम् और अहंकार उत्पन्न होने पर हिटलर और मुसोलिनी जैसे व्यक्ति बनेंगे। उनसे समाज को जो हानि हो सकती है उसका अनुमान आप स्वयं लगा सकते हैं। इस उद्देश्य के समर्थक यह भूल जाते हैं कि व्यक्ति समाज का एक अङ्ग है और वह समाज के अन्दर ही रहकर पूर्णता प्राप्त करता है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन समाज के लिये है और जहां तक व्यक्ति समाज का कल्याण करता है वहीं तक उसका जीवन सार्थक है। यदि उससे समाज को कोई लाभ नहीं पहुँचता तो उसका जीवन व्यर्थ है और विकास निरर्थक। जो मनुष्य व्यक्ति को समाज के ऊपर स्थान देते हैं उन्हें याद रखना चाहिये कि समाज से पृथक व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। निरसमाज व्यक्ति कोरी कल्पना है। वास्तव में मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास समाज की सहायता के बिना असम्भव है। अतएव समाज के उपकार का बदला चुकाना उसका कर्तव्य है।

बालक को अपनी प्रवृत्तियों तथा रुचियों के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने के लिए आवश्यकता से अधिक स्वतन्त्रता देना अनुचित है। इससे बालक स्वच्छन्द हो जाता है और मनमानी करता है। नन् महोदय भी बालकों को इतनी स्वतन्त्रता नहीं देना चाहते हैं कि वे स्वच्छन्द हो जायें। इस उद्देश्य से बालकों की एकाकिता को प्रोत्साहन मिलता है अतएव बालक का सर्वाङ्गीण विकास नहीं हो सकता। यह उद्देश्य बालकों की स्वाभाविक भिन्नता पर आधारित है और यदि हर समय उनकी भिन्नता पर ही ध्यान दिया गया तो हम उनमें सहानुभूति, सहयोग तथा सामाजिकता के गुणों का विकास न कर सकेंगे। इस सिद्धान्त से पूँजीवादिता को प्रोत्साहन मिलता है जिसके परिणामस्वरूप समाज का बड़ा अहित हो रहा है। समाज के कुछ व्यक्ति धन-धान्य से परिपूर्ण हैं और शेष जनता भूखी है। इस उद्देश्य को स्वीकार कर लेने पर हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम प्रत्येक बालक के लिये उसकी जन्म-जात प्रवृत्ति के अनुरूप एक पृथक् उद्देश्य निश्चित करें। दूसरे शब्दों में हम सबके लिये कोई एक सामान्य उद्देश्य निश्चित नहीं कर सकते। यही इस उद्देश्य का सबसे बड़ा दोष है। उक्त दोषों के कारण व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं माना जा सकता।

सामाजिक तथा नागरिकता का उद्देश्य
(Social and Citizenship Aim)

कुछ शिक्षा-शास्त्रियों ने व्यक्तित्व के विकास के स्थान पर शिक्षा का उद्देश्य

ों में सामाजिकता की भावना की वृद्धि तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति
र कहलाता है। ये शिक्षा-शास्त्री समाज को व्यक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते
तः व्यक्तिगत उद्देश्य के विरोधी इस सामाजिक उद्देश्य कहते हैं। उनके
नुसार व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। वह नितान्त अकेला नहीं रह सकता।
ज से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं है। रेमॉन्ट (Raymont) का कथन है
"एकाकी व्यक्ति कोरी कल्पना है।" वह समाज से ही उत्पन्न होता है और
में रहता है। समाज ही उसका लालन-पोषण करता है। समाज के द्वारा ही
की योग्यता की वृद्धि होती है। बिना समाज के उसका जीना कठिन है। इसी
त प्राचीन काल से ही मनुष्य समूह अथवा समाज बनाकर रहता आया है।
दिम काल से ही समाज वैयक्तिक जीवन धन तथा सम्पत्ति की रक्षा करता आया
समाज की उन्नति से मनुष्य मात्र को लाभ होता है और समाज की हानि से
को क्षति पहुँचती है। समाज से मनुष्य को अधिकार प्राप्त हैं और वह उन
कारों का समुचित उपयोग करता है। इस तरह से देखा जाय तो व्यक्ति का
न समाज का दिया हुआ है और व्यक्ति समाज का ऋणी है। ऐसी दशा में समाज
प्रत्येक व्यक्ति से सेवा प्राप्त करने का अधिकार है और समाज के उपकार का
ला चुकाना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। फिर क्यों न शिक्षा-व्यवस्था ऐसी हो
जिसे समाज के आदर्शों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति हो और समाज की उन्नति हो?
रे शब्दों में समाज को शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करने और उसके अनुकूल
क्षा की व्यवस्था करने का पूर्ण अधिकार है। चूँकि समाज व्यक्ति से यह आशा
ता है कि वह कोई ऐसा काम न करे जिससे समाज को क्षति पहुँचे अतएव शिक्षा
उद्देश्य बालक में ऐसी क्षमता उत्पन्न करना है जिससे वह समाज का कल्याण
र सके और समाज के हित के लिये अपने हित का त्याग करे। जो शिक्षा बालक को
ज के लिये उपयोगी नहीं बनाती वह निरर्थक है। इसलिए कुछ शिक्षा-शास्त्रियों ने
क्तित्व के विकास के स्थान पर शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य का प्रतिपादन किया है।
सामाजिक उद्देश्य के कारण समाजवाद का विकास हुआ। साधारणतया
ाजवाद के दो रूप माने गये हैं। एक रूप तो यह है जिसके अनुसार समाज अथवा
ष्ट्र महत्त्वपूर्ण है और व्यक्ति नगण्य। और दूसरा रूप वह है जिसमें व्यक्ति अपना
तन्त्र अस्तित्व रखता है और अपनी योग्यता के अनुसार समाज की सेवा करता
पहला रूप समाजवाद का उग्र रूप है। इसे राष्ट्र-समाजवाद (State Socialism)
हते हैं। और दूसरा समाजवाद का प्रजातन्त्रात्मक रूप है। अब हम समाजवाद
दोनों रूपों पर विचार करेंगे और यह निर्णय करेंगे कि कौन-सा रूप अधिक
न्य है और क्यों?

पहले रूप के समर्थक व्यक्ति की अपेक्षा समाज अथवा राष्ट्र को प्रमुख तथा श्रेष्ठ
नते हैं। वे समाज अथवा राष्ट्र को एक स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। उनका कथन है

राष्ट्र के लिये व्यक्ति है, व्यक्ति के लिये राष्ट्र नहीं। राष्ट्र को सबल और सुदृढ़ बनाना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। राष्ट्र की सत्ता बढ़ाने के लिए व्यक्ति को अपनी सत्ता मिटा देनी चाहिए। राष्ट्र को पूर्ण अधिकार है कि व्यक्ति को जिस प्रकार का बनाना चाहे बनाये। जिस व्यक्ति से राष्ट्र का कोई लाभ नहीं उसका जीवन व्यर्थ है। किसी भी व्यक्ति को ऐसी शिक्षा न दी जाय जिससे वह राष्ट्र का ध्यान छोड़ दे और अपनी उन्नति चाहने लगे। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र के हित के अनुकूल शिक्षा देने के लिए राष्ट्र स्वयम् शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था करता है। दूसरे शब्दों में राष्ट्र को अपनी आवश्यकताओं तथा आदर्शों के अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था करने का पूर्ण अधिकार है। वह शिक्षा द्वारा बालक में जैसी भावना भरना चाहे भरे और बालकों को जैसा भी बनाना चाहे बनाये। राष्ट्र-समाजवाद द्वारा संचालित शिक्षा के पाठ्य-क्रम तथा शिक्षण-विधियों का सिद्धान्त होता है अनुशासन, संगठन आज्ञा-पालन तथा व्यक्तित्व का संकुचन। इस प्रकार व्यक्तित्व की सीमाएँ राष्ट्र के आदर्श से बंधी रहती हैं। प्राचीन काल में स्पार्टा की शिक्षा इसी सिद्धान्त पर आधारित थी। वहां की शिक्षा का उद्देश्य था व्यक्ति में राज्य के प्रति अपार भक्ति उत्पन्न करना और उसमें अनुशासन व आज्ञापालन की प्रवृत्ति का विकास करना। इस प्रकार स्पार्टा की शिक्षा यह चाहती थी कि व्यक्ति राज्य के प्रति अपना सर्वस्व समर्पण कर दे अर्थात् व्यक्ति अपना व्यक्तित्व खोकर समाज अथवा राष्ट्र रूपी मशीन का एक पुर्जामात्र बन जाये। गत वर्षों में जर्मनी, जापान, इटली ने भी इसी सिद्धान्त को प्रमुख मानकर अपने अपने यहां शिक्षा की व्यवस्था की थी। उक्त विचारों के अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्व को मिटाकर समाज अथवा राष्ट्र की उन्नति करना शिक्षा का उद्देश्य है। शिक्षा के इस उद्देश्य के प्रनेता फिश्टे (Fichte) और हीगल (Hegel) थे। वे राज्य की एकतन्त्र सत्ता में विश्वास करते थे और उनका कथन था कि राज्य के ऊपर अन्य किसी अधिकारी की सत्ता नहीं है।

राष्ट्र-समाजवाद द्वारा निर्धारित शिक्षा का उक्त उद्देश्य अत्यन्त ही दोषपूर्ण है। इस उद्देश्य के अनुसार राष्ट्र अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है और व्यक्ति की उपेक्षा की जाती है। व्यक्ति को अपना सर्वस्व देश पर न्यौछावर करने के लिये उत्साहित किया जाता है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता मिट जाती है और वह राष्ट्र का दास बन जाता है। वह आंख मूंद कर राष्ट्र का अनुकरण करने लगता है। ऐसी शिक्षा से उसके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। उसमें स्वतन्त्र रूप से सोचने तथा कार्य करने की क्षमता उत्पन्न नहीं होती और उसके आदर्श संकुचित हो जाते हैं तथा राष्ट्र-धर्म उसका मुख्य धर्म बन जाता है। उसके हृदय में मानवीय गुणों का विकास नहीं होता। राष्ट्र द्वारा व्यवस्थित शिक्षा-पद्धति व्यक्ति की कार्यकुशलता, प्रतिभा एवं क्षमता को नष्ट कर देती है। ऐसी शिक्षा में कला और साहित्य की प्रगति में

बाधा पहुंचती है और उनका विकास रुक जाता है। इसके अतिरिक्त यदि राष्ट्र का कर्णधार योग्य नहीं होता तो वह स्वयम् सारे समाज को ले डूबता है। हिटलर और मुस्योलिनी के उदाहरण इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उन्होंने व्यक्तियों को कितनी हानि पहुंचाई है यह किसी से छिपा नहीं। अतः राष्ट्रोन्नति के दृष्टिकोण से जो शिक्षा दी जाती है वह एकांगी है। उससे व्यक्ति का कोई लाभ नहीं होता। बालक के व्यक्तित्व को नष्ट करके राष्ट्रोन्नति करना अनुचित है।

समाजवाद का दूसरा रूप अमरीका, इंगलैंड तथा भारतवर्ष मे पाया जाता है। इन देशों में प्रजातन्त्रवाद फैला हुआ है। इन देशों ने शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य की व्याख्या अपने ढंग से की है। प्रजातन्त्रवाद के समर्थकों ने शिक्षा का उद्देश्य 'समाज-सेवा' अथवा 'नागरिकता की शिक्षा' बतलाया है। अतः उक्त देशों में शिक्षा द्वारा सच्चे नागरिक बनाने की आवश्यकता पर विशेष बल दिया जा रहा है। प्रजातन्त्र-वादियों का कथन है कि देश का कल्याण वहां के नागरिकों पर निर्भर होता है। यदि किसी देश के नागरिक उत्तम होते हैं तो वह देश उन्नति करता है और यदि देश के नागरिक अयोग्य होते हैं तो वह रसातल को चला जाता है। अतः देश के कल्याण के लिये यह परमावश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को देश का सच्चा और सुयोग्य नागरिक बनाया जाय। सच्चे और सुयोग्य नागरिक से मेरा तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसकी समस्त शक्तियां पूर्ण रूप से विकसित हों, जिसमें स्वतन्त्र चिन्तन तथा निर्णय करने की शक्ति विद्यमान हो, जो सच्चरित्र हो, अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक हो और देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझता हो। ऐसा व्यक्ति सम्भावतः ही अपनी क्रियाओं से समाज का भला करता है। उसके प्रत्येक कार्य, चाहे वे समाज की भलाई का लक्ष्य ध्यान में रखकर किये गये हों अथवा नहीं, समाज का कल्याण करने ही हैं। ऐसा व्यक्ति अपनी शक्ति और योग्यता से राष्ट्र के संगठन को दृढ़ बनाता है और समाज द्वारा दिए गये अधिकारों का समुचित उपयोग करता है। अपने स्वार्थ के कारण दूसरों को कष्ट नहीं देता और आवश्यकता पड़ने पर दूसरों की भलाई के लिये अपने स्वार्थ को त्याग देता है। इस प्रकार के नागरिक बनाना शिक्षा का काम है। अतएव बालकों की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास हो और वे अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार समाज अथवा राष्ट्र की सेवा कर सकें। व्यक्ति समाज की सच्ची सेवा तभी कर सकता है जब उसकी समस्त शक्तियां पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी हैं। उक्त उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए हमारे विद्यालयों में पाठ्य-क्रम के विभिन्न विषयों तथा अन्य सामाजिक क्रियाओं द्वारा नागरिकता की शिक्षा की व्यवस्था की जा रही है। इस आदर्श के अधीनता में पाठशालाएं बालकों को नागरिकों के उत्तरदायित्व तथा कर्तव्यों की पूर्ति करना सिखाती हैं। बालक प्रसन्नचित्त होकर समाज उपयोगी कार्यों में लीन रहते हैं।

पाठशालाएं स्वयम् आदर्श समाज का रूप धारण करती है। बालकों में समाज-सेवा की भावना प्रत्यक्ष जीवन के द्वारा जाग्रत की जाती है, पाठशालाओं में एक आत्म-त्याग तथा टीम-भावना का वातावरण रहता है।

कुछ शिक्षा-शास्त्री जैसे बागले (Bagley) और ड्यूवी (Dewey) शिक्षा के इस उद्देश्य को एक नया रूप देते है। उनके अनुसार इस उद्देश्य का तात्पर्य 'सामाजिक कुशलता' (Social efficiency) से है। सामाजिक कुशलता का अर्थ यह है कि कोई व्यक्ति दूसरों पर आश्रित न रहे वरन् अपनी जीविका स्वयं ही अर्जित करे। इस उद्देश्य की विस्तार पूर्वक चर्चा ड्यूवी के अध्याय में की जावेगी।

शिक्षा का उक्त उद्देश्य बहुत कुछ अंशों में उत्तम और उचित है। हमारी शिक्षा अवश्य ही ऐसी होनी चाहिये जिससे हमारी व्यक्तिगत तथा सामाजिक उन्नति हो, जो हमें अपने कर्त्तव्यों तथा अधिकारों के प्रति जागरूक करे और हमें परस्पर सहयोग से कार्य करना सिखावे। किन्तु नागरिकता के उद्देश्य पर अधिक बल देने से अनेक दोष उत्पन्न हो सकते है जिनसे समाज तथा व्यक्ति दोनों को हानि हो सकती है। इस उद्देश्य के विरोधियों के अनुसार एक हानि तो यही हो सकती है कि यदि मनुष्य की राजनीतिक क्रियाओं पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया तो मनुष्य केवल राजनीतिक क्षेत्र के लिये तैयार हो सकेगा, जीवन के अन्य क्षेत्रों के लिये नहीं। जीवन के अन्य अंगों की उपेक्षा करके व्यक्ति को केवल राजनीतिक क्षेत्र के लिये तैयार करना अनुचित है। इससे व्यक्ति का मानसिक, चारित्रिक, आध्यात्मिक तथा कलात्मक विकास न हो सकेगा। उसकी व्यक्तिगत विशेषताएं कुण्ठित हो जायेंगी।

नागरिकता की शिक्षा पर अत्यधिक बल देने से बालकों में संकुचित राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हो जाती है जिससे सिवाय हानि के लाभ की कोई आशा नहीं की जा सकती। इस भावना के उत्पन्न होने पर बालक दूसरे देशों तथा जातियों की योग्यता तथा महत्व को स्वीकार नहीं करते। वे अपने देश को सर्वशक्तिमान तथा श्रेष्ठ मानते है और दूसरे देशों की उपेक्षा करते है। इस संकुचित राष्ट्रीयता का परिणाम प्रायः महायुद्ध के रूप में दृष्टिगोचर होता है। महायुद्ध से व्यक्ति तथा समाज की जो हानियां हो सकती है उनसे आप भली-भांति परिचित हैं। अतः *नागरिकता का उद्देश्य दोषरहित नहीं है इसके अपने ही दोष है और यदि व्यक्ति तथा* समाज के विकास में सामंजस्य स्थापित कर लिया जावे तो ये दोष दूर हो सकते हैं।

व्यक्तित्व तथा सामाजिक उद्देश्य में सामंजस्य

(Synthesis between the Individual and Social Aims)

उक्त दोनों उद्देश्यों की चर्चा करने से एक बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि व्यक्ति और समाज में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः इन दोनों में से किसी एक को शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य मान लेने से समाज और व्यक्ति के संघर्ष होने की सम्भाव-

बढ़ जाती है। और शिक्षा के सामाजिक तथा व्यक्तिगत उद्देश्यों में समन्वय कर अत्यन्त कठिन हो जाता है। समाज बड़ा है या व्यक्ति ? यह प्रश्न प्राचीन काल चल रहा है। इस प्रश्न का उत्तर न देकर हम केवल यही कहेंगे कि यदि हम संघर्ष को समाप्त करना चाहते हैं और शिक्षा के इन दोनों आदर्शों में समन्वय कर चाहते हैं तो हमें इन दोनों के बीच का रास्ता चुन लेना चाहिए। हमें चाहिए कि दोनों को ही महत्वपूर्ण समझें और किसी एक को प्रधानता देकर दूसरे की उपेक्षा करें। व्यक्तित्व तथा सामाजिक उद्देश्यों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से हम निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उक्त दोनों उद्देश्य एक दूसरे के विरोधी नहीं, कि परिपूरक है। व्यक्ति समाज का एक अंग है। वह कभी नितान्त अकेला नहीं सकता। निस्समाज व्यक्ति कोरी कल्पना है। व्यक्ति समाज के लिए है और सम में रह कर ही सार्थक होता है। अतः वह समाज के विरुद्ध नहीं जा सकता। इ विपरीत समाज व्यक्तियों का समूह है और वह व्यक्ति की अवहेलना नहीं कर सक व्यक्तियों की भलाई के लिए ही उसकी रचना की जाती है। इस प्रकार व्यक्ति समाज एक दूसरे पर निर्भर हैं। वे एक दूसरे के विरोधी नहीं, अपितु सहायक व्यक्ति के विकास से समाज को लाभ होता है व्यक्ति अपनी शक्ति तथा योग्य समाज अथवा राष्ट्र को बनाने में व्यय करता है। समाज मनुष्य के व्यक्तित्व के वि के लिए उचित परिस्थितियों की व्यवस्था करता है उसकी आवश्यकताओं को पू करता है और उसकी रक्षा करता है। अतः दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। ऐसी दशा किसी एक को दूसरे की अपेक्षा अत्यधिक महत्व देना अनुचित है। जैसा कि हम ऊ कह चुके हैं हमारा रास्ता तो दोनों के बीच का होना चाहिए। न हमें समाज इतना शक्तिशाली बनाना चाहिए कि वह व्यक्ति का शोषण करे और उसे अप दास बना ले और न व्यक्ति को ही इतना उच्छृङ्खल बनाना चाहिए कि वह सम को ठुकरा दे और अपनी मनमानी करे। हमारा दृष्टिकोण तो यह होना चाहिए व्यक्ति समाज को दृढ़ बनाये और समाज व्यक्ति को अपना पूर्ण विकास करने अवसर प्रदान करे। दूसरे शब्दों में व्यक्ति अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हुए अप योग्यता के अनुसार समाज की सेवा करे। इस दृष्टिकोण से शिक्षा का उद्दे समाज-हित का ध्यान रखकर बालक के व्यक्तित्व का विकास करना है। इस उद्दे के अनुसार बालक के व्यक्तित्व का विकास तथा सामाजिक उन्नति दोनों ही सम है। समाज और व्यक्ति के इस सामंजस्य से दोनों को लाभ होता है। इस सामंज की पटरी पर शिक्षा रूपी गाड़ी भली प्रकार चल सकती है। यह शिक्षा दोनों लिये फलदायी होगी।

रौस (Ross) तथा नन (Nunn) महोदय ने शिक्षा के व्यक्तित्व सामाजिक उद्देश्यों में अपने दार्शनिक ढंग से समन्वय स्थापित किया है। उन

वैयक्तिकता (Individuality) के दो रूप माने हैं— (१) आत्माभिव्यक्ति (Self-Expression) और (२) आत्मानुभूति (Self-Realisation) अथवा आत्म-बोध। आत्माभिव्यक्ति (Self-Expression) में आत्म-प्रकाशन (Self-Assertion) की भावना प्रधान होती है। इसमें व्यक्ति स्वच्छन्द रूप से आचरण करता है और उसके कार्यों से दूसरों की हानि हो सकती है। ऐसा व्यक्ति समाज के लिये हानिकारक सिद्ध होता है। यदि व्यक्तित्व के विकास का तात्पर्य केवल आत्माभिव्यक्ति से ही है तो व्यक्तिगत और सामाजिक उद्देश्यों में सामंजस्य स्थापित करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु आत्माभिव्यक्ति के बाद मनुष्य का विकास रुक नहीं जाता। विकास तो होता ही रहता है और बढ़ते बढ़ते मनुष्य आत्मानुभूति की अवस्था को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में उसे आत्मबोध हो जाता है। अब यदि व्यक्तिगत उद्देश्य का तात्पर्य आत्मानुभूति अथवा आत्मबोध से है तो सामाजिक और व्यक्तिगत उद्देश्यों में समन्वय स्थापित करना अत्यन्त ही सरल है। आत्मानुभूति एक ऐसी दशा है जिसमें व्यक्ति अपने ऊपर स्वयम् नियन्त्रण रखता है और उसकी आत्मा उसे समाज के विरुद्ध चलने से रोकती है। अतः वह कोई भी ऐसा कार्य नहीं करता जिससे समाज को क्षति पहुंचने की सम्भावना हो। वह समाज-सेवा ही अपना कर्तव्य समझता है। स्पष्ट है कि आत्मानुभूति से असामाजिकता का बोध नहीं होता। मनुष्य समाज में रहकर समाज-सेवा द्वारा ही आत्मानुभूति प्राप्त करता है। इसीलिये एडम्स कहता है कि सामाजिक जीवन के बिना आत्मबोध असम्भव है। केवल समाज-सेवा से ही आत्मबोध हो सकता है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मानुभूति में दोनों ही विकास सम्मिलित हैं। रौस (Ross) का कथन है "जिस सामाजिक वातावरण में मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास करता है उससे पृथक् होने पर उसकी वैयक्तिकता का कोई मूल्य नहीं रह जाता और उसका व्यक्तित्व निरर्थक हो जाता है। ("Individuality is of no value, and personality is a meaningless term apart from the social environment in which they are developed and made manifest.")* समाज-सेवा से ही आत्मबोध होता है और वे ही व्यक्ति समाज के लिये महत्वपूर्ण आदर्श उपस्थित करते हैं जिनके व्यक्तित्व का समुचित विकास हो जाता है। इसी प्रकार ननका व्यक्तित्व-आदर्श आत्मानुभूति का पर्याय है। उनकी भी यही धारणा है कि व्यक्तित्व के विकास में समाज हमेशा सहायक होता है। उनका कथन है, "व्यक्तित्व का विकास सामाजिक वातावरण में ही होता है जहां कि सामाजिक रुचियों और क्रियाओं का इसे भोजन मिलता है।" (Individuality develops only in a social atmosphere where it can feed on common interests and

*Groundwork of Educational Theory, by Ross, p 52

common activities.) इसी के साथ वह यह भी कहता है कि समाज मे रहते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वतन्त्र वातावरण मिलना चाहिए जिससे वह अपने आपको अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित कर सके।

अन्य उद्देश्य—शिक्षा के कुछ और भी उद्देश्य प्रस्तावित किये गये हैं। इनमें से मुख्यत: दो तीन उल्लेखनीय हैं। वे इस प्रकार हैं:—

परिस्थिति के अनुकूल बनाने का उद्देश्य (Adjustment Aim)

कुछ विद्वानो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को अपनी परिस्थिति के अनुकूल अपने आपको बना लेने की क्षमता देना है। प्राणी-शास्त्र के अनुसार जीवन का विकास परिस्थिति के अनुकूल बनने में है। प्राणी-वेत्ताओ का कथन है कि प्रत्येक प्राणी को जीवित रहने के लिए अपनी परिस्थितियो से निरंतर संघर्ष करना पड़ता है और जो मनुष्य अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल बना लेता है वही जीवित रहता है और जो नहीं बना पाता वह नष्ट हो जाता है। अतः शिक्षा द्वारा बालक को वे सभी बातें सिखानी हैं जो उसे अपने आपको वातावरण के अनुकूल बनाने में सहायक हों अर्थात् बालक को अपनी परिस्थिति के अनुकूल चलने की क्षमता प्रदान करना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है।

इस धारणा के अनुसार मानव और पशु में कोई अन्तर नहीं रह जाता क्योंकि दोनों अपना जीवन अपने वातावरण के अनुकूल व्यतीत करने का प्रयत्न करते हैं और जो नही कर पाता वह नष्ट हो जाता है। परन्तु मानव निरा पशु नही है। उसे तो ईश्वर ने सोचने की शक्ति, इच्छा शक्ति तथा आध्यात्मिक शक्ति प्रदान की है। केवल परिस्थिति के अनुकूल अपने आपको बनाना उसके जीवन का उद्देश्य नहीं। उसके जीवन का उद्देश्य तो इससे कहीं ऊंचा है। शिक्षा के इस सीमित तथा संकुचित उद्देश्य से कोई भी व्यक्ति अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि परिस्थिति के अनुकूल अपना जीवन बनाना कोई उत्तम उद्देश्य नही है।

अवकाश का उत्तम उपयोग (To Enjoy Leisure)

अवकाश के समय का उत्तम उपयोग करना शिक्षा का एक उद्देश्य माना गया है। इस उद्देश्य के समर्थकों का विचार है कि शिक्षा उन्हीं लोगों के लिये है जिन्हें जीवन में कुछ अधिक काम नही होता। ऐसे मनुष्यों को अपना समय बिताना कठिन हो जाता है। उन्हें अपना अवकाश का समय काटने के लिये शिक्षा की आवश्यकता होती है जिससे वे कुछ विषयों के अध्ययन करने में अपना समय व्यतीत कर सकें। यदि वे शिक्षा से वंचित रहेंगे तो अपने फुरसत के समय का दुरुपयोग करेंगे। अतः अवकाश का समय का सदुपयोग करने की क्षमता देना शिक्षा का परम उद्देश्य है।

शिक्षा का यह उद्देश्य अत्यन्त ही संकीर्ण है। इस दृष्टि से शिक्षा की उन लोगों को कोई आवश्यकता नहीं जो निरन्तर काम में लगे रहते हैं। इस प्रकार शिक्षा केवल धनी तथा विशेष वर्ग के व्यक्तियों तक सीमित रह जायगी। परन्तु ध्यान रहे कि आज के प्रजातन्त्र युग में शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है। किसी को शिक्षा से वंचित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को उसके जीवन के सभी कार्यों के लिये योग्य बनाना है केवल अवकाश के लिये नहीं। अतः यह उद्देश्य दोषपूर्ण है।

आत्म-बोध (Self-Realisation)

कुछ अन्य व्यक्तियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक का आत्मिक विकास करना है। प्राचीन काल में भारतवर्ष में शिक्षा का उद्देश्य बहुत कुछ यही था। उस समय बालक की आत्मिक-शक्ति की वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया जाता था और ऐसे विषय पढ़ाये जाते थे जिनसे आत्म-बोध हो सके। आत्म-बोध का अर्थ है प्रकृति, पुरुष और ईश्वर को समझना। आत्म-बोध से मनुष्य को सुख, शान्ति और आनन्द प्राप्त होता है। अतः आत्म-बोध का आदर्श अत्यन्त ही उच्च और महान् है। किन्तु इस उद्देश्य में यह कमी है कि यह जीवन के धार्मिक अंग को अत्यधिक प्रधानता देता है। जीवन के व्यावहारिक अङ्ग की यह उद्देश्य बिल्कुल उपेक्षा करता है। अतः इस उद्देश्य के अनुकूल शिक्षा देने से व्यक्ति को सम्पूर्ण जीवन के लिये तैयार नहीं किया जा सकता। ऐसी शिक्षा अधूरी होगी। शिक्षा का वही उद्देश्य उत्तम होगा जिसके अनुसार चलने पर मनुष्य की बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार की शक्तियों का विकास हो सके।

निष्कर्ष (Conclusion)

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शिक्षा के उद्देश्य अनेक हैं और इनमें पर्याप्त भिन्नता है। इस भिन्नता का कारण आपसे छिपा नहीं है। शिक्षा के उद्देश्य देश, काल, व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताओं के अनुसार बदलते रहते हैं। जैसी आवश्यकता हुई उसी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य नियत हो जाता है और उसी के अनुकूल शिक्षा का कार्य-क्रम बन जाता है। ऐसी स्थिति में शिक्षा का कोई एक सर्वमान्य उद्देश्य निश्चित नहीं किया जा सकता। शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन होता ही रहता है। यदि यह परिवर्तन न हो तो शिक्षा का विकास रुक जाय। अतः भिन्न-भिन्न समयों में शिक्षा के भिन्न-भिन्न उद्देश्य थे, रहे हैं और रहेंगे। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि प्रत्येक पूर्वकथित उद्देश्य में कुछ न कुछ ऐसे दोष तथा कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण किसी एक को शिक्षा के एकमात्र उद्देश्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्येक उद्देश्य अपूर्ण तथा एकांगी है। किसी एक उद्देश्य के अनुकूल चलकर हम वाँछित फल की प्राप्ति नहीं कर सकते। यदि शिक्षा

का आदर्श उद्देश्य सम्पूर्ण जीवन को समुन्नत करना है तो व्यक्ति का किसी एक दिशा में विकास करना सर्वथा अनुचित है। केवल एक ही दिशा में विकास करने से व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास नहीं होता और उसका व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है।

अतः शिक्षा का कोई एक ऐसा उद्देश्य होना चाहिए जिससे मनुष्य-जीवन के सभी अङ्गों का विकास हो सके और जिससे व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की समस्त आवश्यकताएं पूरी हो सकें। दूसरे शब्दों में शिक्षा का वही उद्देश्य उत्तम और सर्वमान्य होगा जिसके अनुसरण से मनुष्य का शारीरिक तथा मानसिक विकास हो सके, वह जीविकोपार्जन के लिये कोई व्यवसाय सीख सके, उसका चरित्र-गठन हो सके, उसे स्वतन्त्र रूप से अपनी प्रकृतिदत्त शक्तियों के विकास का अवसर मिल सके तथा उसमें सामाजिकता और नागरिकता के गुणों का विकास हो सके जिससे वह समाज तथा राष्ट्र की सेवा कर सकें। यद्यपि यह सत्य है कि शिक्षा के पूर्व-कथित किसी भी एक उद्देश्य से बालक का उक्त सभी दिशाओं में विकास करना असम्भव है, किन्तु यदि हम समस्त उद्देश्यों का एक सम्मिलित रूप ले लें तो हम उसका वांछित विकास करने की आशा कर सकते हैं। इस प्रकार शिक्षा का आदर्श उद्देश्य वही है जो व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास इस प्रकार करे कि वह समाज की उन्नति में सहायक हो सके। इस प्रकार के उद्देश्य के अन्तर्गत शिक्षा के सभी उद्देश्य आ जाते हैं। यह उद्देश्य मानव-जीवन के किसी भी अङ्ग की उपेक्षा नहीं करता अर्थात् इससे व्यक्ति को जीवन के सभी अङ्गों को विकसित तथा शिक्षित करने का अवसर मिलता है। इसके द्वारा व्यक्तित्व का विकास तथा सामाजिक प्रगति दोनों ही सम्भव हैं। शिक्षा के इस प्रकार के उद्देश्य से सभी व्यक्तियों को अपनी योग्यताओं तथा विशेषताओं को पूर्ण रूप से विकसित करने का तथा अपनी बुद्धि और योग्यतानुसार समाज की सेवा करने का अवसर प्राप्त होता है। इस उद्देश्य को मानकर शिक्षा देने में मनुष्य की समस्त वैयक्तिक तथा सामाजिक आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं। अतः यही उद्देश्य शिक्षा का एक आदर्श उद्देश्य माना जा सकता है। प्रसिद्ध शिक्षा-दार्शनिक ड्यूवी (Dewey) शिक्षा के इस उद्देश्य से सहमत हैं। लगभग सभी आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा के इस आदर्श उद्देश्य को अपनाया है। प्रजातन्त्रवादियों ने अपने आदर्शों को ध्यान में रख कर इसी उद्देश्य को सर्वोत्तम माना है। यह उद्देश्य सभी देशों तथा कालों में मान्य हो सकता है। अतः यही उद्देश्य शिक्षा का एक आदर्श उद्देश्य माना जा सकता है।

प्रश्न

(१) शिक्षा के भिन्न-भिन्न उद्देश्यों का वर्णन संक्षेप में कीजिये। आप किस उद्देश्य से अधिक सहमत हैं और क्यों ?

(२) "The one and the sole aim of education is Morality." इस कथन की समालोचना कीजिए और यह बताइये कि आप स्कूलों में इस उद्देश्य को किस प्रकार सम्पन्न करेंगे।

(३) भारत की प्रस्तुत राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के बीच आपके मतानुसार भारत की शिक्षा का क्या उद्देश्य होना चाहिए ?

(४) कुछ शिक्षा विशेषज्ञों के विचार के अनुसार व्यक्तित्व का पूर्ण विकास ही शिक्षा का ध्येय होना चाहिए, परन्तु दूसरों के अनुसार सामाजिक विकास ही जनतन्त्र में शिक्षा का मुख्य ध्येय होना चाहिए। इन दोनों विपरीत विचारधाराओं में आप किस प्रकार सामजस्य स्थापित करेंगे ?

(५) निम्नांकित उद्देश्यों की आलोचना कीजिए :—

(a) शिक्षा के मनोवैज्ञानिक उद्देश्य।
(b) शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य।
(c) शिक्षा के नैतिक उद्देश्य।

(६) "The ultimate end of education is ethical rather than Political." इस कथन की समालोचना कीजिए।

(७) शिक्षा के सामाजिक तथा वैयक्तिक उद्देश्यों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए। सकारण अभिमान भी दीजिए।

(८) "शिक्षा के उद्दश्यों में देश, काल और पात्र के अनुसार परिवर्तन होता रहता है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

(९) व्यक्तित्व के सर्वांगीण तथा पूर्ण विकास का क्या तात्पर्य है ? शिक्षा द्वारा यह विकास किस प्रकार सम्भव है ? उदाहरण द्वारा अपने उत्तर को स्पष्ट कीजिए।

(१०) शिक्षा के मुख्य उद्देश्य क्या हैं ? शिक्षा द्वारा मानसिक विकास किस प्रकार और किन साधनों से सम्भव है ?

(११) "व्यक्ति को समाज के अनुरूप बना देना शिक्षा का एक आवश्यक परन्तु अपर्याप्त लक्ष्य है।"—कारण सहित समझाइये कि यह मत आपको कहाँ तक मान्य है ?

(१२) आपके मतानुसार आधुनिक भारत में माध्यमिक शिक्षा के क्या मुख्य लक्ष्य होने चाहिए ? इनकी पूर्ति के लिये आपके क्या सुझाव हैं ?

(१३) प्रजातन्त्र में शिक्षा के उद्देश्यों का निरूपण तथा आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

तीसरा अध्याय

दर्शन और शिक्षा का सम्बन्ध

(Philosophy and Education)

पिछले अध्याय में शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों की चर्चा करते समय हमने कहीं-कहीं पर दार्शनिक विचारधाराओं का उल्लेख किया है। इन दार्शनिक विचार-धाराओं ने समय-समय पर शिक्षा के उद्देश्यों को प्रभावित किया है। शिक्षा के उद्देश्य समय-समय पर दार्शनिक विचारधाराओं के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होते रहे हैं। दूसरे शब्दों में शिक्षा के क्षेत्र और नियमों पर दर्शन ने अपना अमिट प्रभाव आदि काल से ही रखा है। शिक्षा पर दर्शन के प्रभावों को समझने के लिए यह परमावश्यक है कि हम शिक्षा और दर्शन का सम्बन्ध भली प्रकार समझ लें। शिक्षाविदों तथा दर्शन के आचार्यों का कथन है कि दर्शन और शिक्षा का आपस में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस घनिष्ठता के कारण जो शिक्षा की समस्याएं होती हैं वे ही दर्शन की समस्याएं बन जाती हैं। इस घनिष्टता को बतलाते हुए फिक्टे (Fichte) महोदय ने कहा है कि "शिक्षा दर्शन-शास्त्र की सहायता के बिना पूर्णता और स्पष्टता को प्राप्त नहीं कर सकती।" प्रसिद्ध दार्शनिक 'ड्यूवी' (Dewey) ने भी इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। उनके अनुसार अपनी साधारण अवस्था में शिक्षा-सिद्धान्त ही दर्शन है। (Philosophy may be defined as the general theory of Education.) 'रॉस' (Ross) महोदय ने इन दोनों के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि दर्शन और शिक्षा में कोई अन्तर नहीं। वे एक ही वस्तु के दो पहलू हैं।

असमानता— परन्तु कुछ व्यक्ति उक्त कथन की सत्यता में संदेह करते हैं। उनका कथन है कि शिक्षा जीवन की उन बातों से सम्बन्ध रखती है जो वास्तविक और स्थूल हैं, जबकि दर्शन उन बातों से सम्बन्ध रखता है जो सूक्ष्म हैं, जीवन से परे हैं। दूसरे शब्दों में दर्शन एक गूढ़ विषय है और शिक्षा एक व्यावहारिक, इस प्रकार इन दोनों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। फिर इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? शिक्षक, जो हर समय जीवन के वास्तविक तथा व्यावहारिक तथ्यों के सम्पर्क में रहता है, अवश्य ही उस दार्शनिक से भिन्न है जो हर घड़ी गूढ़ व वैकल्पिक विषय में उलझा रहता है। किन्तु यदि हम इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचकों ने दर्शन के प्रति अपने संकुचित विचारों के कारण ही शिक्षा और दर्शन में यह असमानता दिखलाई है। यदि हम दर्शन-शास्त्र और शिक्षा के अर्थ भली प्रकार समझ लें तो इन दोनों विषयों की समानता स्पष्ट हो जाती है। अतः सर्वप्रथम हमें इन विषयों के भिन्न-भिन्न अर्थों को समझ लेना चाहिए।

दर्शन-शास्त्र का अर्थ:—दर्शन-शास्त्र कोई ऐसा विषय नहीं जो केवल बुद्धि-जीवियों तक ही सीमित हो। अथवा यह कोई ऐसी कला नहीं जो सूक्ष्म पदार्थों से ही सम्बन्धित हो और जिसे कुछ ही व्यक्ति समझ सकते हों। इसके विपरीत सभी वस्तुओं को तर्कपूर्ण, विधिपूर्वक तथा लगातार विचारने की कला का नाम ही दर्शन है। और वे सब दार्शनिक हैं जो किसी कार्य को करने से पूर्व भली प्रकार सोच-विचार कर लेते हैं। इस प्रकार दर्शन मानव-जीवन में चिन्तन तथा विचार-विमर्श से सम्बन्ध रखता है। जिस ब्रह्मांड में हम निवास करते हैं उसका स्वरूप क्या है? जीवन का स्वरूप, उद्देश्य तथा अन्त क्या है? ईश्वर का स्वरूप क्या है तथा इन सब का आपस में सम्बन्ध क्या है? दर्शन इन प्रश्नों का अध्ययन करता है। दूसरे शब्दों में इनके उत्तर देने का प्रयास ही दर्शन का विषय है। वे सब व्यक्ति जो उक्त प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास करते हैं—दार्शनिक हैं, चाहे वे भौतिकवादी हों और चाहे अध्यात्मवादी। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के उद्देश्य तथा मूल्य का चिन्तन करता है। जगत तथा समाज जिसमें वह रहता है उसके स्वरूप, मूल्य तथा प्रयोजन का भी मनन करता है, और मनन करने के पश्चात् उनके प्रति अपनी कुछ धारणायें बना लेता है। यही धारणायें उसका जीवन-दर्शन (Philosophy of Life) कहलाती हैं। इन्हीं धारणाओं के अनुसार वह अपना जीवन व्यतीत करता है। दूसरे शब्दों में इन्हीं के आधार पर वह अपना जीवन आदर्श चुन लेता है जिसकी प्राप्ति के लिये वह एक विशेष मार्ग का अनुसरण करता है। अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से दूसरों के जीवन को भी वह एक विशेष दिशा की ओर गतिमान करता है। दर्शन के इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टिपात करने से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि प्रायः सभी महान् पुरुषों ने अपने जीवन-दर्शन को इसी प्रकार बनाया है और उससे दूसरों को प्रभावित किया है। इस प्रकार दर्शन प्रकृति, वस्तुओं, व्यक्तियों तथा उनके जीवन, उत्पत्ति और उद्देश्यों पर विचार करने की एक कला है।

शिक्षा क्या है?—दर्शन शास्त्र का अर्थ समझ लेने के पश्चात् यह भी जान लेना आवश्यक है कि शिक्षा क्या है? यद्यपि शिक्षा के विभिन्न अर्थों की व्याख्या हम पहले ही कर चुके हैं तथापि इस सम्बन्ध में यहाँ पर कुछ बता देना अप्रासंगिक न होगा। ऐडम्स (Adams) महोदय के अनुसार "शिक्षा दर्शन-शास्त्र का गत्यात्मक पहलू है।" (Education is the dynamic side of Philosophy) "अथवा जीवन के आदर्शों को प्राप्त करने का प्रयोगात्मक साधन है।" इस प्रकार शिक्षा व्यक्ति को जीवन के उन लक्ष्यों अथवा आदर्शों की प्राप्ति कराती है जो दार्शनिकों द्वारा निर्धारित किये जाते हैं।

शिक्षा और दर्शन के अर्थों के विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों में आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दर्शन-शास्त्र ने समय-समय पर शिक्षा के

विभिन्न अङ्गों को प्रभावित किया है। दूसरे शब्दों में, दार्शनिक विचारधाराओं
परिवर्तन के साथ साथ शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्य-विषय, पाठ्य-विधि, पाठ्य-पुस्त
इत्यादि में परिवर्तन होता रहा है। यदि हम शिक्षा के इतिहास के पृष्ठों पर दृ
पात करें तो हमें प्राचीन काल की शिक्षा, मध्य काल की शिक्षा तथा आज की शि
मे एक महान् अन्तर दृष्टिगत होता है। यह अन्तर दार्शनिक विचारों के अन्तर
प्रभाव के कारण से ही है। स्पष्ट है कि शिक्षा दर्शन से प्रभावित होती रही
शिक्षा के विभिन्न अङ्गों को दर्शन ने किस प्रकार प्रभावित किया है इसका अध्य
कर लेने से इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध और भी स्पष्ट हो जाता है। अतः
हम शिक्षा के विभिन्न अङ्गों पर दर्शन के प्रभाव का विवेचन करेंगे।

दर्शन-शास्त्र और शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा का कोई एक उद्देश्य अवश्य होता है क्योंकि निरुद्देश्य शिक्षा निर
से भी बुरी है। उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बालक हर समय क्रियाशील रहता है।
आधार पर शिक्षा को 'सोद्देश्य प्रक्रिया' (Purposeful activity) कहा गया
शिक्षा का उद्देश्य जीवन के उद्देश्य पर निर्भर होता है। जीवन के उद्देश्यों
भिन्नता होने के कारण ही शिक्षा के उद्देश्यों में अन्तर है। देश, काल तथा स
की विचारधाराओं के अनुसार जो कुछ भी जीवन का उद्देश्य होता है वही शिक्षा
उद्देश्य बन जाता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करता
परन्तु जीवन का लक्ष्य निर्धारित करना दार्शनिकों का काम है, शिक्षकों का न
दार्शनिक समय-समय पर अपनी विचारधाराओं तथा समाज की आवश्यकताओं
अनुसार जीवन के लक्ष्य निर्धारित करते रहे हैं और ज्यों-ज्यों जीवन के लक्ष्य ब
रहे हैं त्यों-त्यों शिक्षा के उद्देश्यों में भी परिवर्तन होता रहा है। यदि मानव जी
के लक्ष्यों के साथ शिक्षा के उद्देश्यों का समन्वय नहीं होता, तो फिर उसमे एक अ
का अधूरापन रह जाता है। जीवन के लक्ष्यों को ही सामने रखकर शिक्षा अपने
मे अग्रसर होती है और व्यक्तियों को इस योग्य बनाता है कि वे जीवन के उद्देश्
सफलतापूर्वक प्राप्त कर सकें। इस प्रकार दार्शनिक जीवन का लक्ष्य निर्धारित
है और शिक्षक बालकों को उस लक्ष्य की प्राप्ति की क्षमता प्रदान करते हैं।
उदाहरणों पर विचार करने से दर्शन-शास्त्र का शिक्षा के उद्देश्यों पर प्रभाव वि
स्पष्ट हो जाता है। सर्वप्रथम स्पार्टा (Sparta) को लीजिए। प्राचीन काल
दार्शनिक विचारधारा के अनुसार देश की रक्षा करना स्पार्टा निवासियों के जीव
सर्व था। जीवन के लक्ष्य के अनुसार ही सच्चे देश-भक्त तथा वीर सैनिक नि
करना वहां की शिक्षा का परमोद्देश्य समझा जाता था और इसी उद्देश्य के अ
वहां शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। एथेन्स (Athens) निवासियों की शि

धारा के अनुसार जीवन का उद्देश्य व्यक्ति के शारीरिक सौन्दर्य, चारित्रिक गुण तथा सौन्दर्यानुभूति की वृद्धि करना था। इसी से वहां की शिक्षा-प्रणाली में व्यक्ति का महत्व अधिक था। बालकों को ऐसे विषय पढ़ाये जाते थे जिनसे उक्त गुणों का विकास सम्भव था। रोम (Rome) निवासी अपने जीवन में अधिकार तथा कर्तव्य को विशेष महत्व देते थे। अतः वहां को शिक्षा की व्यवस्था इसी उद्देश्य के अनुसार थी। प्राचीन काल में भारतवर्ष में धर्म ही जीवन का आधार था। अतः यहां पर विश्व-व्यापी चेतना अथवा ईश्वर को पहिचानना, आत्म-शक्ति का विकास तथा आध्यात्मिक उन्नति करना जीवन का प्रमुख उद्देश्य माना गया था। इस विचारधारा से शिक्षा पूर्णरूपेण प्रभावित थी और उक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के हेतु साधन के रूप में चलती रही। मानव के प्रत्येक कर्म ईश्वर के स्मरण के साथ प्रारम्भ होते थे और पढ़ने के प्रारम्भ तथा अन्त में 'ओम्' का उच्चारण किया जाता था। उक्त उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही यहां की शिक्षा के पाठ्य-क्रम में वेद, उपनिषद् आदि धर्म-ग्रन्थों को प्रमुख स्थान दिया गया था। इस प्रकार यहां की प्राचीन काल की शिक्षा का कलेवर धर्म दर्शन के सिद्धान्तों से ओत-प्रोत था।

मध्य काल में दार्शनिक विचारधाराओं के चढ़ाव-उतार के साथ-साथ जीवन के लक्ष्य बदलते रहे और उन्हीं के अनुरूप शिक्षा-पद्धति भी परिवर्तित होती रही। वर्तमान काल भी इस सत्य से अछूता नहीं रहा। आज भी शिक्षा राष्ट्र के नेताओं की विचारधाराओं से तथा समाज के आदर्शों से पूर्णरूपेण प्रभावित है। लगभग सभी राष्ट्रों ने राष्ट्र की आवश्यकताओं तथा विचारधाराओं के अनुकूल जीवन के लक्ष्य निर्धारित किये हैं और इन्हीं लक्ष्यों के आधार पर शिक्षा के उद्देश्य निश्चित किये हैं। जर्मनी में गत वर्षों में विश्वविजयी होने की भावना प्रधान थी। फलतः युद्ध-विद्या में निपुण सैनिक पैदा करना वहाँ की शिक्षा का उद्देश्य था। इङ्गलैंड में प्रजातन्त्र की भावना प्रबल है। वहां बालक के व्यक्तित्व का विकास शिक्षा का मुख्य उद्देश्य माना जाता है। अमेरिका की विचारधारा व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व देती है। अतः वहां की शिक्षा का उद्देश्य बालक को समाज का एक उपयोगी अङ्ग बनाना है। रूस में साम्यवाद की विचारधारा प्रबल है। अतः वहां की शिक्षाप्रणाली साम्यवाद के आदर्शों पर आधारित है। भारत में अङ्गरेजी शासन काल में देश को ऐसे मनुष्यों की आवश्यकता थी जो शासन प्रबन्ध में सहायता दे सकें। अतः यहां पर क्लर्क बनाना शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य बन गया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश को उत्तम नागरिकों की आवश्यकता है, इसलिये हमारी वर्तमान शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को उत्तम नागरिक बनाना है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा के उद्देश्य देश तथा काल की विचार-धाराओं से सदैव ही प्रभावित हुए हैं, और होते रहेंगे।

दर्शन-शास्त्र और पाठ्य-क्रम

शिक्षा का पाठ्य-क्रम भी दर्शन पर निर्भर है। देश की विचारधाराओं, उसकी आवश्यकताओं, आकांक्षाओं तथा आदर्शों के अनुरूप ही शिक्षा का पाठ्य-क्र बनता है। दूसरे शब्दों में पाठ्य-क्रम का संगठन राष्ट्र के नेताओं और दार्शनि पर निर्भर होता है क्योंकि साधारणतया जीवन तथा देश के आदर्श महान् व्यक्ति तथा दार्शनिकों द्वारा ही निर्धारित किये जाते हैं। अतः पाठ्य-क्रम में उन्हीं विष को स्थान दिया जाता है जो उन भावनाओं तथा आदर्शों के पोषक हों जिनकी दे अथवा समाज को आवश्यकता होती है। प्रसिद्ध दार्शनिक 'स्पेन्सर' (Spence अपने 'आनन्द-जीवी दर्शन' (Hedonistic philosophy) में विश्वास रखते हु कहते हैं कि "आत्म-रक्षा ही मानव जीवन का मुख्य लक्ष्य है इसलिए पाठ्य-क में उन्हीं विषयों को स्थान देना चाहिए जो आत्म-रक्षा के साधन हैं।" अतः उन्हो पाठ्य-क्रम में उन विषयों को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जो उनके आदर्श अनुकूल न थे। इसी प्रकार दूसरे दार्शनिकों ने भी अपनी-अपनी विचारधारा अनुसार शिक्षा के पाठ्य-क्रम के संगठन के सम्बन्ध में अपने-अपने विचार प्रस्तु किये हैं। अपने-अपने मतानुसार उन्होंने किन किन विषयों को पाठ्य क्रम में स्था दिया है इसकी चर्चा हम अन्यत्र करेंगे।

दर्शन-शास्त्र और पाठ्य-पुस्तकें

पाठ्य-पुस्तकों का चुनाव भी दर्शन-शास्त्र पर निर्भर है। पाठ्य-पुस्तकों चुनाव में आदर्शों तथा सिद्धान्तों की उतनी ही आवश्यकता है जितनी पाठ्य-क के संगठन में। जीवन के आदर्शों तथा शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के साधनों पुस्तकों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुस्तकों के द्वारा ही बालकों में वांछि भावनाएं उत्पन्न की जा सकती है और निश्चित आदर्शों के प्रति उनमें श्रद्धा उत्प की जा सकती है। अतः पुस्तकों का चुनाव करते समय हमें यह देखना अपेक्षित कि उनमें निश्चित आदर्शों तथा भावनाओं को प्रधानता दी गई है अथवा नहीं इस प्रकार पुस्तकों का चुनाव जीवन के आदर्शों, भावनाओं, दार्शनिक विचारधाराओं एवं सिद्धांतों पर आश्रित है।

दर्शन-शास्त्र और शिक्षण-विधियाँ

ऊपर कहा जा चुका है कि देश की आवश्यकताओं के अनुसार दर्शन में परिवर्त होता है और दार्शनिक धाराओं के अनुसार शिक्षा के उद्देश्यों तथा शिक्षण-विधि का क्रम चलता है। इसलिए शिक्षण-विधि का चुनाव दर्शन का प्रश्न है। जीवन आदर्शों को प्राप्त करने के लिए किस शिक्षण-विधि का प्रयोग किया जाय यह दर्श शास्त्र ही बतलाता है। लक्ष्य को ध्यान में रखकर आगे बढ़ना ही सफलता का कि

है। यह नियम जिस प्रकार अन्य कार्यों में लागू होता है उसी प्रकार शिक्षण के कार्यों में भी लागू होता है। शिक्षा के नवीनतम सिद्धान्तानुसार शिक्षा का केन्द्र बालक माना गया है। अब शिक्षा में पाठ्य-क्रम तथा शिक्षक की अपेक्षा बालक को अधिक महत्व दिया जाता है। समस्त शिक्षा कार्य उसी को ध्यान में रख कर किया जाता है और उन्हीं शिक्षण-विधियों को अपनाया जाता है जिनसे बालक का स्वाभाविक विकास सम्भव है। यह सब प्रकृतिवाद की विचार धारा का फल है। प्रकृतिवाद ने एक नई शिक्षण-विधि को जन्म दिया और बालक को शिक्षा का केन्द्र बना दिया। बालक पुस्तकों में ही फंसा न रह कर प्रकृति की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में स्वयं ज्ञान प्राप्त करे – इस शिक्षण-विधि को प्रकृतिवादी विचारधारा ने जन्म दिया है। इसी प्रकार अन्य धाराओं ने भी दूसरी शिक्षण विधियों को जन्म दिया है जिनका उल्लेख आगे किया जायगा।

दर्शन–शास्त्र और अनुशासन

शिक्षा के अन्य अङ्गों की भाँति अनुशासन भी दर्शन शास्त्र पर निर्भर है। देश और काल की विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं विशेषतः राजनीतिक विचारधाराओं ने समय-समय पर शिक्षा में अनुशासन की समस्या को अपने ही ढंग से सुलझाया है। यदि हम किसी काल की दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारधारा और पाठशालाओं में प्रचलित अनुशासन पर दृष्टिपात करें तो हमें उन दोनों में बड़ी अनुरूपता दिखलाई पड़ती है। उदाहरणार्थ स्पार्टा को लीजिए। स्पार्टनों का उद्देश्य राष्ट्र की रक्षा करना था। अतः वहाँ की पाठशालाओं में सैनिक अनुशासन प्रचलित था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्कूल का अनुशासन देश की विचारधारा के अनुरूप होता है। दूसरे शब्दों में स्कूल के अनुशासन से हमें सामयिक-जीवन-दर्शन एवं तत्कालीन राजनीति-दर्शन का ज्ञान होता है। एडम्स (Adams) महोदय ने अपनी पुस्तक "माडर्न डेवलपमेन्ट इन एजुकेशनल प्रैक्टिस" (Modern Development in Educational Practice) में तीन प्रकार के अनुशासन की चर्चा की है। वे इस प्रकार हैं :—

(१) दमनात्मक अनुशासन (Repressionistic Discipline)।
(२) प्रभावात्मक अनुशासन (Impressionistic Discipline)।
(३) मुक्त्यात्मक अनुशासन (Emancipationistic Discipline)।

अनुशासन के उक्त तीन रूप तीन प्रकार की दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारधाराओं की ओर संकेत करते हैं —दमनवादी, प्रभाववादी तथा मुक्तिवादी। दमनवादी विचारधारा स्वेच्छाचारी शासन की ओर संकेत करती है। स्वेच्छाचारी शासन का आशय था कि बालक को दबाकर बलपूर्वक नियन्त्रण में रखा जाय।

अतः स्कूलों का अनुशासन दण्ड तथा आदेश पर आधारित था। दमनवादी पूर्ण अनुशासन के पक्षपाती थे। प्रभाववादी भी पूर्ण अनुशासन का समर्थन करते हैं किन्तु वे दण्ड अथवा भय के आधार पर अनुशासन स्थापित करने के पक्ष में नहीं हैं। प्रभाववादियों के मतानुसार बालक में विनय की भावना आदर्शों द्वारा उत्पन्न करनी चाहिए। शिक्षक अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से बालकों में अनुशासन स्थापित करे। मुक्तिवादियों का विचार है कि बालक को इस विषय में पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय और उसे अपने ऊपर अपने नियन्त्रण (Self-control) की जिम्मेदारी दे दी जाय। उनके कथनानुसार बालकों की प्रकृति साधु होती है, हमें उन पर विश्वास करना चाहिए। प्रकृतिवादी मुक्त्यात्मक अनुशासन के समर्थक हैं और आदर्शवादी प्रभावात्मक अनुशासन के। आजकल मुक्तिवादी विचारधारा का जोर है। इसी कारण शिक्षा में 'अनुशासन और स्वतन्त्रता' (Freedom and Discipline) की चर्चा हर स्थान पर सुनाई देती है। उक्त विचारधाराओं के अतिरिक्त अन्य कई विचारधाराओं ने अनुशासन स्थापन के ढंगों पर प्रकाश डाला है। इनकी चर्चा हम किसी अन्य स्थान पर करेंगे।

दर्शन-शास्त्र और शिक्षक

शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। प्रत्येक शिक्षक के अपने जीवन के आदर्श एवं उद्देश्य होते हैं। इन उद्देश्यों की महानता में उसे दृढ़ विश्वास होता है। अतः शिक्षा देते समय वह बालकों का ध्यान बार-बार अपने आदर्शों तथा उद्देश्यों की ओर आकर्षित करता है जिससे वे भी उनकी महानता समझ जायें और उन्हें प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करें। दूसरे शब्दों में प्रत्येक शिक्षक अपनी दार्शनिक विचारधाराओं से बालकों को प्रभावित करता है। शिक्षा के विभिन्न अंगों अर्थात् उद्देश्य पाठ्य-क्रम, पाठ्य-विषय, कक्षा-प्रबन्ध, अनुशासन इत्यादि पर उसके आदर्शों की छाप होती है। वह अपनी धारणाओं के अनुसार इनकी व्यवस्था करता है। जिस शिक्षक की जीवन के प्रति कोई निश्चित धारणा नहीं होती वह बालकों के समक्ष न कोई आदर्श रख सकता है और न उन्हें किसी आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रेरित कर सकता है। बिना आदर्श के शिक्षा निरर्थक है। शिक्षा में शिक्षक का क्या स्थान है? इसका निर्णय विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं ने अपने-अपने ढंग पर किया है। अतः दार्शनिक विचारधाराओं के इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं जिनका उल्लेख आगे किया जायगा। इस प्रकार शिक्षक, उसका शिक्षा में स्थान, उसके गुण अथवा कार्य सभी दार्शनिक विचारधाराओं पर आश्रित रहते हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन और शिक्षा में घनिष्ठ सम्बन्ध है और शिक्षा दार्शनिक विचारों से सदैव ही प्रभावित होती रही है।

यदि हम शिक्षा और दर्शन के इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टि पात करें तो हमें ज्ञात होगा कि संसार का प्रत्येक दार्शनिक किसी ने किसी रूप में शिक्षक रहा है और प्रत्येक शिक्षा-शास्त्री दार्शनिक। उदाहरणार्थ सुकरात (Socrates) को लीजिए। सुकरात यूनान का एक महान दार्शनिक था परन्तु उसने प्रश्नों द्वारा शिक्षा प्रदान करने की प्रणाली को जन्म दिया है जो कि 'सुकरात-प्रणाली' (Socratic Method) के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार सुकरात एक महान् दार्शनिक होते हुए भी एक महान् शिक्षा-शास्त्री था। इसी प्रकार प्लेटो (Plato) भी संसार का एक प्रसिद्ध दार्शनिक था। वह आदर्शवाद (Philosophy of Idealism) का प्रमुख प्रवर्तक था। परन्तु उसने जीवन आदर्शों की प्राप्ति का मुख्य साधन शिक्षा बतलाया। इसी विचार से उसने एक शिक्षा योजना तैयार की थी जो अभी तक शिक्षा की समस्याओं का समाधान करने में हमारा पथ-प्रदर्शन करती है। इस प्रकार प्लेटो आरम्भ में एक महान दार्शनिक था किन्तु आगे चलकर एक बड़ा शिक्षा शास्त्री बन गया। अरस्तु (Aristotle) की रचनाओं में दर्शन और शिक्षा का सम्बन्ध स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। दार्शनिक रुप में लॉक (Locke) ने विचारों की पवित्रता पर बल दिया और इसकी प्राप्ति का साधन शिक्षा बतलाया। इस प्रकार के उदाहरणों की कोई कमी नहीं है। रूसो, पेस्टालॉजी, ड्यूवी, स्पेन्सर, ईसा, कृष्ण, महात्मा बुद्ध, गुरु गोविन्द सिंह महात्मा गाँधी आदि अपने-अपने समय के महान् दार्शनिक थे। इन्होंने अपनी-अपनी विचारधाराओं से शिक्षा को अनेक प्रकार से प्रभावित किया और अन्त में स्वयं भी शिक्षा-शास्त्री बन गये। रौस का कथन है कि आधुनिक दार्शनिक भी शिक्षण-व्यवस्था की विवेचना अपने-अपने जीवन-दर्शन के अनुसार करते हैं। इनमें 'एच. जी. वेल्स' (H. G. Wells), 'बर्ट्रेन्ड रसेल' (Bertrand Russel), 'हक्सले' (Huxley), 'फिंडले' (Findley), आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त विवरण से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि शिक्षा दर्शन पर आश्रित है और दार्शनिकों की शैक्षिक प्रक्रियायें उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का ही व्यावहारिक रूप हैं।

उपर्युक्त विवरण से एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि शिक्षा द्वारा दर्शन को क्रियाशीलता मिलती है। अतएव कुछ विद्वान् यह निष्कर्ष निकालते हैं कि शिक्षा और दर्शन अन्योन्याश्रित विषय हैं। दर्शन जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है जिससे शिक्षा को अपने उद्देश्यों का दिग्दर्शन होता है। दर्शन हमारा ध्यान इन उद्देश्यों की ओर आकर्षित करता है। दार्शनिक विचारों का प्रभाव पाठ्य-क्रम, समय-विभाग, शिक्षण-पद्धति, अनुशासन तथा शिक्षालय की व्यवस्था पर पड़ता है। यदि दार्शनिक तथा अन्य विचारों द्वारा हमें शिक्षा-क्षेत्र का मार्ग-दर्शन न मिले तो हमें दिशा-भ्रम हो जाय और शिक्षा अर्थ-हीन। अतः शिक्षा वास्तव में दर्शन का व्यावहारिक रूप है। साथ ही दर्शन को भी शिक्षा से क्रियाशीलता प्राप्त होती है। शिक्षा नई-नई

समस्याओं को उत्पन्न करके दर्शन को उन समस्याओं का समाधान करने के लिये प्रेरित करती है और उन शंकाओं के समाधान के लिये किये गये चिन्तन के परिणाम-स्वरूप नई-नई दार्शनिक विचारधाराएं उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार शिक्षा दार्शनिक विचारधाराओं का संशोधन और सुधार करती है। और फिर नई-नई विचारधाराएं आगे चलकर शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन तथा परिमार्जन करती हैं। इस प्रकार दर्शन से शिक्षा की व्यवस्था में सहायता मिलती है और शिक्षा से दर्शन-शास्त्र के विकास में। अतः दर्शन और शिक्षा अपने-अपने विकास के लिये एक दूसरे पर निर्भर हैं। शिक्षा और दर्शन की व्याख्या करते हुए 'रौस' (Ross) महोदय ने लिखा है, "शिक्षा और दर्शन एक ही सिक्के के दो चेहरे हैं। एक से दूसरा पृथक् नहीं अपितु एक में दूसरा निहित है"* अन्य विद्वानों ने भी इन दोनों के सम्बन्ध को अपने-अपने शब्दों में निम्न प्रकार से व्यक्त किया है:—

Fichte :—"The art of education will never attain complete clearness in itself without philosophy."

"शिक्षा दर्शन-शास्त्र की सहायता के बिना पूर्णता और स्पष्टता को प्राप्त नहीं कर सकती।" —फिक्टे

Gentile :—"The process of education cannot go along right lines without the help of philosophy."

"शिक्षा, दर्शन की सहायता के बिना सही मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकती।" —जेन्टिले

Dewey :—"Philosophy is the theory of education in its most general phases."

"अपनी साधारण अवस्था में, शिक्षा सिद्धान्त ही दर्शन है।" —ड्यूवी

Spencer :—"True education is practicable only to a true philosopher."

"वास्तविक शिक्षा का संचालन, वास्तविक दार्शनिक ही कर सकता है।" —स्पेन्सर

अब इसमें कोई संदेह नहीं है कि दर्शन और शिक्षा पूर्ण रूप से सम्बन्धित हैं। देश तथा समाज की आवश्यकताओं के अनुसार राजनीतिक तथा धार्मिक विचारधाराएं उत्पन्न होती हैं और उनके अनुसार शिक्षा के उद्देश्य तथा पद्धति निश्चित की जाती

* "Philosophy and Education, like the two sides of the same coin, present different views of the same thing........"
—*Philosophy and Education by Ross, Page 11.*

है। अतः शिक्षा के उद्देश्य, व्यवस्था, संगठन, अनुशासन एवं शिक्षण पद्धतियों का विकास समझने के लिये दार्शनिक विचारधाराओं का ज्ञान प्राप्त करना अपेक्षित है। दूसरे शब्दों में दर्शन शिक्षक के कार्य को सरल बना देता है। अस्तु, टॉमसन का कथन है कि प्रत्येक शिक्षक को शिक्षा-दर्शन का महत्त्व समझना चाहिए और उसमें रुचि लेनी चाहिए। परन्तु कुछ शिक्षक इस कथन में विश्वास नहीं करते। यद्यपि वे शिक्षा और दर्शन के परस्पर सम्बन्ध का समर्थन करते हैं तथापि वे शिक्षा को दर्शन से तटस्थ रखने की और शिक्षा कार्य में शिक्षक को बिना दर्शन की सहायता के आगे बढ़ने की राय देते हैं। इन व्यक्तियों के कथनानुसार संसार में अनेक दार्शनिक धाराएँ फैली हुई हैं। इन धाराओं में परस्पर पर्याप्त विरोध है। इन धाराओं के परस्पर विरोधी होने के कारण यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए और शिक्षा का आदर्श क्या होना चाहिए। भारतवर्ष के शिक्षा-क्षेत्र में जो वर्तमान शिथिलता दिखलाई पड़ती है उसका प्रमुख कारण शिक्षा के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक विचारों की उपस्थिति ही है। ऐसी दशा में क्या शिक्षक वर्ग तब तक हाथ पर हाथ रखे बैठा रहे जब तक दार्शनिक लोग अपने विचारों का फैसला नहीं कर लेते अथवा किसी निर्णय पर नहीं पहुँच जाते? ऐसी स्थिति बड़ी ही अशुभ होगी। अतः उनके कथनानुसार शिक्षा को दार्शनिक एवं राजनैतिक विचारों के झगड़ों से मुक्त कर देना चाहिए और शिक्षक को शिक्षा-कार्य में पूर्ण स्वतन्त्रता दे देनी चाहिए। ऐसे ही विचारों को प्रस्तुत करते हुए हरबार्ट (Herbart) महोदय ने एक स्थान पर लिखा है कि "शिक्षा तब तक छुट्टी नहीं मना सकती जब तक दार्शनिक शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं का समाधान नहीं कर लेते।" (Education has no time to make an holiday till philosophical questions are once for all cleared up.) उपर्युक्त विचार अत्यन्त ही संकीर्ण हैं। इन विचारों का खण्डन करते हुए 'जेन्टिले' (Gentile) महोदय ने कहा है कि "जो व्यक्ति इस बात में विश्वास रखते हैं कि दर्शनविहीन होने पर भी शिक्षण-प्रक्रिया उत्तम रीति से चल सकती है वे शिक्षा के पक्षों को पूर्णरूपेण समझने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं।" (The belief that men may continue to educate without concerning themselves with Philosophy, means a failure to understand the precise nature of education.) इसी प्रकार के विचार 'नन' (Nunn) महोदय ने भी व्यक्त किये हैं। उनका कथन है कि हमें शिक्षा को दर्शन से तटस्थ नहीं रखना चाहिए वरन् एक उपयुक्त एवं दृढ़ धारा का निर्माण करना चाहिए, जो शिक्षा के क्षेत्र में हमारा पथ प्रदर्शन करे। स्पष्ट है कि शिक्षा को दर्शन से अलग नहीं रखा जा सकता। अस्तु आगे के अध्यायों में हम उन दार्शनिक विचारधाराओं का अध्ययन करेंगे जिनका प्रभाव शिक्षा पर पड़ा है अथवा पड़ सकता है।

प्रश्न

१. "दर्शन और शिक्षा एक ही वस्तु के दो पहलू हैं।" इस पर टिप्पणी कीजिए।

२ "शिक्षा दर्शन का गत्यात्मक पहलू है।" इस कथन की समीक्षा कर अपना मत दीजिए।

३ "Philosophy is the theory of Education in its most general phases." (*Dewey*) इस कथन की समालोचना कीजिए।

४. "Education has no time to make an holiday till philosophical questions are once for all cleared up." इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ? इस कथन की समालोचना कीजिए और शिक्षा एवं दर्शन के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।

५. शिक्षा के उद्देश्य दर्शन से प्रभावित होते हैं। इस कथन के सत्य की पुष्टि कीजिए।

६. 'बिना ठोस दार्शनिक आधार के शिक्षा व्यवस्था अथवा शिक्षा का ढांचा (Educational Structure) नहीं निर्मित किया जा सकता।' इस कथन की विवेचना कीजिए।

७. शिक्षा के क्षेत्र में दर्शन के अंशदान का वर्णन कीजिए।

चौथा अध्याय

शिक्षा के दार्शनिक आधार

आदर्शवाद

(Philosophy of Idealism)

शिक्षा के तीन-चार प्रधान दार्शनिक आधार हैं उनमें से एक आदर्शवाद है। आदर्शवाद ((Idealism) दर्शन शास्त्र की सबसे प्राचीन विचार धारा है। यह वाद प्राचीन काल से ही शिक्षा को प्रभावित करता आया है। यह वाद जीवन का मुख्य सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है। इस वाद के आधार भूत तत्व निम्नांकित है :—

(१) आदर्शवादियों ने जगत को दो भागों में बांटा है—भौतिक जगत और आध्यात्मिक जगत। उन्होंने भौतिक जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत को अधिक महत्त्व दिया है। उनकी धारणा है कि भौतिक जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत अधिक उन्नत एवं सत्य है, वही वास्तविक है। भौतिक जगत तो आध्यात्मिक जगत की एक झलक मात्र है। इन दोनों प्रकारके जगतों में क्रिया और प्रतिक्रिया बराबर होती रहती है और उसी के परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण संसार की रचना होती है। परन्तु आध्यात्मिक सत्ता सबसे बड़ी सत्ता है। इसी सत्ता को समझने के लिए समस्त संसार प्रयत्नशील एवं क्रियाशील रहता हैं। आदर्शवाद के अनुसार इसी सत्ता अथवा आध्यात्मिक जगत की समझना जीवन का परम लक्ष्य है दूसरे शब्दों में मन तथा आत्मा को जानना भौतिक पदार्थों को जानने की अपेक्षा अधिक आवश्यक है। मन और आत्मा ही सब कुछ है। भौतिक जगत की कोई सत्ता नहीं।

(२) आदर्शवाद ने जड़ प्रकृति की अपेक्षा मनुष्य को अधिक महत्वपूर्ण माना है, मनुष्य में आध्यात्मिक जगत के अनुभव करने की शक्ति निहित है। वह अपनी शक्तियों के विकास के द्वारा देवताओं का पद प्राप्त कर सकता है। इसलिए आदर्शवादियों ने मानव का स्थान देवताओं से कुछ ही नीचा माना है। कुछ विद्वानों का कहना है कि मानव एक सुविकसित पशु है। यद्यपि यह विचार कुछ अंश तक सत्य है तथापि यह निश्चित है कि मनुष्य निरा पशु नहीं। आदर्शवादियों के अनुसार मनुष्य बुद्धियुक्त है बुद्धि के द्वारा ही वह परमात्मा के प्रकाश का आभास प्राप्त करता है। बुद्धि के द्वारा ही वह अपने भविष्य का निर्माण करता है। आदर्शवादी बुद्धि को ही उसके नैतिक आदर्शों, संस्कृतियों, कृतियों तथा आध्यात्मिक चेष्टाओं का आधार मानते हैं। उसके ये कार्य उसे पशु से ऊंचा उठाते हैं। वह पशु के सदृश अपने आपको वातावरण का दास नहीं बना लेता वरन् वह वातावरण तथा प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है। धर्म, आचार-शास्त्र, कला तथा साहित्य मानव की देन

हैं। ये मानव की नैतिक, धार्मिक, मानसिक तथा कलात्मक क्रियाओं के परिणाम हैं मानव ने जिस आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर अपने आप को पहुंचा दिया उसका भावी सन्तति के लिये सुरक्षित रखना उसी का अपना कर्तव्य है। यदि ऐसा न किया जाय तो हरएक सन्तति को फिर नए सिरे से प्रत्येक बात का परिचय प्राप्त करना पड़ेगा। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के लिए संसार के इस आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक विकास से परिचित होना परमावश्यक है। यह परिचय केवल आत्म-बोध तथा आत्म-विकास अथवा आत्मानुभूति द्वारा ही हो सकता है। साथ ही सा मानव परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का यह भी कर्तव्य है कि वह आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक उन्नति में सहयोग दे।

(३) आदर्शवादियों ने वस्तु (Object) की अपेक्षा विचार (Idea) को अधिक महत्व दिया है। उनके कथनानुसार केवल विचार ही सत्य है, विचार ही वास्तविक है, वस्तु अथवा पदार्थ नहीं। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं कि 'यह एक मेज है', तो इस कथन के पीछे मेज का विचार (Idea) है। यदि किसी ऐसे व्यक्ति को मेज दिखाई जाय जिसने मेज का नाम न सुना हो तो वह नहीं बता सकता कि उस चीज का क्या नाम है। अतः विचार ही सत्य तथा वास्तविक है और समस्त संसार मनुष्य के विचारों में ही सन्निहित है। इस प्रकार आदर्शवादी 'विचार', 'अनुभव' तथा 'भावों' के संसार को भौतिक जगत की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनका जन्म मानसिक जगत में होता है और भौतिक जगत में उनका केवल समाधान हुआ करता है।

(४) आदर्शवाद कुछ आध्यात्मिक सत्यों (Truths) तथा मूल्यों (Values) का प्रतिपादन करता है। ये मूल्य 'सत्य' (Truth), 'सुन्दर' (Beauty) तथा 'शिव' (Goodness) हैं। आदर्शवादियों के अनुसार ये मूल्य (Values) शाश्वत तथा सर्वव्यापी हैं। ये कभी नष्ट नहीं होते। इनको जानना मानव का परम सत्य है। इनको जानना ईश्वर को जानना है। इनकी प्राप्ति ईश्वर की प्राप्ति है। इन मूल्यों (Values) को जानने में हमारे मन की प्रक्रियाएं सहायक होती हैं। हमारे मन में तीन प्रकार की प्रक्रियाएं चलती हैं, 'हम सोचते हैं', 'हम इच्छा करते हैं' और 'हम क्रिया करते हैं'। इनको मनोवैज्ञानिक भाषा में 'ज्ञान' (Knowing), 'इच्छा' (Feeling) और 'प्रयत्न' (Willing) कहा गया है। ये तीनों बातें 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' के लक्ष्यत्रयी तक पहुंचाती है। 'ज्ञान' का लक्ष्य 'सत्य' को पाना है। 'इच्छा' का लक्ष्य 'सौन्दर्य' को पाना है और 'प्रयत्न' का लक्ष्य 'शिव' को पाना है। दूसरे शब्दों में मनुष्य का लक्ष्य 'सत्य', 'सुन्दर' और 'शिव' को पाना है। आदर्शवाद का प्रथम लक्ष्य सत्यम् (Truth), शिवम् (Goodness) और सुन्दरम् (Beauty) का परिज्ञान तथा दूसरा लक्ष्य इनको जीवन में ढालना है। किन्तु इनको स्वार्थ के लि

ही जाता है वरन् 'सत्य' सत्य के लिए, 'सुन्दर' सुन्दर के लिए और 'शिव' शिव के लिये। दूसरे शब्दों में आदर्शवाद का मुख्य उद्देश्य निरपेक्षता (Absoluteness) को प्राप्त करना है। सापेक्ष सत्य (Relative Truth), सापेक्ष शिव Relative Goodness) तथा सापेक्ष सुन्दर (Relative Beauty) से आगे बढ़ कर 'निरपेक्ष सत्य' (Absolute Truth)' 'निरपेक्ष शिव' (Absolute Goodness) और निरपेक्ष सुन्दर' (Absolute Beauty) को प्राप्त करना चाहिए। मानव जीवन का चरम लक्ष्य एवं आदर्श यही है। यही शिक्षा का उद्देश्य है। इस प्रकार आदर्शवाद ने शिक्षा में निश्चित उद्देश्यों की स्थापना की है और मनुष्य का कर्तव्य उक्त मूल्यों को प्राप्त करना बतलाया है।

(५) आदर्शवादी 'अनेकत्व में एकत्व' (Unity In Diversity) के सिद्धान्त के समर्थक हैं। उनके कथनानुसार संसार की समस्त वस्तुओं की भिन्नता में एक 'एकता' (Unity) होती है। इस 'एकता' (Unity) को हम एक 'शक्ति' 'चेतन' तत्व अथवा 'ईश्वर' की संज्ञा दे सकते हैं। यह 'चेतन तत्व' अथवा 'ईश्वर' संसार के सभी प्राणियों को एक सूत्र में बांध कर रखता है। इसी के द्वारा संसार की समस्त वस्तुओं का संचालन होता है। जिस प्रकार किसी यन्त्र की केन्द्रीय 'शक्ति' से उसके भिन्न भिन्न अङ्ग काम करते हैं, ठीक उसी प्रकार इस विश्व के भिन्न भिन्न अङ्ग इस एकता रूपी केन्द्रीय शक्ति से संचालित होते हैं। शिक्षा का उद्देश्य बालक को इसी एकता का आभास कराना है। इस 'एकता' का ज्ञान होने पर मानव का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से विकसित हो जाता है। वह पूर्णता को प्राप्त करता है। प्रकृतिवाद का भी उद्देश्य पूर्णता को प्राप्त करना है किन्तु उसका उद्देश्य संकुचित है। वह केवल शरीर से सम्बन्ध रखता है। इसके विपरीत आदर्शवादियों का उद्देश्य उस पूर्णता को प्राप्त करना है जो मनुष्य के आध्यात्मिक स्वभाव से सम्बन्धित है।

(६) आदर्शवाद में व्यक्तित्व के उन्नयन का विशेष स्थान है। प्लेटो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का एक आदर्श व्यक्तित्व (Perfect Pattern) होता है जिसको प्राप्त करने में वह निरन्तर लगा रहता है। शिक्षा इस आदर्श व्यक्तित्व की प्राप्ति में सहायक होती है। कुछ आदर्शवादियों ने आदर्श व्यक्तित्व की प्राप्ति का अर्थ आत्मबोध अथवा आत्मानुभूति लगाया है। यह एक ऐसा लक्ष्य है जिसमें सभी आदर्शवादी सहमत हैं और जिसे प्राप्त करने के लिए मानव सदा प्रयत्नशील रहता है। इस लक्ष्य को समझने के लिए हमें 'आत्माभिव्यक्ति' तथा 'आत्मानुभूति' का अन्तर समझ लेना चाहिए। कुछ लोग आत्मानुभूति (Self-realisation) तथा आत्माभिव्यक्ति (Self-expression) में कोई अन्तर नहीं समझते, यह उनकी भूल है। 'रौस' (Ross) ने आत्मानुभूति तथा आत्माभिव्यक्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि आत्मानुभूति में एक आदर्श अवस्था की ओर संकेत है जो आत्माभिव्यक्ति में नहीं।

आत्माभिव्यक्ति तो केवल वर्तमान के प्रकाशन में सन्तुष्ट है। किन्तु आत्माभिव्य के बाद व्यक्ति का विकास रुक नहीं जाता। विकास तो होता ही रहता है बढ़ते-बढ़ते मनुष्य 'आत्मानुभूति' अथवा 'आदर्श अवस्था' को प्राप्त करता है। प्रकार 'आत्माभिव्यक्ति' (Self-expression) 'आत्मानुभूति' (Self-rea sation) की प्रथम सीढ़ी है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है 'आत्मानुभूति' से वैराग्य अथवा असामाजिकता का बोध नहीं होता। मानव स्वा सामाजिक है और समाज में रहकर व्यक्ति आत्मानुभूति को प्राप्त करता आदर्शवादियों के अनुसार मानव के आध्यात्मिक स्वभाव का सर्वोत्तम सा सामाजिक स्वभाव है। इसलिये मनुष्य में सर्वप्रथम सामाजिक गुणों का विव होना चाहिये जिससे व्यक्ति व्यक्ति में कोई भेद न रहे। मनुष्यों में एक दूसरे प्रति दया, प्रेम, सहानुभूति, सहृदयता तथा आदर्श की भावना होनी चाहिये। प्रकार की भावनाएं चिरन्तन 'सत्य' तथा सहयोग की प्राप्ति में सहायक होती इस प्रकार आदर्शवादियों ने सामाजिक भावना के विकास पर विशेष बल दिया

आदर्शवाद का प्रमुख प्रवर्तक 'प्लेटो' (Plato) माना जाता है। उसने आद वाद का प्रथम लक्ष्य 'सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम्' को पाना बतलाया और दू इनका जीवन में ढालना। अपनी आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार उसने उ आदर्शों की प्राप्ति का मुख्य साधन शिक्षा बतलाया। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस 'रिपब्लिक' (Republic) में न्याय की विवेचना के साथ-साथ अपने शिक्षा-सम्ब विचार भी व्यक्त किये हैं। अपने महान् विचारों के कारण वह एक प्रमुख शि शास्त्री समझा गया और उसकी पुस्तक 'रिपब्लिक' एक शिक्षा-शास्त्र। उस दार्शनिक विचारधारा का शिक्षा पर यह प्रभाव हुआ कि सत्य, शिवम् तथा सुन्द का ज्ञान क्रमशः दर्शन (Philosophy), आचार-शास्त्र अथवा नीति-शा (Ethics) और कलाओं (Arts) से दिया जाने लगा। चूंकि बालक ज्ञान निक्षेप को सुरक्षित रखने तथा आगे विस्तारित करने के लिए उत्पन्न हुआ है जाति का सम्पूर्ण ज्ञान भाषाओं में है—इसलिये 'प्लेटो' (Plato) ने उनका प आवश्यक बतलाया। भारतीय दर्शन के अनुसार मानव शरीर ब्रह्माण्ड का पिण्ड अथवा लघु रूप माना जाता है जिसका महान् कर्तव्य विश्वात्मा को प्र करता है। जहां भारत ने इस सिद्धान्त को माना है वहां 'प्लेटो' 'मनुष्य सभी वस्तुओं का मान है' (Man is the measure of all things) इस विचार का प्रतिपादन किया। इस विचार का व्यक्तीकरण कर 'प्लेटो' ने आत्मा के शाश्वत अस्तित्व को स्वीकार किया।

आदर्शवाद और शिक्षा

आदर्शवाद के आधारभूत तत्त्वों के विवेचन के उपरान्त हमें यह देखना है

इस विचार धारा का शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा। शिक्षा के क्षेत्र में आदर्शवाद को प्रमुखता देने वाले प्लेटो' (Plato) 'कमेनियस' (Comenius), 'पेस्टालॉजी' (Pestalozzi) और 'फ्रोबेल' (Froebel) थे। इन्होंने शिक्षा के अन्य अंगों की अपेक्षा उद्देश्यों पर विशेष बल दिया है और शिक्षा के निश्चित तथा श्रेष्ठ आदर्शों एवं उद्देश्यों की रचना की है। इसका यह अर्थ नहीं कि इस विचारधारा ने शिक्षा के दूसरे अंगों को प्रभावित नहीं किया। शिक्षा के लगभग सभी अंगों पर इस विचारधारा का प्रभाव पड़ा है और पड़ रहा है। ऊपर कहा जा चुका है कि आदर्शवादी भौतिक जगत की अपेक्षा भावों अथवा विचारों के जगत को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। अस्तु वे भौतिक विज्ञान आदि की अपेक्षा मानवीय विषयों को शिक्षा का उत्तम साधन मानते हैं तथा उन्हीं की शिक्षा पर बल देते हैं। शिक्षा पर आदर्शवाद के प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए शिक्षा के विभिन्न अंगों की चर्चा आवश्यक है। अतः अब इन अंगों की चर्चा की जायगी।

आदर्शवाद और शिक्षा के उद्देश्य

चूंकि आदर्शवादियों ने आध्यात्मिक जगत को भौतिक जगत की अपेक्षा अधिक सत्य माना है इसलिये उन्होंने आध्यात्मिक जगत की उन्नति पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार प्रत्येक मनुष्य के जीवन का लक्ष्य आध्यात्मिक उन्नति करना है। आध्यात्मिक विकास के लिए उन्होंने उन मूल्यों तथा सत्यों की प्राप्ति को आवश्यक समझा है जो सब देशों तथा काल के लिए उपयोगी तथा सर्वमान्य है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह 'सत्य', 'शिव' तथा 'सुन्दर' की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करे। सत्य, शिवम्, सुन्दरम् की अनुभूति द्वारा व्यक्ति पूर्णता को प्राप्त करता है। जितने अधिक मनुष्य पूर्णता को प्राप्त करते हैं उतनी ही अधिक आध्यात्मिक जगत की उन्नति होती है। अतः बालक की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो इन उच्च 'सत्यों' तथा 'मूल्यों' की प्राप्ति कराने में सहायक हो। शिक्षक को बालक के आध्यात्मिक विकास के लिये उन परिस्थितियों का सृजन करना आवश्यक है जिनमें उसका आध्यात्मिक विकास सम्भव हो सके।

आदर्शवादियों के अनुसार मानव ईश्वर की सबसे महान् तथा सुन्दर कृति है। आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक कृत्यों में भाग लेना उसकी विशेषता है। वह अपनी इस विशेषता का परिचय साहित्य, कला, संगीत, धर्म, आचार-शास्त्र इत्यादि के सृजन द्वारा देता है। इस प्रकार आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक सम्पत्ति, जो हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त होती है—मानव की देन है। मानवता की दृष्टि से प्रत्येक मानव का इस आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक परम्परा से परिचित होना परमावश्यक है। साथ ही साथ उसका यह भी कर्तव्य है कि वह इन परम्पराओं के विकास में स्वयं भी योग दे। इस दृष्टिकोण से आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं को पीढ़ी-दर

पीढ़ी रक्षा करना तथा उनका विकास करना शिक्षा का उद्देश्य है।

आदर्शवादी शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार आत्मबोध अथवा आत्मानुभूति (Self-realisation) शिक्षा का परम उद्देश्य है। आत्मबोध अथवा आत्मानुभूति का तात्पर्य अपने को समझने से है। अपने को समझने की चेष्टा में मनुष्य सच्चे सुख शान्ति तथा आनन्द का अनुभव करता है। आत्मबोध द्वारा मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर सकता है। वह उस 'आदर्श आत्मा', अथवा 'आदर्श अवस्था' (State of Perfection) को पहुँच सकता है, जिसकी 'प्लेटो' ने चर्चा की है। आदर्शवादी प्रत्येक बालक को योग्य तथा दैवी गुणों से युक्त मानते है। प्रत्येक बालक में पूर्णता प्राप्त करने की शक्ति विद्यमान रहती है। इसलिए प्रत्येक बालक को आदर्श अवस्था' (State of Perfection) प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है। शिक्षक को अधिकार नहीं कि अमुक बालक को अयोग्य समझ कर उसकी उपेक्षा करे। शिक्षा कुछ विशेष व्यक्तियों के लिए नहीं वरन् सब के लिए है। अतः शिक्षा द्वारा प्रत्येक बालक के दैवी गुणों के विकास का प्रयत्न करना चाहिए। इन गुणों के विकास से बालक अपनी आदर्श अवस्था को प्राप्त कर सकता है। उक्त बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदर्शवादी सर्वसाधारण की शिक्षा के समर्थक है।

ऐडम्स (Adams) महोदय ने भी शिक्षा का आदर्शवादी उद्देश्य प्रस्तावित किया है। उनके कथनानुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति तथा संसार में एक समन्वय तथा समरसता (State of Perfect Rationality) उत्पन्न करना है। आदर्शवादियों के अनुसार समस्त संसार साभिप्रेत है। (The universe is cosmos rather than chaos) संसार में सब कुछ भले के लिए होता है। यहां की प्रत्येक वस्तु सकारण होती है। हर एक वस्तु को सुगमता से समझा जा सकता है। इस संसार का संचालन कुछ स्थायी तथा निश्चित नियमों द्वारा होता है, जिनमें अनेकत्व में एकत्व का सिद्धान्त (Unity in Diversity) प्रमुख है। इन नियमों के अनुसार चलने पर संसार में समरसता की दशा की उपलब्धि हो सकती है। अतएव शिक्षा इस प्रकार की होना चाहिए जिससे बालक अपने जीवन में इन नियमों का पालन कर सके और संसार में समरसता बनाये रखने में अपना योग दे सके। उक्त बातें तभी सम्भव हो सकती हैं जब बालक बुद्धि और विवेक से काम ले। अस्तु बालक को बुद्धिमान तथा विवेकशील बनाना शिक्षा का उद्देश्य है। व्यक्ति अपने जीवन में तभी समरसता प्राप्त कर सकेगा जब उसके शरीर के समस्त अङ्ग किसी विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिये संचालित होंगे।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आदर्शवाद शिक्षा मे निश्चित उद्देश्यों की व्यवस्था करता है। जितने महान् तथा निश्चित उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्रतिष्ठा आदर्शवाद ने की है उतने महान् उद्देश्य किसी और विचारधारा ने प्रस्तुत नहीं किये है।

आदर्शवाद और पाठ्य-क्रम

आदर्शवादियों ने पाठ्य-क्रम के गठन पर भी अपना प्रभाव डाला है। उनके अनुसार पाठ्य-क्रम मानव के विचार तथा आदर्शों पर आधारित होना चाहिए। आदर्शवादी बालक तथा उसकी क्रियाओं को महत्व नहीं देते, किन्तु वे मानव जाति के अनुभवों को प्रमुख मानते हैं। उनके विचार से पाठ्य-क्रम में समस्त मानव जाति के अनुभवों का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। उसमें सभ्यता के उत्कर्ष की झलक मिलनी चाहिए। मनुष्य दो प्रकार से अनुभव ग्रहण करता है—भौतिक वातावरण के सम्पर्क से तथा अपने साथियों से। अतः आदर्शवादियों के विचार से पाठ्य-क्रम में विज्ञान सम्बन्धी तथा मानवीय विषयों का समावेश होना चाहिए।

'प्लेटो' (Plato) के अनुसार जीवन का उद्देश्य ईश्वर को प्राप्त करना है। अस्तु प्लेटो पाठ्य-क्रम में उन्हीं बातों को सम्मिलित करने पर बल देता है जिनके द्वारा उक्त लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव हो सके। ये बातें तीन हैं—सत्यं, शिवम् तथा सुन्दरम्। अतः प्लेटो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य उक्त तीन तत्वों को पाना है। ये तत्व, मूल्य अथवा सत्य व्यक्ति की बौद्धिक, कलात्मक तथा नैतिक क्रियाओं की ओर संकेत करते हैं। प्लेटो के विचार से पाठ्य-क्रम में वे ही विषय रक्खे जायें जो व्यक्ति की इन क्रियाओं को प्रोत्साहन दें क्योंकि इन क्रियाओं के द्वारा ही अथवा विकास से ही मनुष्य चिरन्तन 'सत्यों' तथा 'मूल्यों' को पा सकता है। इस दृष्टि से पाठ्य-क्रम का स्वरूप निम्नांकित होगा:—

मनुष्य की प्रमुख क्रियाएँ

- बौद्धिक (Intellectual)
  - भाषा (Language)
  - साहित्य (Literature)
  - इतिहास (History)
  - भूगोल (Geography)
  - गणित (Mathematics)
  - विज्ञान (Science)
- कलात्मक (Aesthetic)
  - कला (Art)
  - कविता (Poetry)
- नैतिक (Moral)
  - धर्म (Religion)
  - नीतिशास्त्र (Ethics)
  - अध्यात्मक-शास्त्र (Metaphysics)
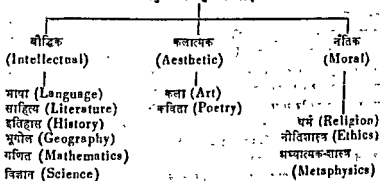
हरबार्ट (Herbart) अपने आदर्शवादी दर्शन के अनुसार पाठ्य-क्रम में उन्हीं विषयों को महत्व का स्थान देना चाहता है जो मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक हों। इस दृष्टि से उसने पाठ्य-क्रम में विज्ञान को कोई महत्व का स्थान नहीं

दिया है। आदर्शवादियों का मत है कि मनुष्य के आध्यात्मिक तथा नैतिक विकास में विज्ञान की शिक्षा उतनी उपयोगी नहीं होती जितनी साहित्य और इतिहास की। इसलिये आदर्शवादी शिक्षा-शास्त्री हरबार्ट ने कहा है कि पाठ्यक्रम में साहित्य, इतिहास, कविता, संगीत तथा कला को प्रमुख और भूगोल, विज्ञान तथा गणित आदि को गौण स्थान देना चाहिए।

रौस (Ross) महोदय का विचार है की पाठ्य-क्रम का नियोजन मनुष्य की दो प्रकार की क्रियाओं पर निर्भर है—१. स्वास्थ्य सम्बन्धी क्रियाए और २. आध्यात्मिक क्रियाएं। मनुष्य अपनी आध्यात्मिक क्रियाओं में तभी लगा रह सकता है जब उसका स्वास्थ्य अच्छा हो। अतः व्यक्ति के आध्यात्मक विकास के लिये उसका शारीरिक विकास भी आवश्यक है। इस दृष्टि से रौस महोदय ने पाठ्य-क्रम में साहित्य संगीत, कला, कविता, नीति-शास्त्र धर्म आदि के साथ स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों को भी प्रधानता दी है।

यद्यपि 'नन' (Nunn) महोदय ने शिक्षा में व्यक्तिवादी उद्देश्य का प्रतिपादन किया है किन्तु पाठ्य-क्रम के संगठन के विषय में उनके विचार आदर्शवादी हैं। 'नन' के कथनानुसार शिक्षालय का कर्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र की आध्यात्मिक शक्ति को दृढ़ बनाये, उसके ऐतिहासिक क्रम को भंग न होने दे, उसकी पूर्वप्राप्त निष्पत्तियों की सुरक्षा करे और उसके भविष्य को उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करे। शिक्षालय का यह कार्य पाठ्य-क्रम द्वारा ही पूरा हो सकता है। अस्तु नन के विचार से पाठ्य-क्रम में केवल उन्हीं विषयों को स्थान मिलना चाहिए जो इस दृष्टि से उपयोगी तथा महत्वपूर्ण हों। दूसरे शब्दों में पाठ्य-क्रम में उन्हीं विषयों का समावेश होना चाहिए जिनसे व्यक्ति को मानव सभ्यता की झलक मिल सके। इसके अतिरिक्त मानव समाज के सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति के दो कर्त्तव्य हैं—(१) अपने पूर्वजों द्वारा मानव-समाज की उन्नति के लिये किये गए प्रयत्नों से परिचय प्राप्त करना, और (२) समाज के विकास में अपना योगदान करना।

अतः बालक को प्राचीन इतिहास, संस्कृति, साहित्य, शरीर-विज्ञान, नीति-शास्त्र, धर्म कला, विज्ञान आदि विषयों के ज्ञान के साथ वर्तमान समाज तथा उसकी आवश्यकताओं का ज्ञान प्राप्त करना अपेक्षित है।

आदर्शवाद और शिक्षक

पाठशाला में शिक्षक का क्या स्थान है? इस विषय में शिक्षा-शास्त्रियों तथा दार्शनिकों के भिन्न भिन्न मत है। आदर्शवादी प्रकृतिवादियों की भाँति शिक्षक की अधिक आवश्यकता का विरोध नहीं करते। वे शिक्षा में शिक्षक का स्थान महत्वपूर्ण मानते हैं। ऐडम्स (Adams) महोदय के अनुसार शिक्षक और बालक दोनों ही इस

व्यवस्थित ब्रह्माण्ड (Rational Universe) के अंग हैं, अतः दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। शिक्षक अपने आदर्शों से बालक को प्रभावित करता है तथा उसका पथ-प्रदर्शन करता है। जीवन के लक्ष्यों, शाश्वत 'सत्यों' तथा 'मूल्यों' को प्राप्त कराने के लिये उसे स्फूर्ति तथा प्रेरणा प्रदान करता है। बालक के लिये एक आध्यात्मिक वातावरण की रचना करता है जिससे उसका आध्यात्मिक विकास सम्भव हो सके और वह अपनी 'आदर्श अवस्था' (State of Perfection) अथवा पूर्णता को प्राप्त कर सके

प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री फ्रोबेल (Froebel) के अनुसार बालक एक पौधे के समान है और अध्यापक एक माली के सदृश जो पौधे को आवश्यकतानुसार सींचकर, खाद आदि डालकर तथा काट-छांटकर सुव्यवस्थित रूप में पनपाता है जिससे वह एक सुन्दर तथा मनमोहक वृक्ष बन सके। अस्तु बालकरूपी पौधे की देखरेख करना शिक्षक का कर्तव्य है। यद्यपि यह सत्य है कि पौधे के समान बालक में भी अपने स्वाभाविक विकास की शक्तियां निहित हैं और उसका प्राकृतिक विकास सम्भव है, किन्तु उसका समुचित विकास तभी सम्भव है जब उसे अनुकूल वातावरण मिले। प्रतिकूल वातावरण में उसका विकास कुंठित हो जायगा। अतएव अनुकूल वातावरण का निर्माण करना शिक्षक का कर्तव्य है। शिक्षा में शिक्षक के स्थान का महत्त्व बताते हुए रौस (Ross) महोदय ने लिखा है कि "प्रकृतिवादी तो जंगली गुलाब से संतुष्ट हो सकता है किन्तु आदर्शवादी तो सुन्दर और सुविकसित गुलाब की इच्छा करता है।" (The Naturalist may be content with briars but the Idealist wants fine roses.) बिना शिक्षक की सहायता के बालक का उच्चतम विकास कठिन है, अतः आदर्शवादियों के अनुसार शिक्षा में शिक्षक का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

आदर्शवाद और अनुशासन

आदर्शवादी बालक को अनुशासन में रखने के पक्षपाती हैं, किन्तु वे दमनवादी अनुशासन की अपेक्षा प्रभाववादी अनुशासन को उत्तम समझते हैं। इसी दृष्टि से फ्रोबेल बालक पर किसी प्रकार का बाहरी दबाव डालना अनुचित समझते हैं। आदर्शवादियों का विचार है कि बालक पर विविध दिशाओं से प्रभाव पड़ने चाहियें जिससे उसमें अनुशासन की भावना अपने आप ही विकसित हो जाय। बालक का आध्यात्मिक विकास बहुत कुछ बालक के अनुशासित जीवन पर निर्भर है। यदि बालक में अनुशासन की भावना का अभाव है तो वह उन 'आदर्शों' 'सत्यों' तथा 'मूल्यों' से कदापि प्रभावित नहीं हो सकता जिनकी प्राप्ति से आध्यात्मिक विकास सम्भव हो जाता है।

अतः शिक्षक का कर्तव्य है कि वह बालक को उच्च आदर्शों से प्रभावित करके उसमें अनुशासन की भावना जाग्रत करे। उसकी अभिरुचियों का ज्ञान प्राप्त करके प्रेम और सहानुभूति से उस पर नियन्त्रण रखे। प्रभाव द्वारा स्थापित किया हुआ

अनुशासन स्थायी होता है। दण्ड और भय से स्थापित किया हुआ अनुशासन स्थायी नहीं होता, अतः वह व्यर्थ है। आधुनिक काल में दमनात्मक अनुशासन अवैज्ञानिक समझा जाता है। प्रभावात्मक अनुशासन ही प्रशंसनीय माना गया है। आदर्शवादी प्रकृतिवादियों की भांति स्वतन्त्रता के आधार पर अनुशासन स्थापित करने मे विश्वास नहीं करते। 'स्वतन्त्र अनुशासन' बालक के समुचित विकास मे बाधक हो सकता है। इस प्रकार आदर्शवादी दण्ड और भय द्वारा स्थापित अनुशासन तथा स्वतन्त्र अनुशासन के विरोधी हैं। आदर्शवादी शिक्षा-शास्त्री फ्रोबेल ने अनुशासन के लिए दण्ड की कोई आवश्यकता नहीं समझी। उसने सहानुभूति, बालक की आत्म-क्रिया और आत्म नियन्त्रण आदि को अनुशासन स्थापन के लिए अधिक उपयोगी समझा है।

प्रश्न

(१) आदर्शवाद का क्या अर्थ है ? इसकी मुख्य मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

(२) "Idealism has more to contribute to the aims and objectives of education than to its methods." इस कथन पर टिप्पणी कीजिये और स्पष्ट रूप से समझाइये कि आदर्शवाद ने शिक्षा के क्या-क्या उद्देश्य प्रस्तावित किये हैं।

(३) आदर्शवाद के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए और यह बतलाइये कि शिक्षा के विभिन्न अंगो पर उनका क्या प्रभाव पड़ा है।

(४) शिक्षा प्रणाली को किस सीमा तक आदर्शवाद पर आधारित किया जा सकता है ? इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिये।

(५) पाठ्य-क्रम के निर्धारण के सम्बन्ध में आदर्शवाद ने किन-किन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है ? आदर्शवादियों ने पाठ्य-क्रम मे किन किन विषयों को स्थान दिया है और क्यों ?

(६) "आदर्शवाद का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह भौतिक और प्रत्यक्ष जगत को नितान्त तिरस्कार और उपेक्षा की दृष्टि से देखता है।" इस कथन पर टिप्पणी कीजिए।

(७) आदर्शवाद की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए और यह भी बताइए कि शिक्षा पर उसका क्या प्रभाव है। आदर्शवाद के शिक्षा के एक दर्शन होने पर अपना मत प्रकट कीजिए और तर्कों से उसको पुष्ट कीजिए।

(८) आदर्शवादियों द्वारा प्रतिपादित पाठ्य-क्रम का ढांचा किस प्रकार प्रयोगवादियों के प्रतिपादित ढांचे से भिन्न है ;

पांचवां अध्याय

यथार्थवाद

(Philosophy of Realism)

ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि— यथार्थवाद का जन्म सत्रहवीं शताब्दी में हुआ था। इसकी उत्पत्ति के दो प्रमुख कारण थे, प्रथम प्राचीन तथा मध्यकालीन आदर्शों की अनुपयोगिता और दूसरा, वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विकास। सोलहवीं शताब्दी तक लगभग सभी प्राचीन तथा मध्यकालीन आदर्श महत्वहीन हो चुके थे। उनमें अब किसी का विश्वास न था क्योंकि वे वर्तमान मानव-जीवन के लिए उपयोगी न थे। वे मनुष्य को देव-तुल्य तो अवश्य बना सकते थे किन्तु मनुष्य की साधारण आवश्यकताओं को पूरा न कर सकते थे। उनके द्वारा मानसिक विकास तो सम्भव था किन्तु वे मनुष्यों में क्रियाशीलता तथा व्यावहारिकता उत्पन्न नहीं कर सकते थे। इस समय मनुष्य ऐसे आदर्श की माँग कर रहा था जो वास्तविक जीवन व्यतीत करने में सहायक हो। प्राचीन आदर्श समय की मांग पूरी करने में असमर्थ थे। पुरानी विचार धाराओं से प्रभावित शिक्षा भी मनुष्य के इस कार्य में सहायक न हो सकी। मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक के बाद एक 'वाद' (*ism*) का जन्म हुआ किन्तु सभी 'वाद' कुछ समय तक चमक कर पतन के गर्त में जा गिरे। मध्य युग के मठवाद (Monasticism) तथा विद्वद्वाद (Scholasticism) के बाद पुनरुत्थान काल (Renaissance period) का जन्म हुआ। इस काल में *मनुष्यों में एक नई लहर पैदा हुई। मनुष्य अब परलोक सुधारने तथा विद्वद्वाद के* आदर्शों को छोड़ कर मानवता के आदर्श की ओर अग्रसर हुए। मानवता के गुणों का विकास तथा मानव जाति की उन्नति करना उनका लक्ष्य बन गया। मानवता के *विकास तथा मानव-जाति की उन्नति के लिए ग्रीक और लेटिन भाषाओं तथा इन* भाषाओं में पाये जाने वाले यूनानी तथा रोमन साहित्य का अध्ययन आवश्यक समझा गया। इस प्रकार पुनरुत्थान काल में यूनानी और रोमन साहित्य के अध्ययन पर बल दिया गया। पुनरुत्थान काल के बाद मानवतावाद (*Humanism*) का जन्म हुआ। मानवतावादी विद्वानों ने भी मानव-जाति की उन्नति के लिए यूनानी तथा रोमन साहित्य का अध्ययन आवश्यक समझा। मनुष्योपयोगी होने के कारण यूनानी तथा रोमन साहित्य को 'मानवतावादी साहित्य' (*Humanistic Studies*) का नाम दिया गया और जो इस साहित्य के अध्ययन के पक्षपाती थे वे ह्यूमेनिस्ट्स (Humanists) कहलाये। इस प्रकार की शिक्षा 'मानवतावादी शिक्षा' (... Education) के नाम से प्रसिद्ध हुई। पर मनुष्यों की आवश्यक-... शिक्षा' से पूरी न हो सकी। यूनानी तथा रोमन साहित्य के अध्ययन

से वे कोई लाभ न उठा सके क्योंकि इन साहित्यों का अध्ययन केवल लेखन शै
अपनाने तथा व्याकरण की शिक्षा ग्रहण करने तक ही सीमित हो गया। भाषाओं
व्याकरण की शिक्षा प्राप्त करना तथा 'सिसेरो की लेखन शैली' (Ciceronianis
अपनाना जीवन के लक्ष्य बन गये। अस्तु मानवतावाद 'सिसेरोवाद' में परिवर्तित
गया। मृत भाषाओं एवम् पुस्तकीय तथा अव्यवहारिक ज्ञान की प्राप्ति ही शिक्षा
एकमात्र उद्देश्य हो गया। फलतः शिक्षा तथा वास्तविक जीवन के बीच भेद बढ़
गया और विद्यालयों का वातावरण अवास्तविक तथा अव्यवहारिक हो गया। इस
वाद सुधार-काल (Period of Reformation) आया। परन्तु सुधारवाद
निश्चित विचारों तथा नियमों के प्रतिपादन तक सीमित रह गया। इस प्रक
सुधारवाद ने नियमवाद को अपना कर अवनति का स्वागत किया। किन्तु मानव
वाद तथा सुधारवाद से यह लाभ हुआ कि मनुष्यों का 'बुद्धि' और 'विवेक' में विश
बढ़ गया। वे हर एक वस्तु की वास्तविकता को 'बुद्धि' और 'विवेक' द्वारा सम
का प्रयत्न करने लगे। इससे मनुष्यों में स्वतन्त्र विचारों की भावना जाग्रत हु
मनुष्य अब हरएक वस्तु के यथार्थ रूप को समझने का प्रयत्न करने लगा। इस प्र
'यथार्थ' की खोज आरम्भ हुई। इसी समय विज्ञान का विकास हुआ। कोपरनि
(Copernicus), गैलीलियो (Galileo), न्यूटन (Newton) जॉन केपलर (J
Capler), हारवीज (Harveys), बेकन (Bacon) आदि के अनुसन्धानों
परिणामस्वरूप दृष्टिकोण की संकीर्णता और अन्ध-विश्वास नष्ट हो गये। वैज्ञानि
युग आरम्भ हुआ। इस युग ने 'बुद्धि' और 'विवेक' को अधिक प्रधानता दी
मनुष्यों का ध्यान वास्तविकता की ओर आकर्षित किया। इस प्रकार यथार्थ
खोज में विज्ञान सहायक हुआ। दूसरे शब्दों में भौतिक दार्शनिकता तथा वैज्ञानि
प्रवृत्ति के समावेश से यथार्थवाद (Realism) का जन्म हुआ। यहीं से आधुनि
युग आरम्भ होता है।

यथार्थवाद के मूल सिद्धान्त

यथार्थवादियों का कथन है कि जो कुछ हम देखते हैं अथवा जो कुछ हा
सामने है वही सत्य है। दूसरे शब्दों में केवल प्रत्यक्ष जगत ही सत्य है। वह
स्वतन्त्र सत्ता रखता है। हमारा ज्ञान प्रत्यक्ष पदार्थों पर ही आधारित होता है।
प्रकार यथार्थवाद (Realism) भौतिकवाद (Materialism) पर निर्भर है जि
अनुसार केवल भौतिक जगत ही सत्य है। यथार्थवाद ने वास्तविकता, व्यावहारिक
क्रिया, यथार्थ तथा लौकिक जीवन को महत्वपूर्ण माना है। यथार्थवादियों ने 'वि
तथा शब्द' की अपेक्षा 'वस्तु अथवा पदार्थ' की वास्तविकता पर अधिक
दिया है।

यथार्थवाद और शिक्षा
(Realism and Education)

सैद्धान्तिक तथा शाब्दिक शिक्षा का विरोध— शिक्षा में यथार्थवाद की भावना कोरे पुस्तकीय एवं शाब्दिक ज्ञान के विरोध में उत्पन्न हुई। यथार्थवादियों का कहना है कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो बालक को वस्तु तथा वातावरण का बोध कराये। कोरे सिद्धान्त तथा आदर्श बालक के लिये कोई महत्व नहीं रखते। अतः अध्यापकों को चाहिये कि वे वास्तविक वस्तुओं की चर्चा करें। यथार्थवादी नारा 'शब्द नहीं वस्तु चाहिए' है।

शिक्षा के उद्देश्य, विषय तथा साधन— यथार्थवादियों के अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे व्यक्ति की दैनिक तथा सामाजिक आवश्यक्ताएं पूरी हो सकें और वह सुखमय जीवन व्यतीत कर सके। यथार्थवादी इस बात से सहमत हैं कि जीवन के आदर्श ऊँचे हों किन्तु उनके विचार से आदर्शों में वास्तविकता की छाप अवश्य होनी चाहिये क्योंकि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को वास्तविक जीवन के लिये तैयार करना है। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो वास्तविक जीवन में काम आये। वास्तविक जीवन में व्यक्ति के सम्मुख जीविकोपार्जन की समस्या मुख्य होती है, अतएव उसे कला-कौशल तथा व्यवसाय की शिक्षा देना अत्यन्त आवश्यक है। अतः कोरे साहित्यिक तथा कलात्मक विषयों के स्थान पर व्यवसायिक तथा वैज्ञानिक विषयों को प्रधानता दी जानी चाहिए। इसलिए कक्षा की शिक्षा तथा जीवन की वास्तविकता में सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक है अन्यथा शिक्षा का ध्येय सफल न हो सकेगा। यथार्थवादी प्रचलित शिक्षा के विरोधी थे क्योंकि प्रचलित शिक्षा पुस्तकीय तथा शाब्दिक थी। वह विचार तथा वस्तु पर कोई बल नहीं देती थी। वह केवल स्मरण शक्ति को बढ़ाती थी। 'विवेक' तथा निर्णय करने की शक्ति की उपेक्षा करती थी। यथार्थवादियों का कहना है कि शिक्षा द्वारा व्यक्तियों में 'विवेक', 'बुद्धि' तथा 'निर्णय करने की शक्ति' की वृद्धि होनी चाहिए जिससे वे जीवन की विभिन्न समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान कर सकें। उक्त दृष्टिकोण के अनुसार यथार्थवादियों ने शिक्षा के विभिन्न साधनों में मातृभाषा, यात्रा, प्रयोग तथा प्रदर्शन को अधिक महत्त्व दिया है। इस प्रकार यथार्थवादी शिक्षा का विकास हुआ। आगे चलकर यथार्थवादी शिक्षा ने निम्नलिखित तीन रूप अपनाए:—

१. मानवतावादी यथार्थवाद (Humanistic Realism)।

२. सामाजिक यथार्थवाद (Social Realism)।

३. ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद (Sense Realism)।

१. मानवतावादी यथार्थवाद
(Humanistic Realism)

मानवतावादी यथार्थवाद के विद्वानों का कहना है कि शिक्षा यथार्थवादी होनी चाहिये जिससे मनुष्य को जीवन में सुख और सफलता प्राप्त हो सके। शिक्षा के इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने प्राचीन रोमन तथा यूनानी साहित्य का अध्ययन आवश्यक बतलाया क्योंकि उनका विचार था कि जीवन को सफल बनाने का समस्त ज्ञान उस साहित्य में निहित है। उनका मत था कि जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक प्रश्न पर लैटिन तथा ग्रीक साहित्य प्रकाश डालता है। अतः इनके अध्ययन के बिना जीवन के वास्तविक रूप का ज्ञान होना असम्भव है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि मानवतावादी शिक्षा (Humanistic Education) के समर्थकों ने भी ग्रीक और लैटिन साहित्य के अध्ययन पर बल दिया था। पर इन दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर है। जहां मानवतावादी शिक्षा के विद्वानों ने यूनानी और रोमन साहित्य का अध्ययन 'साहित्यिक संस्कृति' के निमित्त साध्य माना था वहां मानवतावादी यथार्थवादियों ने उसे जीवन की सफलता के लिये साधन माना। प्राचीन मानवतावादी शिक्षक 'सिसेरो की लेखन शैली' अर्जित करने तथा शब्द भण्डार की वृद्धि करने में फँस गये थे। उन का ध्यान प्राचीन साहित्य की उपयोगिता की ओर न था। इसके विपरीत मानवतावादी यथार्थवाद के विद्वानों ने प्राचीन साहित्य के अध्ययन पर केवल इसीलिये बल दिया कि वह जीवन के लिये उपयोगी था। इस प्रकार मानवतावादी यथार्थवाद ने प्राचीन साहित्य को फिर से शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग बना दिया और उसका अध्ययन व्यक्तिगत, सामाजिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिये आवश्यक बतलाया।

मानवतावादी यथार्थवाद के प्रतिनिधि–इस विचारधारा के विद्वानों के मध्य हॉलैंड निवासी, अन्तर्राष्ट्रीय विद्वान् इरेसमस (Irasmus), फ्रांसीसी विद्वान् रैबले (Rebelais), इंगलैंड के प्रसिद्ध कवि मिल्टन (Milton) प्रमुख माने जाते हैं।

(१) इरेसमस (१४४६–१५३६)—इरेसमस संकीर्ण मानवतावादी शिक्षा का विरोधी था। उसने ज्ञान को दो भागों में बांटा– 'शब्द' का तथा 'वस्तुओं' का उसने 'शब्द' की अपेक्षा 'वस्तु' का ज्ञान अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया। इरेसमस ने अपनी पुस्तकों 'सिस्टम ऑफ स्टेडीज' (System of Studies) तथा 'सिसेरोनियनिज्म' (Ciceronianism) के द्वारा बाह्य शैली को प्रमुखता देने वालों की हँसी उड़ाई और 'वस्तु' के ज्ञान पर विशेष बल दिया।

(२) रैबले (१४८३–१५५३)—रैबले ने प्राचीन सैद्धान्तिक तथा शाब्दिक भाषा की शिक्षा का विरोध किया और उसके स्थान पर धार्मिक, सामाजिक, नैतिक तथा शारीरिक शिक्षा पर बल दिया। रैबले के शिक्षा सिद्धान्तों का परिचय हम उसकी 'लाइफ ऑफ गरगन्तो' (Life of Gargantua) और 'हिरोइक् डीड्स ऑफ

पन्तग्रुयेल' (The Heroic Deeds of Pantegruel) नामक पुस्तकों में पाते हैं। वह बालक को वस्तु का ज्ञान देने का पक्षपाती था। उसका कथन था कि बालक की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे वह स्कूल में पाई हुई शिक्षा की सहायता से अपने जीवन की समस्याएँ हल करने की चेष्टा करे। वह शिक्षा-प्रणाली तथा पाठ्य-क्रम में भी परिवर्तन चाहता था। पाठ्य-क्रम में उसने व्याकरण, तर्क तथा साहित्य-शास्त्र को कोई स्थान नहीं दिया। वह अभ्यास तथा रटने की विधि को हटाकर शिक्षा को रोचक बनाने के पक्ष में था।

(३) मिल्टन (१६०८-१६७४)— मिल्टन के शिक्षा सम्बन्धी विचार उसकी 'ट्रैक्टेट ऑन एजुकेशन' (Fractet on Education) नामक पुस्तक में निहित है। उसने भावात्मक शिक्षा का विरोध किया और शिक्षा की एक नई परिभाषा का निर्माण किया। "पूर्ण और उदार शिक्षा वही है जो व्यक्ति को शान्ति तथा युद्ध काल के सभी सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत कार्यों को चतुरता, औचित्य तथा उदारता के साथ करने के योग्य बना देती है" * मिल्टन बालकों को ऐसी शिक्षा देना चाहता था जो उन्हें ईश्वर का ज्ञान कराकर उनमें प्रेम जाग्रत कर दे। इससे स्पष्ट है कि मिल्टन की प्रवृत्ति धार्मिक थी। मिल्टन सर्वसाधारण की शिक्षा का समर्थक न था। उसे केवल धनी लोगों का ध्यान था। उसने १२ वर्ष से लेकर २१ वर्ष तक के बालकों के लिए शिक्षा का एक कार्य-क्रम तैयार किया जो इस प्रकार है :—

पहला वर्ष— लेटिन, ग्रामर, गणित, ज्यामिति।
आगामी चार वर्षों में— कृषि, भौतिक-शास्त्र, शिल्प-कला, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति, तर्कशास्त्र, खगोल आदि।
शेष वर्षों के लिए— बाइबिल, हिब्रू, यूनानी, रोमी तथा सेक्सन संविधान, अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास, तर्कशास्त्र तथा पद्य। इनके अध्ययन के लिए उसने यूनानी और लेटिन की पुस्तकें निर्धारित कीं।

मिल्टन मौखिक तथा शाब्दिक शिक्षा का विरोधी था और बालकों को वास्तविक वस्तुओं का ज्ञान कराना चाहता था। उसने शारीरिक शिक्षा पर भी पर्याप्त बल दिया और भ्रमण तथा यात्रा को शिक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन बतलाया क्योंकि इनके द्वारा बालक के दृष्टिकोण की संकीर्णता दूर हो जाती है और उसे निरीक्षण, अनुभव तथा कुशलता प्राप्त करने का अवसर मिलता है।

---

* Doctrine of Great Educators, page 110
'I call therefore a complete and generous education that [illegible] a man to perform justly, skillfully and magnanimously the offices both private and public of peace and war."

२. सामाजिकतावादी यथार्थवाद
(Social Realism)

इस 'वाद' के विद्वान् पुस्तकीय शिक्षा का विरोध करते थे। उनका विचार था कि वह शिक्षा नितान्त निरर्थक है जिससे बालक केवल किताबी कीड़ा बन जाय। जो शिक्षा व्यक्ति को केवल ग्रीक और लैटिन बोलने का सामर्थ्य देती है वह व्यर्थ है। अतः उनके कथनानुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति को कार्य-कुशल बना दे। उन्होंने जीवन को क्रियात्मक रूप में सफल बनाने वाली शिक्षा पर अधिक बल दिया। उन्होंने शिक्षा का उद्देश्य जीवन को सुखी तथा सफल बनाना और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना माना। उन्होंने सच्चे ज्ञान की प्राप्ति पर बल दिया और 'रटने' की विधि का विरोध किया। सामाजिक गुणों की प्राप्ति के लिए इतिहास, भूगोल, कानून, राजदूत-विद्या, विज्ञान, गणित, घुड़सवारी, हथियार चलाना, नृत्य जिमनास्टिक आदि का पाठ्य-क्रम में समावेश किया गया। वे पाठशालाओं को शिक्षा का उचित स्थान नहीं मानते। उनका विचार था कि किताबों की अपेक्षा भ्रमण तथा यात्रा से अधिक उपयोगी शिक्षा प्राप्त होती है।

सामाजिकतावादी यथार्थवाद के प्रतिनिधि :— १. लार्ड मॉनटेन (१५३३–१५९२,—मॉनटेन फ्रांस निवासी थे। आपके शिक्षा सम्बन्धी विचारों तथा सिद्धान्तों का परिचय आपकी तीन पुस्तकों से मिलता है :— (१) ग्रॉफ पेडेन्टरी (Of Pedantry), (२) 'ग्राफ दी एजुकेशन ग्राफ दी चिल्ड्रेन' (Of the Education of the Children), (३)'ग्राफ दी अफेक्शन ग्राफ फादर्स टू देयर चिल्ड्रेन' (Of the Affection of Fathers to their Children)। मानटेन ने मानवतावादी शिक्षा की कड़ी आलोचना की। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में 'बुद्धि' और विवेक उत्पन्न करना है जिससे वह अपने जीवन को भली प्रकार बिता सके। मानटेन का कहना था कि "बिना समझे हुए कोई बात स्वीकार नहीं करनी चाहिए" उसे 'ज्ञान के लिए ज्ञान' के सिद्धान्त में विश्वास नहीं था। वह ऐसे ज्ञान के पक्ष में था जिसका व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में उपयोग कर सके। इस प्रकार वह कोरे ज्ञान का विरोधी और व्यवहारिक ज्ञान का समर्थक था। वह व्यक्ति को शिक्षा द्वारा विवेकशील तथा व्यवहारकुशल बनाना चाहता था जिससे वह सामाजिक जीवन में सफल हो सके। उसने पुस्तकीय शिक्षा तथा रटने की विधि का विरोध किया। स्कूल और कालेज उसे पसन्द न थे। वह प्रत्येक बालक को निजी अध्यापक द्वारा शिक्षित करने के पक्ष में था। परन्तु उसका यह विचार अव्यवहारिक प्रतीत होता है। वह अनुभव पद्धति का पक्षपाती था। वह ऐसी शिक्षा पद्धति का अनुसरण करना चाहता था जो बालक के स्वभाव तथा मनोविकास के अनुकूल हो और जिसमें बालक को अपनी निर्णय-शक्ति प्रयोग में लाने का अवसर मिले। उसने शिक्षा के साधनों के

मध्य यात्राओं को विशेष महत्वपूर्ण माना है। मानटेन लिखता है :— मैं चाहूँगा कि मेरे भद्र युवक यात्रा को ही पुस्तक मानकर पूरा ध्यान दें क्योंकि इसके द्वारा हमें विभिन्न विचारों, व्यवहारों, नियमों आदि का ज्ञान होता है और उसकी सहायता से हम सही निर्णय पर पहुँच सकते हैं तथा सही बातों का पता लगा सकते हैं।"* वह दबाव, मानक और हिंसा को अनुशासन स्थापन के साधन नहीं मानता था। उसका विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति को पहले अपनी मातृभाषा, तत्पश्चात् अपने पड़ोसी की भाषा और अन्त में उसे लेटिन और ग्रीक सीखना चाहिये। मानटेन के कुछ विचार "स्वानुभववादी यथार्थवाद" के सिद्धान्तों से भी मेल खाते हैं। अतः कुछ विद्वानों ने उसे स्वानुभववादी यथार्थवाद का प्रवर्तक माना है।

(२) जॉन लॉक (१६३२-१७०४)— जॉन लॉक (John Locke) इंगलैंड का एक प्रसिद्ध दार्शनिक था। उसने "शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ विचार" (Some Thoughts Concerning Education) नामक पुस्तक में अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों का विवेचन किया है। लॉक ने शिक्षा का उद्देश्य बालक में गुण (Virtue), ज्ञान (Wisdom), सदाचार (Breeding) तथा सीखने (Learning) की शक्ति का विकास करना बतलाया है। एक दूसरे स्थान पर उसने शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का शारीरिक, नैतिक तथा मानसिक विकास करना बतलाया है। लॉक व्यक्तिवादी था। वह सर्वसाधारण की शिक्षा का विरोधी था। वह केवल उच्च-वर्ग के बालकों को ही शिक्षा देने का पक्षपाती था। लॉक ने मानसिक विकास के साथ-साथ शारीरिक शिक्षा पर भी बल दिया है। "Our main care should be about the inside, yet the clay cottage is not to be neglected"† वह मस्तिष्क को खाली स्लेट (*Tabula Rasa*) मानता था जिस पर अनुभव द्वारा अनेक विचार अंकित होते हैं। वह मस्तिष्क को विभिन्न शक्तियों की एक गठरी मात्र मानता था और उसका यह विचार था कि शिक्षा की सही पद्धति से ही विभिन्न मानसिक शक्तियों का विकास हो सकता है। इस प्रकार शिक्षा में विषय की अपेक्षा उसने पद्धति को अधिक महत्व दिया। वह निजी अध्यापक (Tutor) द्वारा बालक की शिक्षा के सिद्धान्त का समर्थक था। उसने अनुभव, निरीक्षण तथा देशाटन आदि शिक्षा-विधियों पर बल दिया। लॉक मानसिक शक्तियों के अनुशासन में विश्वास रखता था और नैतिक विकास के लिये अनुशासन की शिक्षा आवश्यक समझता था। वह शारीरिक दण्ड का विरोधी था और शिक्षा-पद्धति को रोचक तथा मनोरंजक बनाने का पक्षपाती था। लॉक ने मातृभाषा को अत्यधिक महत्व दिया। उसका विचार था कि शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से होनी चाहिए। लॉक ने पाठ्य-क्रम में उन्हीं विषयों को

* p. 377. History of Western Education by Sita Ram Jayaswal.

† Doctrines of the Great Educators, page 120.

प्रधानता दी जो वैयक्तिक तथा सामाजिक दृष्टि से उपयोगी तथा व्यावहारिक समझे जाते हैं।

३. ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद
(Sense Realism)

'ज्ञान' ज्ञानेन्द्रियां से प्राप्त होता है— ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद का जन्म सत्रहवी शताब्दी में हुआ था। इस यथार्थवाद मे पहले दोनों प्रकार का यथार्थवाद सम्मिलित है। विज्ञान के विकास ने इस प्रकार के यथार्थवाद को फैलाने में बड़ी सहायता की। इसलिये कुछ विद्वानो ने इसे वैज्ञानिक रुचि का प्रतिबिम्ब माना है। आजकल जितने शिक्षा सिद्धान्त प्रचलित हैं उन सबकी जड़ 'ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद' में पाई जाती है। इस विचारधारा के अनुसार समस्त ज्ञान का आधार ज्ञानेन्द्रियां हैं। 'ज्ञान' ज्ञानेन्द्रियां से प्राप्त होता है, शब्दों से नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि शिक्षा मे इन्द्रियों— आँख, कान, नाक, हाथ, पैर— से काम लेना चाहिए। बालकों को ग्रीक और लेटिन रटने से शब्द तो बहुत याद हो जाते थे परन्तु वस्तुओं का ज्ञान न होता था। अतः इस विचारधारा के विद्वानों ने इस बात पर बल दिया कि बालकों को इन्द्रियों द्वारा वस्तुओं का ज्ञान कराया जाय। दूसरे शब्दों में शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे ज्ञानेन्द्रियों का विकास हो क्योंकि बिना ज्ञानेन्द्रियों के विकास के बालक को वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादी विद्वान् विज्ञान से अत्यधिक प्रभावित हुए। सत्रहवी शताब्दी के अन्वेषणों [कोपरनिकस (Copernicus) ने सूर्य को विश्व का केन्द्र सिद्ध कर दिया, गैलिलियो (Galileo) ने दूरबीन का आविष्कार किया, हार्वे (Harvey) ने शरीर में रुधिर की गति का पता लगाया, न्यूटन (Newton) ने पृथ्वी की गुरुत्व शक्ति का पता लगाया] से शिक्षाविदों के विचारों में परिवर्तन हो गया। अब उनका ध्यान ग्रीक और लैटिन छोड़कर विज्ञान की ओर चला गया और उनका यह विश्वास हो गया कि 'सत्य' पुस्तकीय अध्ययन से नहीं वरन् प्रकृति-निरीक्षण तथा जगत और इन्द्रिय-सम्पर्क से प्राप्त होता है। अतः शिक्षा-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे बालक को प्रकृति के सम्पर्क में आने का अवसर मिले और बालक प्राकृतिक पदार्थों तथा नियमों का ज्ञान प्राप्त कर सके।

शिक्षा पर प्रभाव— उक्त विचारों के परिणामस्वरूप शिक्षा में प्रकृति और विज्ञान के अध्ययन पर बल दिया गया। पाठ्य-क्रम में भाषा तथा साहित्य का स्थान विज्ञान ने ले लिया। एक नई शिक्षा-प्रणाली का निर्माण हुआ जो 'आगमन प्रणाली' (Inductive Method) के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह प्रणाली 'निगमन प्रणाली' (Deductive Method) से अधिक उत्तम समझी गई। यह पद्धति बाल-मनोविज्ञान के अनुकूल थी। बाल-शिक्षा के लिये वह शिक्षण-प्रणाली अधिक उपयुक्त समझी गई जो बालक को पहिले वस्तु फिर विचार तत्पश्चात् शब्द का ज्ञान करावे। मातृभाषा

की शिक्षा तथा माध्यम पर विशेष बल दिया गया। इस विचारधारा के विद्वानों
उपयोगी तथा व्यावहारिक ज्ञान देने पर अधिक ध्यान दिया। बालक की 'विवे
शक्ति' के विकास पर अधिक बल दिया गया। यह विचारधारा शिक्षा-मनोविज्ञान
विकास में भी सहायक हुई। विज्ञान के विभिन्न आविष्कारों से लोगों की यह धारण
बन गई कि प्रकृति की शिक्षा स्कूल की कृत्रिम शिक्षा से कहीं अच्छी है। इस विचा
के आधार पर शिक्षा में प्रकृतिवाद का विकास हुआ। व्यक्तियों ने यह निष्क
निकाला कि बालक पर किताबों का बोझ लादने के बजाय उसके मन का क्रमि
विकास ही शिक्षा का मूल-मंत्र है।

ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद के मुख्य प्रतिनिधिः—(१) मुलकास्टर (Mulcaster) (१५३०—१६११)—इस विचारधारा के प्रधान प्रतिनिधियों में मुलकास्टर, बेकन, राटके तथा कमेनियस के नाम उल्लेखनीय हैं। मुलकास्टर का अधिकांश जीवन अध्यापन-कार्य करने में बीता। वह लगभग ३७ वर्ष तक इङ्गलैंड के स्कूलों का प्रधानाध्यापक रहा। मुलकास्टर ने अपने शिक्षा सम्बन्धी विचार 'एलेमेन्टरी' (Elementarie) और 'पोजीशन्स' (Positions) नामक रचनाओं में व्यक्त किये हैं। मुलकास्टर के अनुसार "शिक्षा का ध्येय शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का विकास करना तथा प्रकृति को अपनी पूर्णता तक पहुँचने में योग देना है।" (The end of education and training is to help nature to her perfection)* उसने प्रचलित शिक्षा का विरोध किया। उसने बालक को शिक्षा का केन्द्र माना। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा बतलाया। उसने बालक के मस्तिष्क पर किसी प्रकार का दबाव डालना बुरा बतलाया और बालक की बुद्धि, विवेक तथा स्मरण-शक्ति के विकास पर बल दिया। शिक्षक को अध्यापन कला की शिक्षा देना आवश्यक समझा। उसने बालक की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए मातृभाषा, पढ़ना-लिखना, चित्रकला, संगीत आदि विषयों को आवश्यक समझा। माध्यमिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम में वैज्ञानिक विषयों का समावेश किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुलकास्टर ने उन सभी शिक्षा-सिद्धान्तों पर बल दिया जो आगे चलकर प्रचलित हुए।

(२) बेकन (Bacon) (१५६१-१६२६)— बेकन इङ्गलैंड का एक बड़ा दार्शनिक था। उसने 'एडवांसमेंट आफ लर्निङ्ग' (Advancement of Learning) तथा 'दि न्यू एटलांटिस' (The New Atlantis) नामक ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रंथों में उसने शिक्षा सम्बन्धी विचार व्यक्त किये हैं। उसने शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को प्रकृति पर अधिकार पाना बतलाया। † (The object of all knowledge is to give man power over nature) उसने बतलाया

*Page 230, Brief Course in the History of Education by Munroe
†The History of Western Education by Boyd, page 236.

कि बौद्धिक-जीवन का उपयोगी होना आवश्यक है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को समाज के लिए उपयोगी बनाना है। उसने शिक्षा में प्रकृति तथा भौतिक-शास्त्र के अध्ययन को प्रमुख स्थान दिया और इन्हें शिक्षा का साधन माना। उसका विचार था कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति एक शक्ति प्राप्त करता है जिससे वह प्रकृति पर शासन करता है। किन्तु प्राकृतिक नियमों का पालन करके ही प्रकृति पर शासन किया जा सकता है।

बेकन प्रचलित शिक्षा का विरोधी था। उसका विचार था कि प्राचीन साहित्य के पढ़ने से शिक्षा का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। उससे तो केवल शाब्दिक ज्ञान मिलता है। यह ज्ञान व्यर्थ है क्योंकि अनुमान से सीखा हुआ ज्ञान उपयोगी नहीं होता। इस प्रकार वह प्रचलित शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध था। उसने शिक्षा की पद्धति में परिवर्तन किया और उसे वैज्ञानिक स्वरूप दिया। यह 'आगमन प्रणाली' कहलाई। इस प्रणाली के आजाने पर अरस्तू की प्राचीन-पद्धति अर्थात् 'निगमन विधि' का महत्त्व कम हो गया। उसने शिक्षा के पाठ्य-क्रम में वैज्ञानिक विषयों को सबसे ऊँचा स्थान दिया और उनके बाद साहित्य, दर्शन और धर्म को।

(३) राटके (Ratke) (१५७१–१६३५)—राटके जर्मनी का रहने वाला था। उसके शिक्षा सम्बन्धी विचार उसके ग्रंथ 'मेथड्स नोवा' (Methods Nova) में मिलते हैं। उसने शिक्षा में एक नई रीति चलाई और उसी की रीति को कमेनियस ने और आगे बढ़ाया। राटके के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का विकास प्रकृति के नियमानुसार करना है। उसने कुछ शिक्षा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिनको अब शिक्षा-शास्त्र में सम्मिलित कर लिया गया है। उसके सिद्धान्त निम्नलिखित हैं:—

(१) स्वाभाविक नियमों का पालन करना चाहिए। (Follow nature)

(२) एक समय में एक ही विषय पढ़ाना चाहिए। 'One thing at a time.)

(३) ज्ञान को स्थायी बनाने के लिये बार-बार दोहराना चाहिए। (Repetition.)

(४) शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा हो। (Everything through the mother tongue.)

(५) बालक पर किसी प्रकार का दबाव न डालना चाहिए। (No repression.)

(६) ज्ञान रटाया न जाय। (Nothing be learnt by heart.)

(७) उसने शिक्षा में एकरूपता के सिद्धान्त पर बल दिया। (Uniformity in all things.)

(८) वस्तुओं को समझने के बाद शब्दों का ज्ञान कराया जाय। (First things then words)

(९) व्यक्तिगत अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। (Everything through experience)

(१०) ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर ज्ञान (Learning through senses)

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राटके की शिक्षा-पद्धति तथा वर्तमान शिक्षा-पद्धति में बड़ी समानता है। उसने पाठ्य-क्रम में मातृ-भाषा को प्रमुख स्थान दिया और धार्मिक शिक्षा के लिये हिब्रू, लेटिन और ग्रीक भाषा का अध्ययन आवश्यक बतलाया। वह खेल, कूद तथा व्यायाम का पक्षपाती था और शारीरिक दंड के विरुद्ध था। राटके का उद्देश्य मातृ-भाषा के माध्यम से विविध कलाओं तथा विज्ञान की शिक्षा देना था। वह एक समान भाषा, शासन तथा धर्म समस्त जर्मनी में स्थापित करना चाहता था।

(४) कमेनियस (Comenius) (१५९२–१६७१) कमेनियस 'मोराविया' (Moravia) का रहने वाला था। वह ज्ञानेन्द्रिय-यथार्थवादियों में सबसे प्रसिद्ध है। आजकल के समस्त शिक्षा-सिद्धान्तों पर कमेनियस के विचारों की छाप है। उसे प्रचलित शिक्षा-पद्धति पसन्द न थी। प्रकृति के अध्ययन के आधार पर वह शिक्षा की एक नई व्यवस्था करना चाहता था। उसे सार्वभौमिक शिक्षा के सिद्धान्त में विश्वास था, अतः शिक्षा को वह सबके लिये सुलभ करना चाहता था।* कमेनियस के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को ज्ञानी, नैतिक तथा ईश्वर-भक्त बनाना है। कमेनियस द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्य की चर्चा करते हुए श्री जायसवाल ने कहा है कि 'कमेनियस की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को जीवन में सफल बनाना और ज्ञान द्वारा नैतिक तथा धार्मिक भावना का विकास करना था।' उसने शिक्षा काल को चार भागों में विभाजित किया- मदर स्कूल, वर्नाक्यूलर स्कूल, लेटिन स्कूल और विश्वविद्यालय। इन चारों भागों के लिए कमेनियस ने पाठ्य-क्रम निर्धारित किया और पाठ्य-पुस्तकों का निर्वाचन किया, जिनका स्थानाभाव के कारण यहाँ पर उल्लेख नहीं किया जा सकता। कमेनियस ने शिक्षा के लिए 'प्रकृति का अनुसरण' करने का सिद्धान्त माना। उसका कहना था कि पढ़ाने की विधि स्वाभाविक होनी चाहिए। कमेनियस का कहना था कि प्रकृति में सभी कार्यों के लिये समय निश्चित है अतः शिक्षा भी उचित समय पर होनी चाहिए। कमेनियस ने ज्ञान प्राप्त करने के लिए

*Comenius would establish such a system of Education that all the young men should be educated, "not the children of the rich or of the powerful only but all alike, boys and girls, both noble and ignoble, rich and poor, in all cities and towns, villages and hamlets, should be sent to school."

— *The Great Didactic*, Ch. 12.

माध्यम बतलाये हैं—ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि तथा दैवी प्रकाशन (Revelation)। उसने स्वानुभव पर विशेष बल दिया। उसने शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में नौ नियमों का प्रतिपादन किया जो इस प्रकार हैः—

(१) जो कुछ पढ़ाना हो उसे स्पष्ट और सीधे तरीके से बताना चाहिए।
(२) जो कुछ पढ़ाया जाय उसकी दैनिक जीवन में उपयोगिता हो तथा उसका व्यावहारिक महत्व हो।
(३) शिक्षा-पद्धति सरल और सीधी हो।
(४) जो कुछ पढ़ाया जाय उसका प्रयोजन बतला दिया जाय।
(५) साधारण नियमों की व्याख्या की जाय।
(६) सभी विषय उचित क्रम से पढ़ाने चाहियें। एक समय में एक वस्तु पढ़ानी चाहिए।
(७) विषय के विभिन्न अङ्गों की शिक्षा क्रमानुसार देनी चाहिए जिससे विभिन्न अङ्गों का आपसी सम्बन्ध स्पष्ट हो जाय।
(८) जब तक बालक न समझ ले विषय को न छोड़ना चाहिए।
(९) विषयों के अङ्गों और वस्तुओं के भेद को भली प्रकार समझाना चाहिये।

इन नौ नियमों के अतिरिक्त कमेनियस ने पाठ्य-सामग्री, कार्य द्वारा शिक्षा तथा अभ्यास पर विशेष बल दिया। बालकों में धार्मिक तथा नैतिक भावना जाग्रत करने के लिए कमेनियस ने यह उत्तम समझा कि शिक्षक कथन से नहीं वरन् आदर्श उपस्थित करके शिक्षा दें। उसका कथन है कि बालकों को पहले मातृ-भाषा सीखनी चाहिए, फिर दूसरे विषय। प्रत्येक कक्षा की शिक्षा दूसरे से सम्बन्धित होनी चाहिए जिससे बालकों का ज्ञान क्रमबद्ध रूप में हो। वह शारीरिक दण्ड देने के विरुद्ध था। उसका विचार है कि मारने पीटने से शिक्षा अरुचिकर हो जाती है। कमेनियस 'निजी अध्यापक द्वारा शिक्षा' के सिद्धान्त का समर्थक न था।

प्रभाव— शिक्षा-इतिहास में कमेनियस का एक महत्वपूर्ण स्थान है। उसने जिन शिक्षा-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया वे आधुनिक शिक्षा में किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। उसने मनुष्यों का ध्यान शिक्षा-मनोविज्ञान, शिक्षा में समन्वय, शिक्षा-संगठन, शिक्षा-पद्धति तथा नई पाठ्य-पुस्तक की ओर आकर्षित किया। सर्वसाधारण की शिक्षा के नियम को प्रतिपादित किया। इन सब बातों से शिक्षा के प्रसार में बड़ी सहायता मिली। उक्त बातों के कारण कमेनियस को आधुनिक शिक्षा का पिता कहा गया है। कमेनियस के ही सिद्धान्तों का विकास हम रूसो, पेस्टालाजी, हरबार्ट आदि शिक्षा-शास्त्रियों के विचारों में पाते हैं।

यथार्थवाद का प्रभाव

यथार्थवादी शिक्षा का समाज पर काफी प्रभाव पड़ा क्योंकि इसका उद्देश्य ही

व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना था। लेकिन यथार्थवादी शिक्षा का स्कूलों पर विशेष प्रभाव न पड़ा। इसका प्रधान कारण यह था कि यथार्थवादी स्वयं भी अपने सिद्धान्तों को कार्यान्वित न कर सके। व्यक्तियों ने यथार्थवाद को पूर्ण रूप से न समझा। अतः इसका तत्कालीन शिक्षा पर प्रभाव न पड़ सका। धनिकों की नई-नई 'ऐकेडेमीज' स्थापित हुई। उनमें मध्यकालीन शिक्षा-प्रणाली तथा पाठ्य-क्रम का अनुकरण किया गया। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा पर यथार्थवाद का प्रभाव बहुत धीरे-धीरे पड़ा। जर्मनी में कुछ नये स्कूल खोले गये जिनमें व्यावहारिक विषय पढ़ाये जाने लगे। इन स्कूलों में मातृभाषा को प्रधानता दी गई और धार्मिक शिक्षा पर बल दिया गया। इंगलैण्ड में भी जनता के लिए कुछ स्कूलों का संगठन किया गया और उनमें नये विषय पढ़ाये जाने लगे।

प्रश्न

(१) यथार्थवाद का क्या अर्थ है ? इसके भिन्न-भिन्न रूप बतलाइये और उनके अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

(२) "ज्ञानेन्द्रिय- यथार्थवाद ही सब शिक्षा सिद्धान्तों की जड़ है" — इस कथन की पुष्टि कीजिए।

छठा अध्याय

प्रकृतिवाद

(Philosophy of Naturalism)

ऐतिहासिक भूमिका—पश्चिमी विचारधारा के इतिहास में अट्ठारहवीं शताब्दी अपना एक महत्व रखती है। इस शताब्दी में यूरोप के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा शैक्षिक क्षेत्र में एक महान क्रान्ति हुई जिसने इस युग को मध्यकालीन युग से बिल्कुल पृथक् कर दिया। यह क्रान्ति धार्मिक संस्थाओं के प्रभुत्व तथा एकाधिकारत्व के विरुद्ध हुई थी। अट्ठारहवीं शताब्दी के लोग किसी भी प्रकार का प्रभुतावाद (Absolutism), नियमित-विनय (Formalism) तथा एकतन्त्रवाद मानने के लिये तैयार न थे। वे व्यक्ति को एक स्वतन्त्र सत्ता मानते थे। इसलिये चारों ओर यह प्रयत्न होने लगा कि व्यक्ति को एकाधिकारियों के चंगुल से मुक्त किया जाय। इस क्रान्ति का जन्म मध्ययुग में हो चुका था। पहिले इसने 'पुनरुत्थानकाल' (Renaissance) तथा 'सुधारवाद' (Reformation) का रूप धारण किया। तत्पश्चात् 'यथार्थवाद (Realism), 'प्यूरिटेनिज्म' (Puritanism) और 'पीएटिज्म' (Pietism) का और अन्त में इसका उग्र रूप 'प्रकृतिवाद' (Naturalism) के रूप में सामने आया। इस क्रान्ति के दो प्रधान नायक थे— 'वाल्टेयर' (Voltaire) और 'रूसो' (Rousseau)। अट्ठारवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वाल्टेयर ने बौद्धिक दमन के विरुद्ध और उत्तरार्द्ध में रूसो ने राजनैतिक अधिकारों के दमन के विरुद्ध आन्दोलन किया जिसकी चरम सीमा फ्रांस की राजक्रान्ति के रूप में दृष्टिगोचर हुई। वाल्टेयर ने समाज और शिक्षा का आधार 'विवेक' बतलाया। अतः उसने विवेकवाद (Rationalism) की विचारधारा को आगे बढ़ाया।

प्रकृतिवाद का जन्म— 'विवेकवाद' के साथ-साथ एक दूसरी धारा भी प्रवाहित हुई जिसे 'प्रबोधवाद' (Enlightenment) कहा गया है। इन धाराओं का अभिप्राय रूढ़िगत संस्थाओं का अन्त करना था। इन धाराओं के प्रवर्तक एकतन्त्रवाद तथा अन्ध-विश्वास को मिटाना चाहते थे। धर्म तथा चर्च का प्रभुत्व कम करना चाहते थे। वे विचार तथा विश्वास के नियमित-विनय (Formalism) के विरुद्ध थे। अतः नियमित-विनय का उन्होंने खण्डन किया। उनका 'मानव-स्वभाव' तथा 'विवेक' में पूर्ण विश्वास था। वे व्यक्ति को सामाजिक तथा धार्मिक बन्धनों से मुक्त करके उसका नैतिक स्तर ऊँचा करना चाहते थे। वे आचार-व्यवहार की स्वतन्त्रता, सामाजिक न्याय तथा धार्मिक सहिष्णुता के पक्षपाती थे। परन्तु प्राचीनता का विरोध करने में वे इतने आगे बढ़ गये कि उनका एक पृथक् वर्ग बन गया। उन्होंने जनसाधारण की स्थिति को सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं किया और निम्न-वर्ग के प्रति

कोई सहानुभूति नहीं दिखलाई। इस प्रकार विवेकवाद भी अन्य वादों की तरह नियमवाद में परिवर्तित हो गया और अवनति को प्राप्त हुआ। अब एक ऐसी विचारधारा की आवश्यकता प्रतीत हुई जो व्यक्ति-जीवन से सम्बन्धित हो और जो जन-साधारण की स्थिति को सुधार सके अर्थात् जिससे समाज का कल्याण हो सके। रूसो ने ऐसी ही विचारधारा का प्रवर्तन किया जो आगे चल कर प्रकृतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। रूसो हृदयवादी था। उसके मन में जन-साधारण के लिये अपार सहानुभूति थी। इसी सहानुभूति के आधार पर प्रकृतिवाद विकसित हुआ।

प्रकृतिवाद क्या है?— आधुनिक समय में भौतिकवाद शब्द का स्थान प्रकृतिवाद शब्द ने ले लिया है। प्रकृतिवाद, शक्ति, गति, प्रकृति के नियमों तथा कार्य-कारण सम्बन्ध (Causal relationship) के प्रत्ययों पर बल देता है। यह मन को मस्तिष्क की ही सह-क्रिया मानता है। प्रकृतिवादी पदार्थ, जीवन तथा मन के जगत की व्याख्या भौतिक तथा रासायनिक नियमों द्वारा करते हैं। ये 'शक्ति के संरक्षण' तथा 'विकास के सिद्धान्त' पर जोर देते हैं। ये ईश्वर की सत्ता, इच्छा की स्वतन्त्रता, आत्मा की अमरता तथा पर जगत की सत्ताओं को नहीं मानते। ये प्रकृति को सम्पूर्ण तत्त्व मानते हैं। यह वाद अपनी दार्शनिक भित्तियों के लिए आदर्शवाद से भिन्न है। यह आदर्शवाद की प्रतिक्रिया के रूप में है। प्रकृतिवाद के अनुसार व्यक्ति को प्रकृति के निकट तथा उसके सम्पर्क में लाने की आवश्यकता है। सभ्यता तथा सामाजिक विकास के कारण मनुष्य प्रकृति से दूर हो गया है। प्रकृति से दूर होने के कारण मनुष्य दूषित तथा पीड़ित अवस्था को प्राप्त हुआ है। उसकी स्थिति को सुधारने का एक मात्र उपाय यही है कि उसे प्रकृति के सम्पर्क में लाया जाय ताकि वह सरल, स्वाभाविक तथा प्राकृतिक जीवन व्यतीत कर सके। श्री जायसवाल ने अपनी पुस्तक 'पश्चिमी शिक्षा का इतिहास' में प्रकृतिवाद के स्वरूप को निश्चित करते हुए लिखा है कि 'प्रकृतिवाद मनुष्य की प्रकृति को धर्म और समाज का आधार मानता है।' उन्होंने इसे सम्बन्ध में हमारा ध्यान मारले महोदय के कथन की ओर भी आकर्षित किया है। मारले महोदय ने प्रकृतिवाद का स्वरूप इन शब्दों में निश्चित किया है—"सबसे प्रेम करना मानव प्रकृति में पूर्ण विश्वास करना, न्याय की सदा कामना करना, और साधारणतया सन्तोष के साथ काम करना कि इससे दूसरों का उपकार होगा।" * इस प्रकार प्रकृतिवाद मानव प्रकृति पर अधिक बल देता है।

इस विचारधारा के प्रतिनिधियों में अरस्तु (Aristotle), कोम्टे (Comte), बेकन (Bacon), हाब्स (Hobbes), लेमार्क (Lamarck), रूसो (Rousseau), हक्सले (Huxley), स्पेन्सर (Spencer), तथा बर्नार्ड शा (Bernard Shaw) के नाम उल्लेखनीय हैं।

* P. 130, History of Western Education by Shri Jayaswal.

प्रकृतिवाद के रूप— प्रकृतिवाद के तीन प्रमुख रूप हैं। वे इस प्रकार हैं:— (१) पदार्थ-विज्ञान का प्रकृतिवाद (Naturalism of Physical Sciences), (२) यंत्रवादी प्रकृतिवाद (Mechanical Naturalism), तथा (३) जीव-विज्ञान का प्रकृतिवाद (Biological Naturalism)।

१. पदार्थ-विज्ञान का प्रकृतिवाद— पदार्थ-विज्ञान द्वारा प्रतिपादित प्रकृतिवाद का शिक्षा में कोई महत्व नहीं है। पदार्थ विज्ञान केवल बाह्य प्रकृति के नियमों का अध्ययन करता है और अनुभव के प्रत्येक तथ्य की उन्हीं नियमों के आधार पर व्याख्या करता है। यह मनुष्य को पदार्थ जगत् के नियमों के अनुसार समझने की चेष्टा करता है। इसका मानव की अन्तःप्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव शिक्षा जो मानवीय क्रिया है इससे प्रभावित नहीं होती।

२. यंत्रवादी प्रकृतिवाद— इस विचारधारा के अनुसार जगत् एक प्राणहीन यंत्र जो पुद्गल (Matter) तथा गति (Motion) का बना हुआ है जिसमें कोई ध्येय, प्रयोजन अथवा आध्यात्मिक शक्ति नहीं है। इस विचारधारा ने मानव को एक यंत्र माना है और उसके चेतन तत्व की उपेक्षा की है। (Man is a mere machine He is solely directed by exterior influences. He originates nothing, not even a thought) इसी विश्वास के परिणाम-स्वरूप व्यवहारवादी मनोविज्ञान (Psychology of Behaviourism) का जन्म हुआ। व्यवहारवादी मनोविज्ञान के अनुसार मनोविज्ञान मनुष्य के केवल बाह्य व्यवहार का अध्ययन करता है और जिन्हें हम मानसिक क्रियाएँ कहते हैं वे केवल बाह्य उत्तेजक (Stimulus) की प्रतिक्रिया-मात्र है। व्यवहारवादियों के अनुसार शिक्षा का ध्येय मनुष्य को जटिल कार्य करने के योग्य बनाना है। व्यवहारवादियों का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ सहज-क्रियाओं (Reflex Actions) को लेकर जन्म लेता है जब वे सहज-क्रियाएं (Reflex Actions) बाह्य वातावरण के सम्पर्क में आती हैं तब सम्बद्ध सहज-क्रियाओं (Conditioned Reflex Actions) की रचना होती है और इन्हीं की सहायता से मनुष्य प्रत्येक काम करता है, अतः व्यवहारवादियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मानव में उचित तथा उपयोगी 'सम्बद्ध-सहज-क्रियायें' (Conditioned Reflex Actions) उत्पन्न करना है। इनके द्वारा मानव-यंत्र सुचारु रूप से चलता है। परन्तु व्यवहारवाद का शिक्षा के क्षेत्र में विशेष महत्व नहीं है। व्यवहारवाद भले ही यह बता दे कि पशु अपनी परिस्थितियों का किस प्रकार सामना करता है किन्तु वह मानव के आचरण की व्याख्या पूर्ण रूप से नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य का आचरण उसके विचार, उद्देश्य तथा प्रयोजन पर निर्भर होता है। मनुष्य का शरीर दूसरे प्राणियों के समान अवश्य है परन्तु दूसरे प्राणियों में वह आध्यात्मिक शक्ति, सोचने की शक्ति तथा इच्छा शक्ति नहीं जो मनुष्य में है।

मनुष्य में नई परिस्थिति उत्पन्न करने की तथा परिस्थिति पर विजय प्राप्त करने की शक्ति विद्यमान है। अतः पशुओं के आचरण तथा मनुष्यों के आचरण में भिन्नता होती है। मनुष्य निरा पशु नहीं अतएव उसकी शिक्षा भिन्न प्रकार से होगी।

३. जीव विज्ञान का प्रकृतिवाद—यह प्रकृतिवाद विकास-सिद्धान्त (Theory of Evolution) में विश्वास रखता है। विकास के सिद्धान्तानुसार साधारण जातियों (simple species) में से पौधे, जन्तुओं, पशुओं और मनुष्यों का विकास हुआ है। यह विचारधारा मानव का विकास पशुओं से मानती है, और हमें प्राकृत मानव (Natural man) से परिचित कराती है। मनुष्य के आदिम स्वभाव से प्राकृत मानव का बोध होता है। यह मनुष्य के उस स्वभाव पर बल देती है जो उसे उसके पूर्वगामी पशु-पूर्वजों से प्राप्त हुआ है। नैसर्गिक स्वभाव के कारण ही मानव और पशु में अधिक साम्य है। मानव-विकार के सम्बन्ध में जो बातें जीव-विज्ञान से प्राप्त होती हैं वे शिक्षा के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। इस विज्ञान से हमें यह मालूम हो जाता है कि मानव किन-किन परिस्थितियों को पार करके वर्तमान अवस्था को प्राप्त हुआ है। बालक अपने जीवन में उन सब परिस्थितियों की पुनरावृत्ति करता है। इन परिस्थितियों के ज्ञान के आधार पर बालक का विकास किया जा सकता है। इस प्रकार बिना जीव-विज्ञान की सहायता के शिक्षा आगे नहीं बढ़ सकती।

जीव-विज्ञान के दो महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं :— (१) 'जीवन के लिये संघर्ष' (Struggle for existence), और (२) 'समर्थ का अस्तित्व' (Survival of the fittest)। पहले सिद्धान्त के अनुसार हरएक को जीवित रहने के लिये निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है। दूसरे के अनुसार जो समर्थ होता है वही जीवित रहता है। ऐसी दशा में शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को जीवन-संघर्ष के लिये तैयार करना है, अन्यथा वह अपने अस्तित्व को खो देगा। उपर्युक्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन डारविन महोदय (Darwin) ने किया है। इसी सम्बन्ध में एक दूसरे विद्वान् लैमार्क (Lamarck) ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। लैमार्क का कहना है कि वही मनुष्य जीवित रहता है जो अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल बना लेता है। इन सिद्धान्तानुसार शिक्षा का उद्देश्य मानव को वह शक्ति तथा योग्यता प्रदान करना है जिसके प्रयोग से वह अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल बना सके।

बर्नार्ड शा (Bernard Shaw) के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्यों को शीघ्रातिशीघ्र सभ्य बनाना है। उनका कथन है कि मनुष्य और पशु में सभ्यता का अन्तर है। एक असभ्य मनुष्य पशुतुल्य होता है। वह शिक्षा द्वारा ही सभ्य बनाया जा सकता है। सभी मनुष्यों को सभ्य बनाने के लिये शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। इस प्रकार सभ्यता के विकास की गति को शिक्षा द्वारा ही तीव्र किया जा सकता है।

ाक्षा द्वारा अर्जित गुण सामाजिक परम्परा (Social heredity) की सहायता से
ीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहते हैं।

प्रकृतिवाद और शिक्षा

सर्वप्रथम बेकन (Bacon) और कमेनियस (Comenius) ने शिक्षा में
कृतिवाद प्रारम्भ किया। उनका कहना है कि शिक्षा का काम पुस्तकें पढ़ा देना नहीं
रन् प्रकृति के अनुसार बालक को चलाना है। किसी वस्तु का ज्ञान कृत्रिम रूप से
हीं वरन् प्राकृतिक रूप में प्राप्त करना चाहिए। 'प्रकृति का अनुसरण ही ज्ञान
प्त करने की सबसे उत्तम विधि है।' इस सम्बन्ध में हम एडम्स (Adams) के
ाजिकल एण्ड साइकोलाजिकल' (Logical and Psychological) अध्याय की
र संकेत करते हैं। 'पशु-सम्बन्धी ज्ञान केवल नोवा के आर्क के
ढ़ने से प्राप्त नहीं होता, वरन् पशुओं को उनके प्राकृतिक रहन-सहन में देखने
ा सकता है।' इस प्रकार शिक्षा में प्रकृतिवाद का आन्दोलन शुरू हुआ।
ो ने इस आन्दोलन को चरम सीमा तक पहुंचाया। इस आन्दोलन के अन्य
र्थक बेसडो (Basedow), पेस्तालाजी (Pestalozzi), हरबार्ट (Herbart),
न्सर (Spencer), फ्रोबेल (Froebel) आदि हैं। इस आन्दोलन की विशेषताएँ
म्नांकित हैः—

(१) पुस्तकीय शिक्षा का विरोध— ऐडम्स महोदय के अनुसार शिक्षा में
कृतिवाद का आशय उन सभी शिक्षा प्रणालियों से है जो पाठशालाओं और पुस्तकों
निर्भर न रहकर शिक्षार्थी के वास्तविक जीवन को ही अध्ययन करके उसे
कसित करने के लिये परिस्थितियाँ जुटाती हैं।* अब तक शिक्षा में पुस्तकों का
धिक महत्व था। ग्रीक, लेटिन में लिखी हुई पुस्तकें रट लेना ही शिक्षार्थी का
ार्य था। बालकों का लगभग सभी समय इन पुस्तकों के रटने में नष्ट हो जाता
। प्रकृतिवाद ने इस पुस्तकीय-शिक्षा का विरोध किया। इसने केवल भाषाओं के
ने में ही जीवन को नष्ट करने को रोका और बतलाया कि बालकों को केवल
तकें पढ़ा लेना शिक्षा कार्य नहीं अपितु उन्हें प्रकृति के अनुसार चलाना चाहिए
र उन्हें अपने आप विकसित होने देना चाहिए। इस अर्थ में यह वाद आदर्शवाद
विरोधी प्रतीत होता है क्योंकि आदर्शवाद ने शिक्षा में भाषा ज्ञान को परम प्राप्य
ान दे रखा था।

---

*Naturalism, as Adams points out, is a term loosely applied
Educational theory to systems of training that are not
pendent on schools and books but on the manipulation of
e actual life of the educand
oundwork of *Educational Theory* by Ross, page 87, Ch. IV.

(२) प्रकृति की ओर लौटो — शिक्षा में प्रकृतिवाद उस आन्दोलन का बोधक है, जो उस समय की प्रचलित शिक्षा के विरुद्ध किया गया था। प्रचलित शिक्षा व्यर्थ थी, क्योंकि उसके द्वारा बालक का समुचित विकास असम्भव था। अट्ठारहवीं शताब्दी तक समस्त संस्थाएं राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक — दूषित हो चुकी थीं। इनके द्वारा बालक के विकास की सम्भावना न थी अतः प्रकृतिवाद ने "प्रकृति की ओर लौटो" (Back to nature) का नारा लगाया। इस नारे का आशय था कि बालक को अपनी प्रकृति के अनुसार स्वयं विकसित होने दो। क्योंकि उस समय के समाज तथा स्कूल का वातावरण कृत्रिम और दूषित था इसलिए प्रकृतिवाद ने इस बात पर बल दिया कि समाज तथा स्कूल के वातावरण से दूर प्राकृतिक वातावरण में ही बालक का विकास सम्भव है। अतः रूसो ने बालक को स्कूल के कृत्रिम तथा दूषित वातावरण से दूर रखने का सुझाव रखा। उसका विचार है कि बालक का प्राकृतिक विकास तभी सम्भव है जब वह कृत्रिमता से दूर रहे। इस दृष्टि से 'कृत्रिमता' के लिए रूसो की शिक्षा में कोई स्थान न था। रूसो ने यह भी बतलाया कि बालक का प्राकृतिक विकास करने के लिए उसे सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक बंधनों से मुक्त करना होगा। अतएव प्रकृतिवादी बालक को समाज में तथा समाज की संस्थाओं में रखकर शिक्षा देने के पक्ष में नहीं हैं। उनके विचार में प्रकृति ही सर्वश्रेष्ठ शिक्षक है, अध्यापक तो मानव-समाज का अङ्ग होने के कारण स्वयं दूषित है। अतः प्रकृतिवादी शिक्षक की कोई आवश्यकता नहीं मानते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रकृतिवादी शिक्षा को पाठशाला तथा पुस्तकों पर आधारित नहीं करते।

(३) बालक की प्रधानता— अभी तक शिक्षा में बालक का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं था। प्राचीन काल की शिक्षा में शिक्षक का और मध्यकाल में पाठ्य-विषयों का महत्त्व था। बालक को बालक नहीं वरन् 'छोटा प्रौढ़' (Miniature Adult) समझा जाता था। उसको 'छोटा प्रौढ़' समझ कर उसके ऊपर विभिन्न विषयों की पोथियां लाद दी जाती थीं। परन्तु प्रकृतिवादियों ने बालक को शिक्षक तथा पाठ्य-विषयों की अपेक्षा अधिक महत्त्व पूर्ण माना है। उनका कथन है कि बालक की प्रकृति साधु होती है, अतः उसकी इन्द्रियां तथा प्रवृत्तियों का दमन नहीं होना चाहिए। उसका अपना विशेष व्यक्तित्व होता है। अवस्था के अनुसार देखने, सुनने और समझने का उसका अपना स्तर होता है। उन्होंने बालक को शिक्षा का केन्द्र बतलाया और इस बात पर बल दिया कि शिक्षा उसकी प्रवृत्तियों, शक्तियों, योग्यताओं तथा रुचियों के अनुकूल होनी चाहिए। बालक बालक ही है; और प्रकृति भी यह चाहती है कि बालक मनुष्य बनने के पूर्व बालक ही रहे, अतः उसे पोथियों के भार से नहीं लादना [illegible] का स्थान बालक के विकास
चाहिए। शिक्षा में प्रकृतिवाद की विचारधारा [illegible]

की विभिन्न अवस्थाओं की ओर आकर्षित किया और उसकी अवस्थाओं के अनुसार उसे शिक्षित करने की आवश्यकता पर बल दिया प्रकृतिवादियों का मत है कि यदि हम बालक के स्वाभाविक विकास में किसी प्रकार की बाधा डालेंगे तो हमें समय से पूर्व ही फल तो मिल जायेंगे परन्तु ये फल अच्छे न होंगे और शीघ्र सड़ भी जायेंगे। इस प्रकार प्रकृति के क्रम में बाधा डालने से हमें 'छोटे विद्वान' (Young Savants) परन्तु 'बूढ़े-बालक' (Old Children) मिलेंगे। प्रकृतिवादियों के इन विचारों ने शिक्षा को अत्यन्त ही प्रभावित किया जिसके परिणामस्वरूप अब शिक्षा के समस्त कार्य बालक की आवश्यकताओं तथा योग्यताओं को ध्यान में रखकर किये जाते हैं। शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्य-विषय, प्रणाली, पाठशाला संगठन इत्यादि बालक के जीवन, अनुभव तथा योग्यता के अनुकूल निर्धारित किये जाते हैं। (Education finds its purpose, its process and its means wholly within the child life and the child experience.)* अब शिक्षा बालक के लिये है, बालक शिक्षा के लिये नहीं।

(४) बालक की प्रवृत्तियों का महत्व तथा शिक्षा मनोविज्ञान का विकास—अभी तक बालक की शिक्षा में उसकी मूल-प्रवृत्तियों, शक्तियों तथा रुचियों का कोई स्थान नहीं था। लोगों का विश्वास था कि शिक्षा के लिए इनका ज्ञान आवश्यक नहीं है। बिना इन बातों के ज्ञान के शिक्षा का कार्य सुचारु रूप से चल सकता है। प्रकृतिवाद ने इस विचार का विरोध किया। प्रकृतिवाद के अनुसार बालक की अन्तः प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है। प्रत्येक बालक के विषय में हमें यह जानना चाहिये कि उसकी मूल-प्रवृत्तियाँ, ईश्वरीय गुण, इच्छाएं, रुचियां, शक्तियां, सीमाएं आदि क्या-क्या हैं और फिर उन्हीं के अनुकूल उसे बढ़ने का अवसर देना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृतिवाद ने बालक की रुचियों तथा प्रवृत्तियों के अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था करने की आवश्यकता पर बल दिया है। इस प्रकार प्रकृतिवाद ने बालक की प्राकृतिक शक्तियों (Instincts), स्थायी-भाव (Sentiments), बौद्धिक शक्तियों (Intellectual powers), शिक्षा ग्रहण करने के नियमों (Laws of learning) तथा व्यक्ति के प्रकार (Types of personalities) आदि के अध्ययन का मार्ग खोला। साथ ही साथ इस बात पर बल दिया कि शिक्षा के लिये बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं, जैसे, शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था आदि से परिचित होना अपेक्षित है। उक्त बातों का ज्ञान मनोविज्ञान के द्वारा हो सकता है। इसलिए शिक्षक के लिए यह अपेक्षित है कि वह मनोविज्ञान का ज्ञाता हो। इस प्रकार शिक्षा में मनोविज्ञान का महत्व बढ़ा और शिक्षा में मनोवैज्ञानिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। फलस्वरूप बालक की शिक्षा के लिये शिक्षा-

*Text-book on the History of Education, by Monroe, P. 571-572.

मनोविज्ञान का ज्ञान अत्यधिक आवश्यक है। बिना इस ज्ञान के शिक्षा रूपी गाड़ी चल ही नहीं सकती।

प्रकृतिवाद और शिक्षा के उद्देश्य

भिन्न-भिन्न प्रकृतिवादियों ने शिक्षा के उद्देश्य की समस्या को विभिन्न प्रकार से सुलझाया है। यंत्रवादियों ने शिक्षा का उद्देश्य मानव में उचित तथा उपयोगी सम्बद्ध-सहज क्रियायें (Conditioned Reflex Actions) उत्पन्न करना बतलाया है। जीव-विज्ञान में विश्वास रखने वाले प्रकृतिवादियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मानव को वर्तमान और भविष्य में सुख तथा आनन्द प्रदान करना है। मेकडूगल (McDougall) इस सुख और दुःख के सिद्धान्त से सहमत नहीं है। उसका कथन है कि सुख अथवा दुःख किसी प्राकृतिक क्रिया का लक्ष्य नहीं हो सकता क्योंकि क्रिया करने पर ही उनका जन्म होता है। उसके कथनानुसार शिक्षा का उद्देश्य मूल-प्रवृत्तियों (Natural Impulses) को रूपान्तरित (Sublimate) करके समाजोपयोगी कार्य में लगाना है। दूसरे शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य मूल-प्रवृत्तियों को दबाना नहीं वरन् उचित मार्ग पर लाना है। डारविन (Darwin) तथा लेमार्क (Lamarck) के बताये हुए शिक्षा के उद्देश्यों में भी पर्याप्त भिन्नता है। इन उद्देश्यों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य "बालक को अपनी प्रवृति अथवा नैसर्गिक गुणों के अनुसार स्वतः विकसित होने में सहायता देना है।" प्राकृतिक विकास में शारीरिक विकास निहित है। इसमें बालकों की वैयक्तिक विभिन्नता की ओर भी संकेत है।

'नन' महोदय ने भी जीव-विज्ञान तथा प्रकृतिवाद के आधार पर शिक्षा के उद्देश्य की समस्या का समाधान किया है। यद्यपि 'नन' महोदय प्रकृतिवादी की अपेक्षा आदर्शवादी अधिक है तथापि उनके अनुसार मानव के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से विकास ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास में सहायक शिक्षा ही शिक्षा है। प्रायः नन के व्यक्तिगत उद्देश्य का अर्थ ठीक-ठीक नहीं समझाया जाता। कभी-कभी इसका अर्थ स्वच्छन्दता अथवा स्वार्थपरता से लगाया जाता है। परन्तु नन के अनुसार वैयक्तिकता का तात्पर्य आत्मानुभूति से है। इस प्रकार प्रकृतिवाद के अनुसार बालक का प्रकृति द्वारा उसकी प्रकृति के आधार पर प्राकृतिक ढंगों से विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

प्रकृतिवाद और पाठ्य-क्रम

पाठ्य-क्रम के संगठन की समस्याओं का समाधान प्रकृतिवादी अपने ही ढंग से करते हैं। इस विचारधारा के अनुसार बालक की नैसर्गिक रुचि, योग्यता तथा

स्वाभाविक क्रियाओं के आधार पर पाठ्य-क्रम का निर्धारण होना चाहिए। पाठ्य-क्रम में वे ही विषय रखे जाने चाहियें जो बालक की विभिन्न अवस्थाओं की आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकें। पाठ्य-क्रम ऐसा होना चाहिए जिसमें बालक को स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी अभिरुचियों को विकसित करने का अवसर मिले। केवल 'ज्ञान के लिए ज्ञान' का सिद्धान्त प्रकृतिवादियों को अमान्य है। अतः बालक को अनावश्यक ज्ञान देना अनुचित है। उक्त विचारों के आधार पर प्रकृतिवादी पाठ्य-क्रम में स्वास्थ्य-रक्षा, खेल-कूद, प्रकृति-निरीक्षण, भूगोल, इतिहास आदि विषयों को प्रधानता दी जाती है।

स्पेन्सर महोदय का कथन है कि मानव स्वभाव से ही व्यक्तिवादी है। अपने जीवन की रक्षा करना उसके जीवन का उद्देश्य है। अतः स्पेन्सर महोदय ने पाठ्य-क्रम में उन्हीं विषयों को प्रधानता दी है जो व्यक्ति की जीवन-रक्षा के साधन हैं। इस दृष्टि से उमने साहित्य तथा सांस्कृतिक विषयों को महत्त्वहीन माना है।

प्रकृतिवाद और शिक्षा-विधि

प्रकृतिवाद की विचारधारा ने शिक्षा-पद्धति को भी प्रभावित किया है। शिक्षा में प्रकृतिवाद के फैलते ही उन सब शिक्षा-विधियों का विरोध किया गया जो अब तक प्रचलित थीं। प्रकृतिवादियों ने 'स्वानुभव द्वारा सीखने' (Learning by experience) और 'करके सीखने' (Learning by doing) के सिद्धांतों पर बल दिया है। प्रकृतिवादियों का कथन है कि बालक को पुस्तकों से घेरने के स्थान में ऐसी प्राकृतिक परिस्थितियों से घेर देना चाहिए जिससे वह स्वयं ज्ञान प्राप्त कर सके। इन्हीं विचारों के आधार पर 'ह्यूरिस्टिक मैथड' (Heuristic Method) की रचना हुई। ह्यूरिस्टिक मैथड का अभिप्राय है कि बालक स्वयं ज्ञान को खोज कर प्राप्त करे। जब 'स्वानुभव द्वारा' तथा 'क्रिया द्वारा' ज्ञान प्राप्त करना असम्भव हो तभी शब्दों अथवा पुस्तकों का प्रयोग किया जाय। बालक जो कुछ भी सीखे 'स्वयं सीखे' का विचार इतना प्रबल हुआ कि शिक्षा-शास्त्रियों ने कई नई-नई शिक्षा-प्रणालियों का निर्माण किया जिनमें 'डाल्टन प्रणाली (Dalton Method), 'प्रोजेक्ट प्रणाली' (Project Method), तथा 'मान्टेसरी प्रणाली' (Montessori Method) के नाम उल्लेखनीय हैं। भाषा शिक्षण की 'प्रत्यक्ष प्रणाली' (Direct Method), विज्ञान तथा गणित शिक्षण की 'ह्यूरिस्टिक प्रणाली' तथा भूगोल शिक्षण की 'निरीक्षण पद्धति' (Observation Method) को प्रकृतिवाद ने ही जन्म दिया है 'खेल-द्वारा शिक्षा पद्धति' (Playway Method) के सिद्धान्त जिनका दिग्दर्शन हमें 'प्रोजेक्ट मैथड', 'स्काउट आन्दोलन', भ्रमण तथा यात्राओं, 'स्कूल यूनियर तथा स्वशासन' में होता है वस्तुतः प्रकृतिवादी दार्शनिक धारा से ही प्रभावित हैं। चूंकि प्रत्येक बालक की शिक्षा प्राप्त करने की शक्ति में पर्याप्त अन्तर होता है

इसलिये प्रकृतिवादी सामूहिक शिक्षा पद्धति का घोर विरोध करते हैं। रोस का कथन है, "प्रकृतिवादी शिक्षक अपनी व्याख्याओं की अपेक्षा बालक के शैक्षिक अनुभवों को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।" (The naturalist educator rightly thinks less of his *own exposition*, much more of the learning experience of the pupil.) प्रकृतिवाद ने ही मनुष्यों का ध्यान 'मनोविश्लेषण' (Psycho-Analysis) की ओर आकर्षित किया है।

प्रकृतिवाद और अनुशासन

प्रकृतिवाद के एक बड़े समर्थक स्पेन्सर महोदय ने शिक्षा में अनुशासन की समस्या का समाधान 'आनन्द तथा दुःख के सिद्धान्त' (Hedonistic theory) के आधार पर किया है। उसने अनुशासन स्थापन का सबसे उत्तम साधन प्राकृतिक दंड बतलाया है। इस प्रकार उसने प्राकृतिक दण्ड व्यवस्था (Punishment by *natural consequences*) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त का तात्पर्य है कि व्यक्ति अपने दुष्कर्म का दण्ड प्रकृति से प्राप्त करता है। इस दण्ड से उसे कष्ट होता है। अतः भविष्य में वह उस काम को नहीं करता। उदाहरण के लिये यदि बालक आग में हाथ डालता है तो उसका हाथ अवश्य जलेगा। इस प्रकार प्रकृति द्वारा दण्डित हो जाने पर वह आग में फिर हाथ डालने का साहस नहीं करेगा। बालक अपनी क्रियाओं के परिणामस्वरूप जिस प्रकार का अनुशासन सीखता है उसे वही सीखने देना चाहिए। प्रकृति स्वयं एक शिक्षिका है। वह बालक को अनुशासन सिखा देगी। अतः बालक के लिये प्राकृतिक दण्ड व्यवस्था अधिक उपयुक्त है। रूसो भी 'स्वाभाविक परिणामों द्वारा अनुशासन' (*Discipline by natural consequences*) के सिद्धान्त में विश्वास करता है। उसका कथन है कि बालक को अपने दुष्कर्म का दण्ड स्वाभाविक परिणामों के रूप में ही मिलना चाहिये, उसे शारीरिक दंड न देना चाहिए। प्रकृतिवादियों का कहना है कि इस प्रकार दी गई अनुशासन की शिक्षा में बालक के साथ कोई अन्याय नहीं होता और वह स्वतन्त्र रूप से अपनी विभिन्न शक्तियों का विकास कर सकता है। किन्तु इस प्रकार का दण्ड हानिकारक भी हो सकता है। यह सम्भव है कि बुरे व्यवहार और दण्ड में किसी प्रकार का अनुपात ही न हो। एक छोटी सी भूल के लिये बड़े से बड़ा दण्ड मिल सकता है। इस प्रकार प्रकृति का निर्णय सदैव न्यायपूर्ण नहीं हो सकता। अतः सदैव प्राकृतिक नियमों के अनुसार नहीं चला जा सकता। हक्सले महोदय ने भी इस प्रकार के अनुशासन की आलोचना की है। उनका कथन है कि प्रकृति बिना संकेत के आघात करती है। आदर्शवादी भी अनुशासन स्थापन के उपरोक्त ढंग का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि इस प्रकार के अनुशासन से बालकों को नैतिक शिक्षा नहीं दी जा सकती।

प्रकृतिवाद और शिक्षक

प्रकृतिवादी बालक की शिक्षा में अध्यापक का कोई स्थान नही मानते। उनका कथन है कि प्रकृति ही बालक का सच्चा गुरु है। उसे प्रकृति द्वारा ही जीवन की शिक्षा मिलती है। प्रकृतिवादी बालक को समाज के दूषित वातावरण से पृथक् रख कर शिक्षा देने के पक्षपाती हैं। क्योंकि शिक्षक समाज का एक अङ्ग होने के कारण स्वयं दूषित है इसलिए वे बालक की शिक्षा के लिए शिक्षक की कोई आवश्यकता नहीं समझते। इस प्रकार प्रकृतिवादी बालक की शिक्षा में अध्यापक का कोई हस्तक्षेप नहीं चाहते। वे शिक्षक से केवल इतनी आशा करते है कि वह बालक के लिए ऐसी परिस्थिति का निर्माण करे जिसमें बालक स्वयं ज्ञान ग्रहण कर सके अथवा स्वानुभव द्वारा शिक्षा प्राप्त कर सके। इस दृष्टिकोण के अनुसार बालक की शिक्षा मे शिक्षक का कोई महत्वपूर्ण स्थान नही रहता। इस विचारधारा के अनुसार शिक्षक के कार्य भी अत्यन्त सीमित हो जाते हैं। वह अपने नियमों तथा आदर्शों को बालक पर नहीं लाद सकता। उनकी क्रियाओं मे हस्तक्षेप नही कर सकता। वह अन्य किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सकता। शिक्षक को बालकों के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए ताकि वह उनको समझ सके।

प्रकृतिवाद तथा स्कूल व्यवस्था

इस दार्शनिक धारा का स्कूल के सगठन पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। स्कूल के प्रबन्ध में अब कोई दृढ एव कठोर बन्धन नही होते। प्रकृतिवादी स्कूलों मे समय-विभाग की कठोरता बुरी समझी जाती है। बालक को अपना कार्य करने की, भ्रमण आदि की काफी स्वतन्त्रता होती है। प्रकृतिवादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिये स्कूल अब एक स्वतन्त्र समाज के रूप मे संगठित किया जाता है, जहा प्रत्येक विद्यार्थी को अपने सम्यक् विकास का अवसर मिलता है। स्कूल में स्वशासन की योजना की जाती है। इससे बालक को स्वशासन की ट्रेनिंग मिलती है और ये नेता बनने के साथ-साथ अनुगामी बनने की भी शिक्षा प्राप्त करते है।

प्रकृतिवाद तथा आदर्शवाद

(१) प्रकृतिवाद मनुष्य को सर्वोच्च पशु के रूप में देखता है जिसमे संस्कार, नैसर्गिक प्रवृत्तियां तथा अन्तर्प्रेरणाएँ आदि विद्यमान हैं। यह वाद मनुष्य के आध्यात्मिक अस्तित्व में विश्वास नहीं करता। परन्तु आदर्शवाद मनुष्य को एक शाश्वत आध्यात्मिक तत्व का प्रतिरूप बतलाता है। आध्यात्मिकता ही उसकी एक ऐसी अनुपम विशेषता है जिसके कारण उसमें तथा पशु में इतना महान् अन्तर है।

(२) प्रकृतिवादियों का दृष्टिकोण यान्त्रिक है, वे मनुष्य को मशीन की तरह

समझते हैं और उसके चेतन तत्व की उपेक्षा करते हैं। आदर्शवाद प्राणियों के चेतन तत्व की उपेक्षा नहीं करता।

(३) प्रकृतिवादी भौतिक जगत्, पदार्थ, पदार्थ-सम्बन्धी वैज्ञानिक नियमों में विश्वास करते हैं। वे प्राकृतिक तथा वैज्ञानिक नियमों की सार्वभौमिकता तथा निर्विषयता (objectivity) पर बल देते हैं। वे मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियों तथा आदिम भावनाओं को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। इसके विपरीत आदर्शवाद ने भौतिक जगत् की अपेक्षा अनुभव, मस्तिष्क तथा भावों के संसार को अधिक महत्वपूर्ण माना है।

(४) प्रकृतिवाद में शाश्वत तत्वों, मूल्यों, आदर्शों तथा मान्यताओं का कोई स्थान नहीं है। यदि प्रकृतिवादियों का कोई आदर्श है तो वह यही कि 'प्रकृति' के अनुसार स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना। यह आदर्श कोई उत्तम एवं महान् आदर्श नहीं है क्योंकि पशु भी प्रकृति के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु आदर्शवाद ने मानव के समस्त जीवन के उत्तम एवं महान् आदर्श प्रस्तुत किये हैं जो प्रकृतिवाद के आदर्श की अपेक्षा अधिक सुन्दर एवं श्रेष्ठ हैं।

(५) प्रकृतिवादी बालक की क्रियाओं एवं आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा के पाठ्यक्रम का निरूपण करते हैं। परन्तु आदर्शवादी शिक्षा के पाठ्यक्रम का संगठन विचारों तथा आदर्शों के आधार पर करते हैं। बालक, उसकी वर्तमान तथा भावी क्रियाओं का उनके लिये कोई महत्व नहीं।

(६) प्रकृतिवादी शिक्षा में अध्यापक की कोई अधिक आवश्यकता नहीं होती। रूसो के कथनानुसार बालक की शिक्षा का कार्य प्रकृति को अपने हाथों में ले लेना चाहिए। अध्यापक का हस्तक्षेप बाधक हो सकता है— यह प्रकृतिवाद की धारणा है। अस्तु, अध्यापक को बालक की क्रियाओं में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है और न ही उसके चरित्र-निर्माण के हेतु उसके सम्मुख उच्च आदर्श रखने की आवश्यकता है। परन्तु आदर्शवादी शिक्षा में शिक्षक का एक महत्वपूर्ण स्थान है। आदर्शवादियों के अनुसार बिना शिक्षक की सहायता के बालक अपने उच्चतम स्तर को प्राप्त नहीं कर सकता।

(७) जहाँ तक अनुशासन का सम्बन्ध है प्रकृतिवादी बालक को स्वतन्त्र छोड़ देने के पक्ष में है और आदर्शवादी नियन्त्रण में रखने के। इस प्रकार स्वतन्त्रता प्रकृतिवादियों का नारा है और 'अनुशासन' आदर्शवादियों का।

(८) आदर्शवाद ने शिक्षा के माध्यमों एवं पद्धतियों की अपेक्षा शिक्षा के उच्च एवं महान् उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों के प्रतिपादन में अधिक योग दिया है। परन्तु शिक्षा विधियों तथा पद्धतियों के क्षेत्र में प्रकृतिवाद की देन अद्वितीय है।

प्रश्न

(१) शिक्षा मे प्रकृतिवाद की आलोचना कीजिए।

(२) प्रकृतिवाद की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए, और यह बतलाइये कि इस वाद ने आगे चलकर किन-किन प्रवृत्तियों को जन्म दिया।

(३) 'प्रकृतिवाद ने शिक्षा के उद्देश्यों की अपेक्षा शिक्षा विधियों के निर्माण मे अधिक योग दिया है।' इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

(४) शिक्षा के विभिन्न अंगों पर प्रकृतिवाद का क्या प्रभाव पड़ा है ? स्पष्ट कीजिए।

(५) प्रकृतिवाद और आदर्शवाद के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

(६) 'बालक ही शिक्षा का केन्द्र है।' इस कथन से आप क्या समझते है ? प्रकृतिवाद ने शिक्षा में बालक के महत्व को किस प्रकार स्थापित किया है ?

(७) 'ऐतिहासिक दृष्टि से रूसो शिक्षा मे प्रकृतिवाद का जन्मदाता माना जाता है। परन्तु वास्तव मे उसके शिक्षा-उद्देश्य आदर्शवाद की ओर झुके हुए हैं।' इस कथन की समालोचना कीजिए।

(८) पाठ्यक्रम के अन्तर्वस्तु (Contents) तथा शिक्षण विधि के सम्बन्ध मे प्रकृतिवादियों और प्रयोजनवादियों (Pragmatists) के मतों मे साम्य तथा वैषम्य की व्याख्या कीजिए।

सातवाँ अध्याय

रूसो (Rousseau)

(१७१२-१७७८)

जीवन और कार्य— रूसो का जन्म जेनेवा (Geneva) नगर में हुआ था। उसके माता-पिता दोनों ही अत्यन्त भावुक प्रकृति के लोग थे। उसके जन्म लेते ही उसकी माता का देहान्त हो गया। उसकी देखभाल एक लापरवाह चाची ने की। उसका पिता घड़ीसाज़ था और वह भी अपने बच्चे के प्रति लापरवाह था। अतः उसका प्रारम्भिक जीवन कष्टमय हो गया। बाल्यकाल में ही उसमें कई बुरी आदतें पड़ गईं। ८ वर्ष की आयु में उसने बहुत से उपन्यास पढ़ डाले। कुछ धार्मिक तथा कुछ ऐतिहासिक पुस्तकों का भी अध्ययन किया। इन पुस्तकों का उसके ऊपर विशेष प्रभाव पड़ा। स्कूल उसके लिये कोई आनन्द का स्थान न था। वहां उन पर मार पड़ती थी, अतः वह स्कूल का विरोधी हो गया। स्कूल की शिक्षा को उसने 'व्यर्थ की शिक्षा' कहा। उसका मन प्राकृतिक दृश्यों को देखकर गद्गद् हो जाता था। वह जेनेवा के प्राकृतिक सौन्दर्य का उपासक था। उसका प्रकृति-प्रेम दिन पर दिन बढ़ता ही गया। इससे वह मनस्वी और भावुक बन गया। २१ वर्ष तक उसका जीवन बड़ा अनिश्चित रहा। इसी बीच उसके ऊपर एक झूठा आरोप लगाकर उसे कठोर दण्ड दिया गया। इस कठोर दण्ड से उसके युवा-हृदय को बड़ी ठेस पहुंची। भयंकर दंड और प्रकृति प्रेम ने मिल-जुल कर उसकी मनोदशा तथा व्यक्तित्व का निर्माण किया। इस घटना से उसने यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य को जब सामाजिक नियमों, आडम्बरों, उपदेशों और दण्ड के द्वारा प्रकृति से दूर रखा जाता है तभी उसके मन में विकार उत्पन्न होता है और उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। चार वर्ष तक रूसो ने एक शिल्पी के पास काम सीखा किन्तु अपने स्वामी की कठोरता से ऊब कर उसने काम छोड़ दिया। २५ वर्ष की आयु में उसने साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ किया और अपने विचारों को क्रमबद्ध करने का प्रयत्न किया। इसी समय उसका परिचय लेखकों से हो गया और उसने लिखना प्रारम्भ किया। अपने जीवन में वह बहुत से ऐसे लोगों के सम्पर्क में आया जिनसे उसने जीवन के बहुत से तत्वों की शिक्षा पाई। उन दिनों पन्द्रहवां लुई फ्रांस पर शासन कर रहा था। उसके शासन में गरीबों और निम्न-कोटि के व्यक्तियों का शोषण हो रहा था। जन-साधारण दुःख और पीड़ा से परेशान थे। उनके दुख को दूर करने और उनकी स्थिति को सुधारने का कोई उपाय न था। रूसो ने शासन के विरुद्ध आवाज़ उठाई और दुखी और पीड़ित लोगों के प्रति सहानुभूति दिखाई। उसने शोषण के विरोध में लेख लिखे जिनके फलस्वरूप राज्य-क्रान्ति हुई। लोगों की कठिनाइयों और दुखों से रूसो ने यह जान लिया कि समाज

अत्यन्त ही दूषित और कृत्रिम है। उसमे सरलता, नम्रता, सहृदयता तथा वास्तविकता का नितान्त अभाव है। अपने जीवन के इन कटु अनुभवों से उसने यह निष्कर्ष निकाला कि "प्रत्येक वस्तु प्रकृति के हाथ मे सुन्दर, स्वच्छ और पवित्र रहती है, किन्तु मनुष्य के हाथ में आते ही वह बुरी हो जाती है।" (Everything is good as it comes from the hands of the Author of Nature but everything degenerates in the hands of man)

१७५० ई० से रूसो की रचनायें छपकर निकलने लगी, जिनमें 'दी प्रोग्रेस आफ आर्ट्स एण्ड साइन्स' (The progress of Arts and Science), 'दी ओरीजिन आफ इनइक्वेलिटी अमंग मेन' (The origin of Inequality among men), 'दी न्यू हेलोयस', (The New Heloise), 'सोशल कान्ट्रेक्ट (Social Contract) तथा 'एमील' (Emile) प्रमुख है। प्रथम दो पुस्तकों में उसने प्रकृति-जीवन की उच्चता पर बल दिया है और मनुष्य-मनुष्य के बीच असमानता का कारण प्रगतिशील सभ्यता को ठहराया है। 'सोशल कान्ट्रेक्ट' मे रूसो ने राजनीति और नैतिकता के सम्बन्ध की व्याख्या की है और 'एमील' में उसने अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचार व्यक्त किये है। इन दोनों पुस्तकों में रूसो ने प्रकृतिवाद का दृष्टिकोण रखा। इन ग्रन्थों से रूसो की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। 'एमील' के कारण रूसो श्रेष्ठ शिक्षा-सुधारक और शिक्षा शास्त्री माना जाता है। 'एमील' में एमील नामक एक कल्पित नवयुवक की शिक्षा का वर्णन है। एमील नामक नवयुवक को स्कूल तथा समाज आदि के कृत्रिम वातावरण से दूर हटाकर प्रकृति के सम्पर्क में लाकर उसकी प्रकृति के अनुसार प्राकृतिक ढंग से शिक्षित करने का प्रयत्न किया गया है। उसकी शिक्षा की व्यवस्था मनोवैज्ञानिक अवस्थानुसार की गई है। अपनी विभिन्न शक्तियों के विकास के लिए एमील को प्रकृति-सौन्दर्य तथा आश्चर्य के वातावरण में छोड़ दिया जाता है। रूसो का विचार है कि बालक के मन, मस्तिष्क और शरीर को स्वतन्त्रतापूर्वक विकसित करने के लिए उसे कृत्रिमता से हटाकर स्वाभाविकता पर छोड़ना चाहिए और स्वाभाविक रूप से ही उसे शिक्षा देनी चाहिए। यही रूसो का प्रकृतिवाद है। रूसो का नारा है "प्रकृति की ओर लौटो।"

यद्यपि 'एमील' का शिक्षा पर क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा है' किन्तु इसका तत्कालीन प्रभाव अच्छा न था। 'एमील' को धर्मविरोधी ग्रन्थ मानकर स्थान-स्थान पर जलाया गया। फ्रांस और स्विट्जरलैंड में उसकी किताब पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। रूसो को फ्रांस छोड़ना पड़ा। पुलिस से बचने के लिए उसे दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। सन् १७६६ में वह इङ्गलैंड पहुँचा और १७७० ई० में वह फ्रांस वापिस आया और अपना अन्तिम ग्रन्थ 'कन्फेशन्स' (Confessions) पूरा करने में लग गया। १७७८ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। १७६३ में फ्रांसीसी संविधानवादियों ने उनके गड़े हुए शव को बड़े सम्मान के साथ किसी सम्माननीय कब्रिस्तान में फिर से गाड़ा।

रूसो एक भावुक विचारक था। उसके विचार मौलिक, उग्र तथा महत्त्वपूर्ण थे। परन्तु उनमें व्यावहारिकता, तार्किकता अथवा सिलसिलेपन का पर्याप्त अभाव था। फ्रांस की क्रांति उसके उग्र विचारों के कारण ही हुई थी। उसकी बातों में भावुकता, उग्रता, कल्पना तथा शक्ति थी। इसीलिये उसकी बातों ने उथल-पुथल मचा दी। उसके बाद आने वाले विचारकों ने रूसो की प्रभावोन्माद से भरी बातों को तार्किकता तथा विचारशीलता प्रदान की, जिसका परिणाम यह है कि आज रूसो यूरोप का क्रांतिकारी विचारक माना जाता है।

रूसो की शैक्षिक विचारधारा

रूसो प्रकृतिवादी तथा स्वाभाविकतावादी था। उसने शिक्षा के क्षेत्र में प्रकृतिवाद का प्रवर्तन किया। वह तत्कालीन नियमित, आडम्बरपूर्ण तथा कृत्रिम प्रणाली का घोर विरोधी था। 'रूढ़िवादी तथा नियमित शिक्षा मानव की बनाई हुई है, अतः अच्छी नहीं।' रूसो का कथन था कि जो वस्तु प्रकृति से प्राप्त होती है वह सुन्दर होती है लेकिन जब वही वस्तु मनुष्य के हाथों से मिलती है तो उसमें विकार उत्पन्न हो जाता है। इसलिये रूसो चाहता था कि बालक की शिक्षा समाज में न होकर प्राकृतिक वातावरण में हो। दूसरे शब्दों में वह प्रकृतिवाद को शिक्षा का आधार बनाना चाहता था। बालक की उसकी प्रकृति के अनुसार शिक्षा प्रदान करने के लिये सर्वप्रथम रूसो ने ध्यान दिया। इस दृष्टि से उसने शिक्षा के लिये 'प्रकृति की ओर लौटो' अथवा 'प्रकृति का अनुसरण करो' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। रूसो का कहना है कि बालक की आवश्यकता और उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति को ही उसकी शिक्षा का पथ-प्रदर्शक होना चाहिए। ऐसा करने से प्रत्येक बालक अपनी प्रकृति, योग्यता तथा आवश्यकता के अनुसार अपने आपको सरलतापूर्वक शिक्षित कर सकता है।

रूसो शिक्षा का उद्देश्य केवल निर्देश देना अथवा ज्ञान संचय करना नहीं मानता। उसके विचार से शिक्षा कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो बाहर से दी जा सके। बालक की स्वाभाविक शक्तियों तथा योग्यताओं के आन्तरिक विकास का नाम ही शिक्षा है। (It is development of the child's natural powers and abilities from within.) रूसो के अनुसार शिक्षा के तीन स्रोत हैं— 'प्रकृति', 'मानव' और 'पदार्थ'। प्रकृति द्वारा शिक्षा से रूसो का तात्पर्य "विभिन्न अंगों और इन्द्रियों के स्वाभाविक विकास" से है। यह स्वाभाविक विकास तब तक नहीं हो सकता जब तक शिक्षक बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा आवश्यकताओं को नहीं समझता। इनको समझने के लिये हमें उसके स्वभाव का अध्ययन करना चाहिए। "शिक्षा देने के लिए बालक को समझो", रूसो का यह विचार वास्तव में ही महत्त्वपूर्ण है। शिक्षक [illegible] से परिचित होना चाहिए, उसकी प्रकृति का ज्ञान होना [illegible] होने के पूर्व बालक को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और तब [illegible]

वयस्क न हो उस बालक हो रहने देना चाहिये। 'बालक के अध्ययन' का सिद्धान्त इस प्रकार रूसो की देन है। इसके अतिरिक्त बालक की शक्तियों का स्वाभाविक विकास तब ही सम्भव हो सकता है जबकि बालक में प्रकृति-प्रेम की भावना जाग्रत की जाय और उसे प्राकृतिक तथ्यों तथा वस्तुओं के अध्ययन का अवसर दिया जाय। प्रकृति के अनुसार शिक्षा में समाज तथा संस्थाओं का विरोध निहित है। प्रकृति के अनुसार शिक्षा देने से 'प्राकृतिक मनुष्य' की रचना हो सकती है। 'प्राकृतिक मनुष्य' से रूसो का तात्पर्य असभ्य मनुष्य से नहीं वरन् उस व्यक्ति से है जो कि अपने स्वभाव के अनुसार चलता है और समाज के बन्धनों के अनुसार चलने को बाध्य नहीं होता। समाज तथा समूह के सम्पर्क से व्यक्ति पर जो प्रभाव पड़ता है वह मनुष्य की दी हुई शिक्षा कहलाती है और जो ज्ञान अथवा सूचना व्यक्ति अपने वातावरण के सम्पर्क से प्राप्त करता है वह पदार्थों की दी हुई शिक्षा है। रूसो का कथन है कि उक्त दोनों प्रकार की शिक्षाएँ प्राकृतिक शिक्षा की अपेक्षा निम्न कोटि की हैं। परन्तु बिना इन तीनों शिक्षकों के शिक्षा पूरी नहीं होती, अतः मनुष्य और पदार्थ को प्रकृति के सहयोग में शिक्षा प्रदान करनी चाहिये। दूसरे शब्दों में इन तीनों में सामंजस्य होना अति आवश्यक है। इस प्रकार रूसो ने प्राकृतिक शिक्षा को ही प्राथमिकता दी है क्योंकि उसका विचार है कि स्वाभाविक 'प्रवृत्ति', 'भावना' तथा 'विचार' ही मनुष्य के सभी कार्यों की जड़ हैं। ये मनुष्य के उन अनुभवों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय हैं जो उसे समाज के सम्पर्क से मिलते हैं। इस प्रकार रूसो के अनुसार व्यक्ति को अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा आन्तरिक भावनाओं के अनुसार ही चलने देना चाहिये।

रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य

रूसो के अनुसार व्यक्ति के 'आन्तरिक अंगों तथा शक्तियों के स्वाभाविक विकास' में योग देना शिक्षा का उद्देश्य है। शिक्षा केवल ज्ञान-प्राप्ति तक ही सीमित नहीं होनी चाहिए। बालक की शक्तियों का विकास सोद्देश्य होना चाहिए। 'एमील' को शिक्षा जीवित रहने के लिए दी जानी चाहिए। एमील को शिक्षा द्वारा सर्वप्रथम मनुष्य बनाना चाहिए। "जीवित रहने का तात्पर्य साँस लेने से नहीं, वरन् कार्य करने से है। कार्य करना, शरीर के विभिन्न अंगों, ज्ञानेन्द्रियों तथा विभिन्न 'शक्तियों का विकास करना तथा उनका उचित प्रयोग करना ही जीवन है।" शिक्षा द्वारा एमील को किसी विशेष व्यवसाय के लिये तैयार करना नहीं वरन् आदमी बनाना है। इस सम्बन्ध में रूसो ने कहा, "मैं एमील को जीवन-शैली की शिक्षा देना चाहता हूँ।" ("To live is the trade I wish to teach him") शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् एमील सैनिक पादरी अथवा मजिस्ट्रेट नहीं बनेगा अपितु सर्वप्रथम वह आदमी बनेगा।

रूसो ने 'एमील' की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार शिक्षा के भिन्न-भिन्न उद्देश्य निर्धारित किये हैं। हमारे लिये इन उद्देश्यों से भी परिचित होना आवश्यक है। पहली अवस्था शैशव-काल (Infancy) की है जो जन्म से पांच वर्ष तक रहती है। इस काल की शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक विकास है। इस अवस्था में बालक के समस्त शारीरिक अंगों-प्रत्यंगों का विकास होना चाहिए ताकि वह पूर्ण रूप से स्वस्थ तथा शक्तिशाली हो जाय। 'निर्बलता दुष्टता की निशानी है।' (All wickedness comes from weakness the child should be made strong so that he will do nothing which is bad.) बालक का शारीरिक विकास बालक को स्वतन्त्र छोड़ देने से सम्भव हो सकता है। इस काल में बालक हर समय क्रियाशील रहता है। वह कुछ न कुछ करता रहता है। इसलिये उसे ऐसे वातावरण में रखा जाय कि उसकी स्वाभाविक क्रियाओं में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। इस काल की शिक्षा का उद्देश्य एमील को कार्य करने के लिये स्वतन्त्र छोड़ देना है। उसे अपने मन से खेलने, कार्य करने तथा सोचने का अवसर देना है। उसकी मूल-प्रवृत्तियों के विकास के लिये किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना है। दूसरे शब्दों में उसे स्वतन्त्रतापूर्वक खेलने-कूदने, व्यायाम करने तथा कार्य करने का अवसर देना है जिससे कि वह पूर्ण रूप से स्वस्थ हो जाय।

एमील की दूसरी अवस्था बालकपन (Chidhood) की है जो पांच से बारह वर्ष तक रहती है। इस काल की शिक्षा का प्रधान उद्देश्य ज्ञानेन्द्रियों का विकास है। इस अवस्था में एमील अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वस्तुओं का अनुभव करता है। अतः इस अवस्था में उसकी शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों को ठीक प्रकार से साध सके।

तीसरी अवस्था किशोरावस्था (Boyhood) है जो बारह से पन्द्रह वर्ष तक रहती है। इस अवस्था तक एमील के शरीर तथा ज्ञानेन्द्रियों का विकास हो चुकता है। अतः अब उसकी नियमित शिक्षा प्रारम्भ हो सकती है। किशोर काल में एमील को उन बातों की शिक्षा देनी चाहिए जिनसे उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायता मिले। उसकी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसमें उसे 'परिश्रम, शिक्षा और अध्ययन' (Labour, instruction and study) के लिये पर्याप्त अवसर मिले। इस प्रकार इस काल की शिक्षा का उद्देश्य एमील को उपयोगी तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने में सहायता देना है जिससे वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सके अथवा जो आवश्यकता पड़ने पर उसके काम आ सके।

चौथी अवस्था युवावस्था (Adulthood) है जो पन्द्रह से बीस वर्ष तक रहती है। इस काल में रूसो ने एमील की भावनाओं के विकास पर बल दिया। उसका कथन है कि "हमने उसके शरीर, ज्ञानेन्द्रियों तथा बुद्धि को प्रबल बना दिया है, अब

हमें उसे हृदय देना है।" (We have formed his body, his senses and his intelligence, it remains to give him a heart.) इस प्रकार इस काल में रूसो एमील के अन्दर नैतिक तथा सामाजिक गुणों को उत्पन्न करना चाहता है। दूसरे शब्दों मे रूसो अब बालक में नैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक भावनाएं जाग्रत करना चाहता है। अतः रूसो के अनुसार इस काल की शिक्षा का उद्देश्य भावनाओं का विकास है।

रूसो के अनुसार शिक्षा का पाठ्य-क्रम

रूसो के पाठ्य-क्रम सम्बन्धी विचार भी हमे 'एमील' से प्राप्त होते हैं। रूसो ने एमील की शैशवकालीन अवस्था के लिये प्रचलित विषयों का अध्ययन अनावश्यक तथा अनुपयोगी बतलाया है। वे उसकी इस काल की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करते। बालक उन वस्तुओं को अध्ययन कभी नहीं कर सकता जो प्रौढ के लिये हैं। जो वस्तु बड़े मनुष्यों के लिये उपयोगी होगी वह बच्चों के लिये हितकर कभी नहीं हो सकती क्योकि बालक और प्रौढ की प्रवृत्तियों मे भिन्नता होती है। इस दृष्टि से रूसो ने इस बात पर बल दिया कि बालक को बालक ही समझ कर शिक्षा दी जाय, 'छोटा प्रौढ' समझ कर नहीं। उसे प्रौढ मनुष्यों के कर्तव्यों की शिक्षा देना एक बड़ी भूल है। "बालक को बालक ही रहने दिया जाय जब तक वह स्वयं न बड़ा हो जाय।" अतः बालक के अभिभावकों को चाहिए कि वे उसे सामान्य विषयों का कोई निश्चित ज्ञान देने का प्रयत्न न करें वरन् उसके स्वास्थ्य-वर्द्धन तथा ज्ञानेन्द्रियों के साधने की ओर ध्यान दें। रूसो का कहना है कि "बालक को कुशल इंजीनियर, डाक्टर आदि बनाने का विचार तो बाद में करना चाहिए पहले उसे स्वस्थ, शक्तिशाली पशु ही बनने देना चाहिए।" उसके 'अनुसार बालक को केवल एक ही बात का अभ्यास कराना चाहिए कि उसे किसी प्रकार का अभ्यास न पड़ पावे।' (The only habit the child should be allowed to contract is that of having no habits.) बालक से सरल सीधी तथा स्वाभाविक भाषा मे बातचीत करनी चाहिए। इस प्रकार उसकी भाषा की शक्ति स्वाभाविक रूप से विकसित होती है।

बालकपन की शिक्षा का पाठ्य-क्रम रूसो की निषेधात्मक शिक्षा (Negative Education) के सिद्धान्त पर निर्भर है। निषेधात्मक शिक्षा वह शिक्षा है जिसके द्वारा हम ज्ञान ग्रहण करने वाली इन्द्रियों को विकसित करते हैं। बिना इनके विकास के मानसिक विकास की चेष्टा करना व्यर्थ है। उनके समुचित विकास तथा उचित उपयोग से विवेक-शक्ति और तर्क-शक्ति मे वृद्धि होती है। इस दृष्टि से इस काल में तैरना, खेलना, देखना, सुनना, उठना, बैठना तथा कूदना अत्यन्त आवश्यक है। उसे अपने अङ्ग-प्रत्यंग और इन्द्रियों को काम में लाने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। बालक को सब कुछ अपने अनुभव से सीखने का अवसर मिलना चाहिए। रूसो इन

काल में भी बालक को कोई पुस्तक नहीं देना चाहता है। शाब्दिक शिक्षा का वह विरोधी है। उसने कहा कि एमील बारह वर्ष की अवस्था तक पुस्तक से दूर रहेगा। वह न भूगोल पढ़ेगा, न इतिहास और न भाषा। एमील को इस काल में नैतिक उपदेश भी न दिये जायेंगे। स्वाभाविक रूप में प्राकृतिक परिणामों के द्वारा ही वह नैतिकता की शिक्षा प्राप्त कर लेगा।

रूसो के अनुसार किशोरावस्था तक बालक के शरीर के अङ्ग पुष्ट हो जाते हैं तथा उसकी इन्द्रियाँ विकसित हो जाती हैं। अतः अब वह ज्ञान ग्रहण कर सकता है। इस काल में एमील की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसमें उसे "परिश्रम, शिक्षा और अध्ययन" के लिए पर्याप्त अवसर मिले। इस दृष्टि के अनुसार एमील को प्राकृतिक विज्ञान, भाषा, गणित, लकड़ी का काम, संगीत, ड्राइङ्ग, सामाजिक जीवन तथा किसी व्यवसाय की शिक्षा देनी चाहिए। इस काल की शिक्षा में रूसो पाठ्य-पुस्तकों को स्थान नहीं देता। उसका विचार है कि "पुस्तकें ज्ञान नहीं वरन् बातें करना सिखाती हैं।" विज्ञान से एमील में अन्वेषण करने की रुचि, जिज्ञासा, तथा स्वयं शिक्षा प्राप्त करने की शक्ति उत्पन्न होगी। ड्राइङ्ग से उसके नेत्रों व मांसपेशियों की ट्रेनिंग होगी। हस्तकार्य तथा व्यवसाय के द्वारा उसकी विवेक-शक्ति तथा बुद्धि का विकास होगा और उसके परिश्रम करने की शक्ति में वृद्धि होगी। रूसो इस काल में एमील को मनुष्य की परस्पर-निर्भरता का भी कुछ अनुमान करा देना चाहता है और साथ ही साथ उसे अपने कर्तव्य-पालन की, शक्तियों को समझ कर कार्य करने की तथा सहयोग से कार्य करने की योग्यता देना चाहता है। इस दृष्टि से वह एमील को सामाजिक जीवन की शिक्षा देता है।

युवावस्था में एमील को नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा दी जाती है। नैतिक शिक्षा वह अपने संगी-साथी तथा अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर प्राप्त करता है। दीन-दुखी, पीड़ित, भिखारी, आदि को दिखाकर एमील के मन में करुणा, दया, सहानुभूति उत्पन्न की जाती है। नैतिक गुणों का विकास शिक्षा द्वारा न होना चाहिए। बालकों की नैतिक शिक्षा उसकी क्रियाओं के द्वारा होनी चाहिए। रूसो धार्मिक उपदेश भी देने के पक्ष में नहीं है। उसके अनुसार बालक में सोचने-विचारने की इतनी शक्ति नहीं होती कि उसे नैतिक या धार्मिक उपदेश दिया जाय। बालक के चरित्र का विकास उसके अपने अनुभवों तथा क्रियाओं के द्वारा ही होने देना चाहिए। रूसो के विचारानुसार नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा देने के लिए बालकों को इतिहास, प्राचीन कथाएँ तथा हिरोडोटस की कहानियाँ पढ़ानी चाहिए। उक्त विषयों के अतिरिक्त रूसो ने इस अवस्था के पाठ्यक्रम में शारीरिक शिक्षा, संगीत, कला तथा काम-शिक्षा को स्थान दिया है।

रूसो की शिक्षा-पद्धति

रूसो ने जिन शिक्षा-विधियों का प्रतिपादन किया है उनमें उसकी प्रकृतिवादी विचारधारा की छाप है। रूसो ने 'स्वानुभव द्वारा सीखने' तथा 'करके सीखने' के सिद्धान्तों पर बल दिया है। वह चाहता है कि उसका एमील अपने अनुभव तथा क्रिया से सब कुछ सीखे। पुस्तकों द्वारा कुछ भी न सीखे। जब क्रिया द्वारा ज्ञान प्राप्त करना असम्भव हो तभी शब्दों अथवा पुस्तकों का प्रयोग किया जाय। अपने अनुभव से सीखा हुआ ज्ञान अधिक स्थायी होता है। वह कहता है "बारह वर्ष तक एमील को किसी प्रकार की पुस्तकीय शिक्षा न दी जायगी। वह नहीं जानेगा कि पुस्तक क्या वस्तु है।" उक्त वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि रूसो पुस्तकीय ज्ञान को व्यर्थ समझता था। रूसो का कथन है — "मैं पुस्तकों से घृणा करता हूँ। जो हम नहीं जानते उसी के बारे में बातचीत करना वे हमें सिखलाती हैं।" सब पुस्तकों में रूसो को केवल एक पुस्तक अच्छी लगी है— 'रोबिन्सन क्रूसो' (Robinson Crusoe) जिसमें मनुष्य की सब प्राकृतिक आवश्यकताएं इस प्रकार प्रकट की गई हैं कि बालक भी उन्हें समझ सकें और जिसमें इन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन भी सरलता-पूर्वक समझाये गये हैं।

रटने की क्रिया को वह अच्छा नहीं समझता। उसका कहना है— "बालक की विवेक शक्ति का विकास करो; स्मरण शक्ति का नहीं।" इस प्रकार रूसो ने प्रचलित शिक्षा-विधियों का घोर विरोध किया।

उपर्युक्त शिक्षा-विधियों के अतिरिक्त रूसो ने इस बात पर बल दिया कि बालक को ऐसा अवसर देना चाहिए कि वह स्वयं सोच-विचार कर अपने अनुभव का परिणाम निकाले। इस प्रकार वह निरीक्षण, अनुभव तथा अन्वेषण को शिक्षा की प्रमुख पद्धति मानता है। उसका कथन है कि बालक को बात बताने की अपेक्षा उसमें ऐसी उत्सुकता जगाई जाय कि वह स्वयं उसे ढूंढ निकाले। इससे उसके मस्तिष्क का विकास भली प्रकार होगा। इसलिए वह एमील को प्राकृतिक विज्ञान की शिक्षा इस प्रकार देना चाहता है जो उसकी जिज्ञासा, कुतूहल और अन्वेषण की प्रवृत्ति के विकास में सहायक सिद्ध हो। एमील को स्वयं अनुभव कराने के लिए रूसो वास्तविक वस्तुओं द्वारा शिक्षा देने की पद्धति को अपनाता है। उक्त सिद्धांतों ने आगे चल कर 'स्वयंशोध-प्रणाली' (Heuristic Method) को जन्म दिया। रूसो एमील की नैतिक भावनाओं का भी विकास उसके अपने अनुभवों द्वारा कराता है। मनुष्यों के सम्पर्क में आकर एमील भले बुरे का ज्ञान प्राप्त करता है।

रूसो शाब्दिक शिक्षा का भी विरोधी था। उसका कथन है कि व्याख्यान से बालक कुछ भी नहीं सीखता। शिक्षकों में लम्बे-लम्बे व्याख्यान देने की प्रवृत्ति होती है, वे अपने ज्ञान को बालकों के ऊपर उंडेल देना चाहते हैं किन्तु बालक इन लम्बे-

लम्बे व्याख्यानों को सुनना पसन्द नहीं करते । रूसो का कथन है कि मैं लम्बे-लम्बे भाषणों तथा व्याख्यानों को पसन्द नहीं करता, ये बालक की शिक्षा में बाधा डालते हैं। रूसो व्याख्यानों की अपेक्षा बालक के दैनिक अनुभवों को अधिक महत्वपूर्ण मानता है । अतः ये सब व्यर्थ हैं । इसलिये 'शब्द' की अपेक्षा 'वस्तु' पर अधिक ध्यान देना चाहिए । उपर्युक्त बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि बालक के ही अनुरूप शिक्षा-विधि बनाई जाय न कि बालक को ही शिक्षा-विधि के अनुरूप बनाया जाय ।

रूसो के अनुशासन-सम्बन्धी विचार

अनुशासन स्थापन के साधनों के मध्य रूसो "स्वतन्त्रता" तथा "बन्धनों का अभाव" आवश्यक समझता है । 'एमील की प्राकृतिक शक्तियों का स्वाभाविक विकास स्वतन्त्र वातावरण में ही सम्भव हो सकता ।' बाह्य नियम और बन्धन स्वाभाविक विकास में सहायक नहीं होते, अतः वे व्यर्थ हैं । रूसो का कथन है कि किसी भी बुरे कार्य के करने पर बालक को दण्ड नहीं देना चाहिए क्योंकि उसे यह ज्ञान नहीं होता कि कौन सा कार्य अच्छा है और कौन सा बुरा । अपने व्यवहार के स्वाभाविक परिणामों से अथवा अपने कार्यों के परिणामस्वरूप स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं के रूप में उन्हें जो दण्ड मिलता है उससे वे अपने आप समझ जाते हैं कि कौन सा काम अच्छा है और कौन सा बुरा । अतः छोटे-छोटे बालकों में अनुशासन की शिक्षा उनको बुरे व्यवहार के स्वाभाविक दुष्परिणामों से भिज्ञ कराने मात्र से दी जा सकती है । दूसरे शब्दों में रूसो बालक को प्राकृतिक अनुशासन की शिक्षा देना चाहता है । प्राकृतिक अनुशासन में प्रकृति के नियमों का पालन करना पड़ता है । यदि कोई भी व्यक्ति प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करता है तो उसे तुरन्त दण्ड मिल जाता है । इसलिये बालकों को अपने बुरे व्यवहार का दण्ड स्वाभाविक परिणाम के रूप में ही मिलना चाहिये । बालक में अनुशासन की भावना उत्पन्न करने के लिये उसे किसी भी प्रकार की नैतिक शिक्षा नहीं देनी चाहिए । नैतिक शिक्षा का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । बच्चे की प्रकृति साधु तथा उच्चकोटि की होती है । उसके विकास में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़नी चाहिए । दूसरे शब्दों में उसकी स्वाभाविक गति पर कोई नियन्त्रण नहीं होना चाहिये ।

शिक्षा-संगठन— रूसो शिक्षा का संगठन सामाजिक ढङ्ग पर नहीं करना चाहता था क्योंकि समाज का दूषित और कृत्रिम वातावरण उसे पसन्द न था । स्कूल की परम्परा से उसे चिढ़ थी । रूसो का कथन है कि "प्रकृति के निर्माता ईश्वर के हाथ से निर्मित होने के कारण बालक जन्म से शुद्ध तथा पवित्र होता है । बाद में वह समाज के बीच दूषित प्रभावों में पड़कर बिगड़ जाता है ।" अतएव वह बालक को समाज में रखकर शिक्षा देने के पक्ष में नहीं था । वह शिक्षा को स्वाभाविक रूप में

चलाना चाहता था। इसलिये रूसो एमील को उसके माता-पिता और स्कूल से अलग करके समाज से एकदम दूर रखता है। एमील को एक आदर्श अध्यापक के पास छोड़ दिया जाता है। अध्यापक प्राकृतिक वातावरण में एमील की विभिन्न शक्तियों के विकास का प्रयत्न करता है। रूसो का कथन है कि प्रत्येक क्षेत्र में बालक का विकास स्वतन्त्रतापूर्वक होना चाहिये। उक्त बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि पाठशाला में ऐसा नैसर्गिक वातावरण उत्पन्न करना चाहिये जिसमें बालक का स्वाभाविक विकास सरलतापूर्वक हो सके।

रूसो की निषेधात्मक शिक्षा
(Rousseau's Negative Education)

रूसो ने शिक्षा के दो भेद किये– निश्चयात्मक (Positive Education) और निषेधात्मक (Negative Education)। रूसो ने उस समय की प्रचलित धारणाओं तथा शिक्षा-सम्बन्धी बातों का घोर विरोध किया क्योंकि उस समय शिक्षा बालक को बालक समझ कर नहीं दी जाती थी किन्तु "छोटा प्रौढ़" समझ कर दी जाती थी। उसे प्रौढ़ों के कार्य करने के लिये तैयार किया जाता था। वह शिक्षा बालक के बौद्धिक विकास की ओर ध्यान देती थी किन्तु उसके शारीरिक तथा अन्य शक्तियों के विकास की अवहेलना करती थी। नैतिकता तथा चरित्र के नाम पर बालकों को ऐसी शिक्षा दी जाती थी जो उनके मनोविकास के प्रतिकूल होती थी। उस शिक्षा का विरोध करते हुए रूसो ने लिखा है— "उस क्रूर शिक्षा के बारे में हम क्या सोचें जो वर्तमान को अनिश्चित भविष्य पर बलि दे देती है, बालक पर भाँति-भाँति के बन्धन लाद देती है, उस काल्पनिक सुख के लिये जो वह कदाचित् कभी न भोगेगा बहुत पहले से उसे दुखी बनाकर दी जाती है।" इसलिये वह प्रचलित शिक्षा को बदलना चाहता था। उसने कहा— "शिक्षा में जितने प्रचलित सिद्धान्त हैं, उनके विपरीत काम करो, तब तुम हमेशा सही काम कर सकोगे।"* उसने अपने समय की शिक्षा को निश्चयात्मक शिक्षा (Positive Education) कहा और उसके विपरीत चलने का आदेश दिया। निश्चयात्मक शिक्षा मनुष्य की प्रकृति को बुरा समझती है और उसके सुधार का प्रयत्न करती है। रूसो ने इस विचार का समर्थन नहीं किया। उसने मानव की प्रकृति को साधु माना। इसलिये उसने निश्चयात्मक शिक्षा का विरोध किया और निषेधात्मक शिक्षा (Negative Education) का प्रचार किया। निषेधात्मक शिक्षा वह शिक्षा है जो बालक की प्रवृत्तियों और शक्तियों के अनुसार दी जाती है। यह ज्ञान ग्रहण करने वाली इन्द्रियों को विकसित करती है। यह बालक को प्रौढ़ों के गुण प्रदान नहीं करती किन्तु दुर्गुणों से उसकी रक्षा करती है। यह बालक को पढ़

* "Take the reverse of the accepted practice and you will almost always do right." —*Rousseau.*

'गुण' और 'सत्य' के सिद्धान्त नहीं पढ़ाती, वरन् हृदय को पाप से तथा मस्तिष्क को भ्रम से रक्षा करती है। (It consist not at all in teaching virtue or truth, but in shielding the heart from vice and the mind from error.) यह शिक्षा मस्तिष्क को तब तक निष्क्रिय रखती है जब तक सम्भव हो। रूसो ने उक्त दोनों प्रकार की शिक्षा में अन्तर बताते हुए लिखा है — "मैं निश्चयात्मक शिक्षा (Positive Education) उसे कहता हूँ जो समय के पहले मस्तिष्क को बनाना चाहती है और बालकों को ऐसे कामों को सिखाना चाहती है जो प्रौढ़ों से सम्बन्ध रखते हैं। मैं निषेधात्मक शिक्षा उसे कहता हूँ जो ज्ञान देने के पहले ग्रहण करने वाले अङ्गों को दृढ़ बनाती है और जो इन्द्रियों के उचित उपयोग से विवेक शक्ति को बढ़ाती है। निषेधात्मक शिक्षा का तात्पर्य आलस्य में समय बिताना नहीं है; यह इससे बहुत दूर है। यह गुण प्रदान नहीं करती, वरन् दुर्गुण से बचाती है। यह सच बोलना नहीं सिखाती, वरन् झूठ से बचाती है। यह बालक को सत्य की ओर जाने, समझने और अपनाने के लिये तैयार कर देती है। यह बालक को सत्य की ओर तब तक नहीं ले जाती जब तक उसमें सत्य को पहिचानने और उससे प्रेम करने की शक्ति उत्पन्न नहीं हो जाती है।"* इस प्रकार निषेधात्मक शिक्षा का आशय है कि बालक को उसके स्वभाव, रुचि तथा प्रकृति के विरुद्ध कुछ भी नहीं सिखाना चाहिए। शैशव काल में बालक के केवल शारीरिक विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। यह काल समय का उपभोग करने का नहीं परिन्तु समय खोने का है।' रूसो का मानव स्वभाव में विश्वास था। उसका कथन है कि बालक की प्रकृति, उसका मन, उसकी इच्छायें तथा मूल-प्रवृत्तियाँ सभी उच्च कोटि की होती हैं और उनके स्वतन्त्र तथा विकास में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़नी चाहिए और यथा-सम्भव उसके विकास में पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए। उसका विचार था कि समाज बालक की कोमल भावनाओं पर प्रभाव डाल कर उन्हें नष्ट कर देता है। अतः बालक को समाज से दूर रखना चाहिए।

निषेधात्मक शिक्षा पुस्तकीय तथा मौखिक शिक्षा का विरोध करती है और ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर बल देती है। रूसो का कथन है "पुस्तकें बालक और वस्तुओं के बीच में आ जाती हैं और उसे अपने अनुभव द्वारा सीखने नहीं देती। अतः बालकों को कुछ समय तक पुस्तकों से दूर रखना चाहिए। वस्तुएँ ही अनुभव प्रदान करने का साधन होनी चाहिएँ।

मुनरो (Monroe) महोदय ने निषेधात्मक शिक्षा की व्याख्या कुछ मुख्य रूप शब्दों में निम्न प्रकार से की है :—

(१) शारीरिक शिक्षा के क्षेत्र में निषेधात्मक शिक्षा का तात्पर्य स्वतन्त्र

* Emile, Ch. I. p 97.

रूप से खेलने-कूदने, विचारने, कार्य करने, खुली हवा में रहने, साधारण कपड़े पहिनने तथा सादा भोजन करने से है।

(२) बौद्धिक शिक्षा के क्षेत्र में निषेधात्मक शिक्षा का तात्पर्य निर्देश (Instructions) देने के विरोध से है।

(३) नैतिक शिक्षा के क्षेत्र में निषेधात्मक शिक्षा का तात्पर्य अपनी क्रियाओं के स्वाभाविक परिणामों द्वारा नैतिक आदर्शों का ज्ञान प्राप्त करने से है।

रूसो के स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी विचार

एमील के पांचवें भाग में रूसो ने स्त्रियों की शिक्षा का विवरण दिया है। सोफ़ी, एमील की भावी पत्नी, की शिक्षा का जो क्रम निर्धारित किया है वह बड़ा ही अनुदार दिखाई पड़ता है। रूसो ने स्त्रियों का कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं माना है। वह कहता है कि स्त्रियां तो पुरुष की प्रकृति की पूरक मात्र हैं। उसके अनुसार नारी की शिक्षा का उद्देश्य पुरुष को सुखी बनाना है। अतः रूसो सोफ़ी को उन सब बातों की शिक्षा देना चाहता है जिससे वह अपने पति एमील के लिए अधिक से अधिक उपयोगी सिद्ध हो सके। इस दृष्टि से सर्व प्रथम स्त्रियों को शारीरिक शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे शरीर को सुन्दर तथा सुगठित बना सकें। यदि शरीर स्वस्थ होगा तो सन्तान भी स्वस्थ और बलवान होगी। उन्हें गृह-कार्य में निपुण बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। सीने, पिरोने, काढ़ने, बुनने आदि की शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे सुन्दर कपड़े तैयार कर सकें। उन्हें नाचना, गाना आदि कलाएँ भी सिखानी चाहिएं। उन्हें दर्शन, कला और विज्ञान सिखाने की आवश्यकता नहीं है। रूसो के अनुसार स्त्रियों में अपार सहनशीलता और आज्ञा-पालन की क्षमता होनी चाहिए। रूसो कहता है कि स्त्रियों की प्रकृति पढ़ने-लिखने की ओर नहीं होती। अतः यदि वे स्वयं रुचि न दिखलाएँ तो उन्हें पढ़ाना व्यर्थ है। स्त्रियों की नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में रूसो कहता है—"प्रत्येक कन्या को अपनी मां का धर्म मानना चाहिए और प्रत्येक स्त्री को अपने पति का।" रूसो के अनुसार प्रत्येक स्त्री को चाहिए कि वह पुरुष का अध्ययन करे। बिना इसके वह पुरुष के लिए उपयोगी तथा सहायक सिद्ध न होगी। किस समय पुरुष क्या चाहता है, क्या सोचता है, क्या करता है, इन सबका ज्ञान स्त्री को होना चाहिए। उसे पुरुष की आज्ञानुसार चलना चाहिए और वे ही कार्य करने चाहिएँ जो पुरुष को अच्छे लगें। दूसरे शब्दों में रूसो नारी को पुरुष के संकेतों पर नाचने के लिए कहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो ने नारी-शिक्षा पर जो विचार व्यक्त किए हैं वे अत्यन्त ही संकुचित और सीमित हैं। लड़कों को वह पूर्ण स्वतन्त्रता देने के पक्ष में है, पर लड़कियों को कड़े नियन्त्रण में रखना चाहता है। कुछ विद्वानों का मत है कि रूसो के नारी-शिक्षा-सम्बन्धी विचार अत्यन्त

अपूर्ण और अव्यवहारिक है क्योंकि उसने एमील की शिक्षा में जिन सिद्धान्तों को
ारना की उसका पालन सोफी (नारी) की शिक्षा में नहीं किया।

रूसो का प्रभाव

रूसो की विचारधारा का शिक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव तीन
ृत्तियों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। ये तीन प्रवृत्तियाँ हैं— मनोवैज्ञानिक,
ज्ञानिक और सामाजिक।

(१) मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति - रूसो ने शिक्षा को प्राकृतिक प्रक्रिया (Natural
rocess) बतलाया और इस बात पर बल दिया कि बालक की शिक्षा उसकी
ाकृतिक प्रवृत्तियों के अनुसार होनी चाहिए। इस धारणा के परिणामस्वरूप शिक्षक
पाठ्य-विषय मुख्य होने के स्थान पर शिक्षा में बालक ही मुख्य समझा जाने
गा। पुरानी धारणा जिसके अनुसार बालक शिक्षा के लिये था, बदल गई और
सके स्थान पर यह कहा जाने लगा कि शिक्षा बालक के लिये है। अब बालक को
शिक्षा का केन्द्र बना दिया है। अब बालक की प्रकृति-प्रदत्त शक्तियों का विकास ही
शिक्षा है। अतः बालक को समझना चाहिए। बालक को समझने के प्रयत्नों के फल-
स्वरूप शिक्षा-मनोविज्ञान का जन्म हुआ। इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक
ग आरम्भ हुआ। उक्त विचारों द्वारा रूसो ने शिक्षा को रूढ़िवादिता, परम्परागत
ियमों तथा वाह्याडम्बरों से मुक्त करने का प्रयत्न किया। मनोवैज्ञानिक युग के
तिनिधियों में पेस्टालाजी, हरबार्ट तथा फ्रोबेल के नाम उल्लेखनीय हैं।

(२) वैज्ञानिक प्रवृत्ति— शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति भी प्रकृतिवाद की देन है।
सो की विचारधारा के परिणामस्वरूप ही शिक्षा में वैज्ञानिक आन्दोलन आरम्भ
आ। रूसो ने व्यक्तियों का ध्यान 'प्रकृति-निरीक्षण' तथा विज्ञान की उपयोगिता की
ओर आकर्षित किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि बालक पुस्तकों ही में न
पड़ा रहकर प्रकृति की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों से स्वयं ज्ञान प्राप्त करे। अतः अब
धीरे-धीरे स्कूलों में प्राकृतिक-विज्ञान, पौधे तथा जीव-शास्त्र का अध्ययन आरम्भ हो
रहा है। रूसो के इन विचारों से कई शिक्षा-शास्त्रियों ने प्रेरणा ली जिनमें स्पेन्सर
और हक्सले के नाम प्रमुख हैं। आज की शिक्षा में विज्ञान का जो महत्त्व है उसका
बीज 'एमील' में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

(३) सामाजिक प्रवृत्ति— रूसो एक बड़ा भारी व्यक्तिवादी था। उसकी
व्यक्तिवादी विचारधारा के फलस्वरूप बालक एक स्वतन्त्र व्यक्ति समझा जाने लगा,
शिक्षा उसकी व्यक्तिगत भिन्नता के आधार पर होने लगी और शिक्षा का आदर्श
व्यक्तिगत शक्तियों का विकास माना गया। इस प्रकार शिक्षा में 'व्यक्तिवाद'
(Individualism) के आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। परन्तु रूसो के विचार

सामाजिक भावनाओं के विकास मे भी सहायक हुए। उसके शिक्षा-सिद्धान्तों में हम मानव-कल्याण के बीज पाते हैं। 'एमील' में सहकारिता, सहयोग, परस्पर सहानुभूति आदि भावनाओं का विकास किया गया है। उसे औद्योगिक कार्य मे निपुण बनाने का प्रयत्न किया गया है जिससे वह अपनी जीविकार्जन कर सके। इन सब बातों का सामाजिक महत्त्व है। आजकल नैतिक, सामाजिक तथा व्यवसायिक शिक्षा पर बल दिया जाता है। सहकारिता तथा सामूहिक कार्यों को शिक्षा में विशेष स्थान दिया गया है। इन सब भावनाओं का सूत्रपात 'एमील' से होता है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त रूसो का प्रभाव अन्य दिशाओं में भी दृष्टिगोचर होता है। उसके विचारों ने शिक्षा-विधियो मे महान् परिवर्तन किया है। उसने स्वानुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की विधि पर बल दिया। फलत. नई-नई शिक्षा-विधियो एवं प्रणालियों का जन्म हुआ। 'स्वानुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की विधि', 'क्रिया द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की विधि,' 'ह्यूरिस्टिक मेथड', 'प्रोजेक्ट मेथड,' 'डाल्टन-प्रणाली' आदि प्रकृतिवाद की देन हैं। 'बालचर' आन्दोलन भी एक प्रकार की प्रकृतिवादी शिक्षा-प्रणाली है।

रूसो का प्रभाव आज भी शिक्षा क्षेत्र में स्पष्ट है। उसने शिक्षा को रूढ़िवादिता से मुक्त करने का आदेश दिया। बालक को बालक ही मानकर शिक्षा देने का महत्त्व बतलाया। बालक के व्यक्तित्व का आदर करना सिखलाया। शिक्षा में उद्योग, हस्त-कार्य आदि निर्माण की क्रियाओं की उपयोगिता से हमें परिचित कराया। हाथ तथा मस्तिष्क की शिक्षा के साथ हृदय की शिक्षा पर बल दिया। इन बातों अथवा धाराओं के कारण वास्तव मे रूसो से ही शिक्षा का नया युग प्रारम्भ होता है।

यद्यपि प्रकृतिवाद एक अत्यन्त उपयोगी आन्दोलन के रूप में उपस्थित हुआ किन्तु इसका प्रभाव शिक्षा पर शीघ्र न पड़ा। फ्रांस और इंगलैंड के स्कूल प्राचीन विचार-धारा के अनुकूल ही चलते रहे। विशेषकर इंगलैंड के लोगों को रूसो की शिक्षा व्यवहारिकता के अभाव के कारण पसन्द न आई। परम्परा को छोड़ने मे लोगों को डर लग रहा था। रूसो 'चर्च' तथा धनी समाज का शत्रु समझा जाता था। परन्तु जर्मनी मे रूसो की शिक्षा का स्वागत किया गया। वहाँ उसके सिद्धान्तों का प्रसार हुआ। उनके प्रसार में 'बरनाई बेसडो' का विशेष हाथ था। अन्य देशो में रूसो के शिक्षा-सिद्धान्तों का प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से दिखाई देता है।

प्रकृतिवाद में गुणो के साथ-साथ दोष भी है। सर्वप्रथम 'प्रकृति' शब्द के प्रयोग मे ही एकरूपता नहीं है। स्वयं रूसो ने इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया है। प्रकृतिवाद ने मानव की मूल-प्रवृत्तियो को अत्यन्त ही उच्च कोटि का माना और उसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति की अवहेलना की। प्रकृतिवादियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य अत्यन्त साधारण है। उसमे न तो महानता है और न कोई आकर्षण। रूसो

की निषेधात्मक शिक्षा भी दोषरहित नहीं है। रूसो का यह सिद्धान्त ठीक नहीं जंचता कि बालक को आत्म-विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय, उसकी क्रियाओं पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न हो और उसे किसी प्रकार का उपदेश न दिया जाय। निस्संदेह वह स्वानुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सकता है किन्तु उसके कार्यों और अनुभवों के साथ-साथ उसे उचित उपदेश, आदेश तथा निर्देश की भी आवश्यकता होती है। बिना इनके बालक की योग्यता किसी बुरी धारा की ओर भी प्रवाहित हो सकती है। इसके अतिरिक्त बालक को समाज से दूर रखना भी अनुचित है। बालक अधिकतर अनुकरण से सीखता है। यदि वह दूसरों से पृथक् रखा जायगा तो उसे अनुकरण करने का अवसर न मिलेगा। मेरे विचार से यदि बालक को जन-सम्पर्क से दूर रक्खा जायगा तो उसकी शक्तियाँ उन्नत और समृद्ध न हो पायेंगी। अतः बालक को समाज से दूर रखने का सिद्धान्त ठीक नहीं जंचता। प्रकृतिवाद केवल शिक्षा-पद्धति तक ही सीमित रह जाता है। वह इससे अधिक और कुछ प्रस्तुत नहीं करता। किन्तु उक्त दोषों के होते हुए भी प्रकृतिवाद का प्रभाव वर्तमान शैक्षिक विचारधारा पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। आजकल हम शिक्षा-क्षेत्र में जितने सुधार देखते हैं उन सब का बीज हमें 'एमील' में दिखलाई पड़ता है।

प्रश्न

(१) आधुनिक शिक्षण किस प्रकार रूसो का ऋणी है?

(२) रूसो का 'प्रकृतिवाद' से क्या तात्पर्य है? उसके प्राकृतिक शिक्षा सिद्धान्त के गुण तथा दोष बतलाइये।

(३) स्त्री शिक्षा पर रूसो के क्या विचार हैं? आधुनिक प्रगति के प्रकाश में वे कहाँ तक ठीक हैं? किस सीमा तक उन्हें भारत में अपनाया जा सकता है?

(४) ऐतिहासिक दृष्टि से रूसो शिक्षा में प्रकृतिवाद का जन्मदाता माना जाता है, परन्तु वास्तव में रूसो के शिक्षा-उद्देश्य आदर्शवाद की ओर झुके हुए हैं। इन दोनों विपरीत बातों में आप किस प्रकार सामंजस्य स्थापित करेंगे?

(५) रूसो की 'निषेधात्मक शिक्षा' (Negative Education) से आप क्या समझते हैं? इस शिक्षा के प्रमुख सिद्धान्त क्या हैं?

(६) रूसो के पाठ्यक्रम-निर्माण सम्बन्धी तथा अनुशासन-स्थापन सम्बन्धी विचारों की समालोचना कीजिए।

(७) उन मुख्य धारणाओं का संक्षेप में निरूपण कीजिए, जिनके आधार पर रूसो 'एमील' को शिक्षित करना चाहता था तथा उसकी योजना का समालोचनात्मक मूल्याङ्कन कीजिए।

मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की प्रमुख विशेषताएँ

(१) शिक्षा मनोविज्ञान पर आधारित होनी चाहिए अर्थात् शिक्षा में मनो-वैज्ञानिक क्रम तथा विधि का प्रयोग करना चाहिए।

(२) शिक्षा का केन्द्र बालक होना चाहिए। शिक्षा के विषय, मानवी तथा विधि बालक की आयु, योग्यता तथा रुचि पर निर्भर होने चाहिए।

(३) मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति बालक के अध्ययन की आवश्यकता पर विशेष बल देती है। शिक्षा के प्रायः दो ध्रुव होते हैं— (१) विद्यार्थी, और (२) विषय। अध्यापक इन दोनों का माध्यम होता है। शिक्षक के द्वारा विद्यार्थी-ध्रुव और विषय-ध्रुव के बीच आदान-प्रदान होता रहता है, इसलिये उसे विद्यार्थी और विषय दोनों का ज्ञान होना चाहिए। ऐडम्स ने कहा है कि शिक्षा की क्रिया के दो कर्म होते हैं, एक व्यक्ति और दूसरा वस्तु जैसे "मास्टर ने जॉन को लैटिन पढ़ाई।" अध्यापक को 'जॉन' और 'लैटिन' दोनों को जानना चाहिए। इस प्रकार अध्यापक को न केवल लैटिन का ही ज्ञान होना चाहिए किन्तु जॉन के विषय में भी पूरी जानकारी होनी चाहिए। जॉन सम्बन्धी ज्ञान ही मनोविज्ञान है, जिसे अध्यापक को पढ़ना, कंठस्थ करना और मनन करना चाहिए। इस प्रकार शिक्षा देने के लिये शिक्षक को बालक के स्वभाव, प्रवृत्तियों, योग्यताओं, सीमाओं, रुचियों तथा विशेषताओं का अध्ययन आवश्यक है जिससे वह अपने विषय का ज्ञान बालक को उसकी रुचि, भावना, योग्यता तथा मानसिक विकास के आधार पर सफलतापूर्वक करा सके। शिक्षक के लिए यह जानना आवश्यक है कि बालक का मानसिक विकास किस क्रम से होता है।

(४) मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के अनुसार शिक्षा बालक की आन्तरिक शक्तियों और योग्यताओं के विकास का नाम है। शिक्षा एक आन्तरिक क्रिया है, बाहर से थोपी जाने वाली कोई वस्तु नहीं। शिक्षा द्वारा व्यक्ति की सभी शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक शक्तियों का सामंजस्यपूर्ण विकास होना चाहिए। शिक्षा की प्रक्रिया मनोरंजक होनी चाहिए। यह प्रवृत्ति 'रुचि द्वारा प्राप्त शिक्षा' (Education of Interest) को 'प्रयत्नों द्वारा प्राप्त शिक्षा' (Education of Effort) से उत्तम मानती है और रुचिपूर्वक ज्ञान ग्रहण करने की शिक्षा पर बल देती है। यह प्रवृत्ति रटने की विधि, कठोर अनुशासन, व्यक्तित्व का दमन, शिक्षा में प्रभुत्ववाद आदि पुरानी शिक्षा-प्रणाली की विशेषताओं का विरोध करती है।

(५) 'बालक को बालक मान कर शिक्षा दी जाय, प्रौढ़ मान कर नहीं।' पह‑ यह समझा जाता था कि बालक एक 'छोटा मनुष्य' है। और इसी विचार के आधार पर जो नियम मनुष्य पर लागू किये जाते थे वे ही बालकों पर लागू होते थे। परन्तु मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति ने इस विचार को एकदम बदल दिया। 'बालक एक छोटा मनु‑

नहीं, किन्तु मनुष्य बनने के रास्ते पर है।' (Child is not so much a little man as a man in the making.) उसे मनुष्य बनना है। इसलिए उसका मानसिक विकास एक प्रौढ़ व्यक्ति के मानसिक विकास से सर्वथा भिन्न होगा। यह तथ्य हमें मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति से ही मिला है।

(६) मनोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है। यदि कोई तीव्र-बुद्धि है तो कोई मन्द-बुद्धि, कोई भावुक है तो कोई यथार्थवादी, कोई कवि है तो कोई गणितज्ञ। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी व्यक्तियों में पर्याप्त भिन्नता है। सबकी अपनी-अपनी योग्यतायें, विशेषतायें, रुचियां और सीमाएँ होती हैं। इसी प्रकार बालकों में भी व्यक्तिगत भिन्नता होती है। अतः सभी को एक जैसा समझना और सभी के लिये एक ही प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध करना एक बड़ी भूल है। एक ही प्रकार की शिक्षा देना प्रत्येक बालक के साथ अन्याय करना है। एक ही प्रकार की शिक्षा से सभी का भला न हो सकेगा। इसके अतिरिक्त सभी बालकों को एक ही नमूने में ढालना भी असम्भव है। (Tolstoy said, 'Education as a deliberate moulding of people into set forms is sterile, illegitimate and impossible.") अतः बालकों की व्यक्तिगत भिन्नता को ध्यान में रख कर शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। इस मनोवैज्ञानिक सत्य का शिक्षा पर अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। अब प्रयत्न यह किया जाता है कि बालक की शिक्षा उसकी योग्यता के अनुसार हो।

(७) यह प्रवृत्ति बालक के स्वभाव को अत्यन्त ही सरल और साधु मानती है। इसके अनुसार बचपन ही सीखने का सबसे उत्तम समय है। बचपन में जो आदतें पड़ जाती हैं वे जीवन पर्यन्त रहती हैं। अतः यह प्रवृत्ति प्राथमिक शिक्षा पर बल देती है। मध्य युग में प्राथमिक शिक्षा की ओर किसी का ध्यान न था। शिक्षकों के विचार एवं कार्य माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा तक सीमित थे। इस प्रवृत्ति ने उनका ध्यान प्राथमिक शिक्षा की ओर आकर्षित किया। इस प्रवृत्ति ने यह स्पष्ट कर दिया कि शिक्षा के लिये सबको समान अवसर मिलना चाहिए। किसी को भी शिक्षा से वंचित नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति द्वारा सार्वलौकिक शिक्षा की नींव पड़ी।

(८) इस प्रवृत्ति के अनुसार प्रत्येक बालक के जीवन में कुछ 'मनोवैज्ञानिक क्षण' आते हैं जिनमें वह एक विशेष विषय के सीखने की रुचि प्रदर्शित करता है। और इस 'क्षण' के निकल जाने पर उसे उक्त विषय सीखने में कठिनाई होती है। अतः मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार प्रत्येक शिक्षक का यह कर्त्तव्य है कि वह इस 'मनोवैज्ञानिक क्षण' के उदय होने की प्रतीक्षा करे और उसके उदय होते ही उससे लाभ उठाये। ऐसा करने से बालक बड़ी रुचिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रसिद्ध मनो-

वैज्ञानिक विलियम जेम्स का कथन है कि शिक्षा-शास्त्र में सबसे मुख्य बात
कि बालक की रुचि का पता लगते ही उससे लाभ उठाया जाये। यदि इस का
कुछ भी देर हुई तो सम्भव है कि बालक भविष्य में उस रुचि को प्रदर्शित ही न

(६) यह प्रवृत्ति समाज की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्वपूर्ण मानती
अतः यह व्यक्ति के विकास पर बल देती है।

मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न पेस्टाल
फ्रोबेल तथा हरबार्ट ने किया। अस्तु, इनके विचारों तथा कार्यों का अध्
आवश्यक है।

१. पेस्टालॉजी (Pestalozzi)
(१७४६–१८२७)

जीवन तथा कार्य— पेस्टालाजी का जन्म स्विटजरलैंड के ज़्यूरिक नामक न
में हुआ था। जब वह पांच वर्ष का था तभी उसके पिता का देहान्त हो गया। उस
लालन-पालन उसकी माता ने किया। अपनी माता के सद्‌गुणों का उसके ऊपर
प्रभाव पड़ा। वह निःस्वार्थ भाव से कार्य करना तथा सबके प्रति उदारता का व्यव
करना सीख गया। उसने यह निश्चय किया कि वह लोगों के दुःख तथा गरीबी
दूर करेगा। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा गांव के स्कूल में हुई। स्कूल में सब लोग उ
भोंदू कहते थे। परन्तु उसके सरल स्वभाव से सब लोग उससे प्रसन्न थे। स्कूली शि
समाप्त कर लेने के पश्चात् उसने स्विटजरलैंड के एक विश्वविद्यालय में न
लिखाया। परन्तु यहाँ उसे कुछ भी सफलता न मिली। इसी समय उसे रूसो
पुस्तकें पढ़ने का अवसर मिला। 'एमील' का उसके ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा
उसका ध्यान शिक्षा सुधार की ओर गया। अस्तु वह वकील तथा मन्त्री बनने
विचार छोड़कर शिक्षा के कार्य में लग गया। वह समाज की दैन्य दशा भी सुधार
चाहता था। उसने शिक्षा को समाज सुधार का सबसे बड़ा साधन माना और सुधा
का काम किसानों से आरम्भ किया। पढ़ना, लिखना छोड़कर वह किसानों की द
सुधारने का प्रयत्न करने लगा। थोड़ी सी जमीन लेकर वह खेती करने लगा और
किसानों को खेती के अच्छे तरीके प्रयोग में लाने की शिक्षा देने लगा। इसी सम
उसने 'अन्नाशुलथेस' नामक स्त्री से ब्याह कर लिया और 'न्यूहॉफ' (Neuhof)
रहने लगा। परन्तु खेती करने में वह सफल न हो सका। अब उसने शिक्षा द्वार
समाज की सेवा करने का निश्चय किया। सन् १७७४ में वह गांव के बीस बच्चों
को एकत्रित करके शिक्षा देने लगा। इन बच्चों को वह पुत्रवत् समझता था। उन
लिये कपड़ा और खाने का प्रबन्ध करता था। उसका विश्वास था कि इन बच्चों को
ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे अपनी जीविका अपने आप कमा सकें। इसी से
उन बालकों को खेती करने और बाग में काम करने की शिक्षा देता था। आर्थिक

के लिये उसने गृह-कार्य की व्यवस्था की थी। इस प्रकार उसने शिक्षा में व्यावहारिकता पर बल दिया। बालकों को मौखिक शिक्षा कार्य करते समय दी जाती थी। बालकों को गणित की भी शिक्षा दी जाती थी और उन्हें बाइबिल के प्रमुख अंश कंठस्थ कराये जाते थे। उसका विश्वास था कि पढ़ने-लिखने के पहले बातचीत सीखना अधिक आवश्यक है, इसलिये वह दैनिक जीवन के विषयों पर बालकों को बातचीत करने तथा बोलने को उत्साहित किया करता था।

इस प्रकार पेस्टालाजी ने नई शिक्षा की नींव डाली। इस शिक्षा से बालकों को बड़ा लाभ हुआ। उनका मानसिक, शारीरिक व नैतिक विकास भली भाँति हो तथा इस कार्य में पेस्टालाजी को पर्याप्त सफलता मिली। परन्तु अर्थाभाव के कारण उसे अपनी पाठशाला बन्द करनी पड़ी। इसके बाद अठारह साल उसने भयंकर दरिद्रता में काटे।

अपनी आर्थिक अवस्था को ठीक करने के लिये पेस्टालाजी ने पुस्तकें लिखना आरम्भ किया। इस कार्य के द्वारा उसने जीविकार्जन करने तथा नवीन शिक्षा के विकास का प्रयत्न किया। उसने सबसे पहले 'ईवनिंग आवर आफ ए हरमिट' (Evening Hour of a Hermit) लिखी। इस पुस्तक की शैली कठिन थी इस लिये यह प्रसिद्ध न हो सकी। इसके बाद 'ल्योनार्ड एण्ड गरट्रूड' (Leonard and Gertrude) नामक पुस्तक लिखी। 'गरट्रूड' का आधार पेस्टालाजी की स्वामिभक्त नौकरानी थी जो मुसीबत के दिनों में उसके साथ रही थी। इस पुस्तक में पेस्टालाजी ने अपने शिक्षा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इसके द्वारा उसने जन-सामान्य को नवीन शिक्षा के स्वरूप से परिचित किया। इसके पश्चात् उसने 'क्राइस्टोफ़र एण्ड एलिजा' (Christopher and Elija), 'इनक्वारी इन्टू दी कोर्स आफ नेचर इन दी डेवलप्मेंट आफ दी ह्यूमन रेस' (Inquiry into the course of nature in the development of the human race) तथा 'फेबल्स' (Fables) लिखी। उसने 'स्विस जर्नल' नामक पत्रिका का सम्पादन भी किया। १७९८ में उसने 'स्टान्ज़' में एक स्कूल खोला, परन्तु थोड़े दिनों बाद उसे स्टैन्ज़ (Stanz) नामक गाँव के अनाथ बच्चों का दायित्व लेना पड़ा।

इस स्कूल में उसने ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की जिसके द्वारा बालकों की समस्त शक्तियों का विकास सम्भव था। उसने 'अनुभव और निरीक्षण' पद्धति द्वारा बालकों को बौद्धिक, धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा दी। दूसरे शब्दों में इसे 'आब्जरवेशनल मेथड' (Observational Method) कहते हैं। पाँच महीने बाद यह स्कूल भी बन्द कर दिया गया।

इसके बाद वह बर्गडार्फ (Burgdorf) के स्कूल में अध्यापन करने लगा। धीरे धीरे यह स्कूल बहुत बढ़ गया। वहाँ पर शिक्षकों की शिक्षा का भी प्रबन्ध कि

गया। किन्तु कुछ समय बाद उसे यह स्कूल भी छोड़ना पड़ा। उसने अब 'यरडन' (Yuerdun) में स्कूल खोला। कुछ ही समय में यह संस्था बहुत प्रसिद्ध हो गई। देश-देश के शिक्षक उसकी संस्था में शिक्षा ग्रहण करने आये जिनमें हरबार्ट (Herbart) तथा फ्रोबेल (Froebel) भी थे। आपसी मतभेद के कारण यह स्कूल भी बन्द करना पड़ा। स्कूल के बन्द हो जाने के पश्चात्, उसने शिक्षण-कार्य त्याग दिया और सन् १८२७ में वह इस संसार से चल बसा।

पेस्टालॉज़ी के शिक्षा सिद्धान्त

पेस्टालाजी बड़ा उदार व्यक्ति था। दूसरों का कष्ट देखकर वह द्रवीभूत हो जाता था। उसके समय की सामाजिक दशा बहुत बुरी थी। चारों ओर अज्ञानता, हीनता तथा दरिद्रता फैली हुई थी। कुछ व्यक्तियों ने उक्त बुराइयों को दूर करने के लिए एक नये धर्म को चलाने की आवश्यकता समझी और कुछ ने एक नयी शासन व्यवस्था की। परन्तु पेस्टालाजी ने कहा कि सुधार व्यक्तियों से प्रारम्भ होना चाहिए समाज से नहीं। अस्तु उसने शिक्षा को ही मनुष्यों की दशा सुधारने का एक-मात्र साधन समझा। उसने बतलाया कि शिक्षा से व्यक्ति की उन शक्तियों का विकास होगा जिनसे वह अपनी तथा समाज की दशा कर सकेगा। परन्तु उस समय की शिक्षा की दशा बड़ी शोचनीय थी। बालकों की आन्तरिक शक्तियों का विकास न करके उनके मस्तिष्क में व्यर्थ का ज्ञान ठूँसा जाता था। उन्हें स्वयं ज्ञान प्राप्त करने का अवसर नहीं दिया जाता था। दूसरों के अनुभवों का ज्ञान प्राप्त कराया जाता था। अतः रूसो की भाँति उसने भी तत्कालीन शालाओं, शिक्षा तथा अध्यापन पद्धतियों का घोर विरोध किया। उसने शिक्षा में प्रकृतिवाद का आन्दोलन चलाया और शिक्षण-पद्धति को मनोवैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया। बर्गडार्फ के स्कूल में कार्य करते हुए उसने अपने 'शिक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास' सम्बन्धी विचारों को स्पष्टता प्रदान की। इन विचारों को उसने 'गरट्रूड अपने बच्चों को कैसे पढ़ाती है' (How Gertrude Teaches Her Children) नामक पुस्तक में व्यक्त किया है। उसके विचार निम्नलिखित हैं :—

(१) पेस्टालाजी ने कहा कि मनुष्य कुछ मूल प्रवृत्तियों को लेकर जन्म लेता है। उनमें बौद्धिक तथा नैतिक शक्तियाँ भी होती हैं। अतः 'उसके लिए ऐसे शिक्षा-विधान की आवश्यकता है जो मूल प्रवृत्तियों के आधार पर विकासमान बालक की आवश्यकताओं के अनुकूल सिद्ध हो। दूसरे शब्दों में उसकी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसके द्वारा उसका, शारीरिक, नैतिक तथा मानसिक विकास सम्भव हो सके। मनुष्य की शक्तियों का विकास उसकी प्रकृति के अनुसार होता है। इसलिए शिक्षा प्रकृति के अनुसार होनी चाहिए। 'जैसे प्रकृति में सभी वस्तुएं एक ही क्रम से बढ़ती हैं उसी प्रकार बालकों की शिक्षा में भी एक क्रम से बढ़ने का अवसर मिलना चाहिए।'

उद्देश्य ऐसा वातावरण प्रस्तुत करना माना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने समस्त ईश्वर-प्रदत्त, नैतिक, बौद्धिक तथा शारीरिक शक्तियों के विकास का अवसर मिल सके।

पेस्टालाजी ऐसी शिक्षा देने के पक्ष में था जिससे मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सके; अपनी बेकारी तथा गरीबी को दूर कर सके। इस दृष्टि से उसने बालकों को किसी व्यवसाय की शिक्षा देने का समर्थन किया। इस प्रकार उसकी शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक, नैतिक तथा व्यवहारिक था। दूसरे शब्दों में उसकी शिक्षा का उद्देश्य मस्तिष्क, हृदय तथा हाथ का विकास है। पेस्टालॉजी का विश्वास था कि इस प्रकार के विकास से व्यक्ति सुखी और सच्चरित्र जीवन व्यतीत कर सकता है।

पेस्टालॉज़ी की शिक्षा-पद्धति

रूसो की भांति पेस्टालाज़ी भी प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का विरोधी था। वस्तु को बिना समझे रटने की प्रणाली के विरुद्ध था। उस समय बालकों को दूसरों के अनुभवों का ज्ञान कराया जाता था। पेस्टालाजी इसके विपक्ष में था। वह बालकों को अपने पैरों पर खड़ा करना चाहता था। वह चाहता था कि बालक स्वयं ज्ञान का अन्वेषण करें। इसके लिये उसने एक नई शिक्षण-पद्धति का आविष्कार किया जिसे 'आन्स्वाङ्ग' (Anschaunng) कहा जाता है। आन्स्वाङ्ग का तात्पर्य 'नैसर्गिक प्रत्याशा' (Intuitive Apprehension) से है। इसका आशय है कि ज्ञान की प्राप्ति प्रत्यक्ष अनुभव के माध्यम से हो। सारे विचार स्नेह, श्रद्धा इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवों से ही जन्म लेकर पुष्ट होवें। ज्ञानेन्द्रियों से स्वयं प्राप्त अनुभव आन्स्वाङ्ग के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस सिद्धान्त का प्रयोग पेस्टालाजी ने आकृति, संख्या तथा भाषा के अध्यापन में किया क्योंकि वह आकृति, संख्या तथा भाषा को ज्ञान का मूल आधार मानता था। उसने कहा कि "प्रारम्भिक शिक्षा का आधार आकृति, संख्या और भाषा ही बनाया जा सकता है, क्योंकि बालक पहले वस्तु को देखकर उसकी आकृति पहचानता है, फिर उसकी संख्या देखता है, तत्पश्चात् भाषा की सहायता से उसका नामकरण करता है।"

पेस्टालाजी शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना चाहता था अर्थात् शिक्षा को मानसिक विकास के क्रम के अनुसार व्यवस्थित करना चाहता था। इसलिये उसने मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षण-पद्धति में परिवर्तन किया। शिक्षण-पद्धति में अनुभव और निरीक्षण को प्रधानता दी। वह प्रचलित पाठ्य-पुस्तकों तथा अन्य शिक्षा-सामग्री को हानिकर समझता था। वह चाहता था कि वस्तु का स्वयं निरीक्षण और अनुभव करके बालक अपनी धारणाएँ बनावे और उसका वर्णन स्वयं करे। इस प्रकार वह निरीक्षण शक्ति के साथ-साथ भाषा की भी उन्नति करना चाहता था। इसलिये उसने

प्रकार बढ़ती है उसी के आधार पर वह बालक को शिक्षा देना चाहता था। अतएव उसने अपनी शिक्षा-पद्धति को मनोविज्ञान पर आधारित किया। किन्तु वह अपने विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त न कर सका। इसीलिये उसके जीवनी लेखक मौर्फ (Morf) महोदय ने उसके शिक्षा सिद्धान्त, पद्धति आदि को निम्न प्रकार से क्रमबद्ध किया है:—

(१) निरीक्षण शिक्षा का आधार है।

(२) निरीक्षण अथवा स्वानुभूति का भाषा से सम्बन्ध होना चाहिए।

(३) सीखते समय निर्णय तथा आलोचना नहीं करनी चाहिए।

(४) प्रत्येक विषय की शिक्षा सरल से सरल तत्त्वों द्वारा होनी चाहिए और फिर मनोवैज्ञानिक क्रम के अनुसार आगे बढ़ना चाहिए।

(५) एक बात की शिक्षा देकर थोड़े समय के लिये रुक जाना चाहिए। जब तक बालक उसे भली प्रकार न समझ ले आगे नहीं बढ़ना चाहिए।

(६) शिक्षा बालक के विकास के अनुरूप होनी चाहिए।

(७) अध्यापक के लिये यह अपेक्षित है कि वह बालक के व्यक्तित्व का आदर करे। बालक की कोमल भावनाओं पर किसी प्रकार की ठेस नहीं लगनी चाहिए।

(८) प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य बालक की मानसिक शक्तियों का विकास करना है। इस काल में ज्ञान और कौशल देने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

(९) ज्ञान से शक्ति उत्पन्न होनी चाहिए और अभ्यास से कौशल।

(१०) अनुशासन-स्थापन प्रेम के आधार पर होना चाहिए।

(११) शिक्षा के उच्च उद्देश्यों के अनुसार ही अध्यापन की व्यवस्था होनी चाहिए।

पेस्टालॉजी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य

पेस्टालाजी की सहानुभूति दीन-दुखियों के प्रति थी। वह मनुष्यों की गरीबी, कष्टों तथा दुःखों को दूर करना चाहता था। उसने शिक्षा को ही सुधार का सब से बड़ा साधन माना। वह शिक्षा से मनुष्य को मनुष्य बनाना चाहता था जिससे वह दूसरों के दुःख तथा कष्ट को दूर कर सके। उसने लिखा है: "शब्द ज्ञान के स्कूल हैं", "लिखने पढ़ने के स्कूल हैं", "पर हमें तो मनुष्यों के स्कूलों की आवश्यकता है"। कहने का तात्पर्य यह है कि पेस्टालाजी शिक्षा द्वारा मनुष्य के स्वभाव तथा व्यवहार को शिष्ट तथा श्रेष्ठ बनाना चाहता था। इसलिये उसने शिक्षा का उद्देश्य ऐसे समाज का निर्माण करना माना है जिसमें वैयक्तिक गुणों और सामाजिक न्याय पर बल दिया जाता है। उसके कथनानुसार जन-सामान्य की दशा में तभी सुधार हो सकता है जबकि प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा ऐसी हो जो "उसकी समस्त शक्तियों का प्राकृतिक, प्रगतिशील और विरोधहीन विकास करे।" इस दृष्टि से उसने शिक्षा का

उद्देश्य ऐसा वातावरण प्रस्तुत करना माना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने समस्त ईश्वर-प्रदत्त, नैतिक, बौद्धिक तथा शारीरिक शक्तियों के विकास का अवसर मिल सके।

पेस्टालाजी ऐसी शिक्षा देने के पक्ष में था जिससे मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सके; अपनी बेकारी तथा गरीबी को दूर कर सके। इस दृष्टि से उसने बालकों को किसी व्यवसाय की शिक्षा देने का समर्थन किया। इस प्रकार उसकी शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक, नैतिक तथा व्यवहारिक था। दूसरे शब्दों में उसकी शिक्षा का उद्देश्य मस्तिष्क, हृदय तथा हाथ का विकास है। पेस्टालॉजी का विश्वास था कि इस प्रकार के विकास से व्यक्ति सुखी और सच्चरित्र जीवन व्यतीत कर सकता है।

पेस्टालॉजी की शिक्षा-पद्धति

रूसो की भांति पेस्टालाजी भी प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का विरोधी था। वस्तु को बिना समझे रटने की प्रणाली के विरुद्ध था। उस समय बालकों को दूसरों के अनुभवों का ज्ञान कराया जाता था। पेस्टालाजी इसके विपक्ष में था। वह बालकों को अपने पैरों पर खड़ा करना चाहता था। वह चाहता था कि बालक स्वयं ज्ञान का अन्वेषण करें। इसके लिये उसने एक नई शिक्षण-पद्धति का आविष्कार किया जिसे 'आन्स्वाङ्ग' (Anschaunng) कहा जाता है। आन्स्वाङ्ग का तात्पर्य 'नैसर्गिक प्रत्याशा' (Intuitive Apprehension) से है। इसका आशय है कि ज्ञान की प्राप्ति प्रत्यक्ष अनुभव के माध्यम से हो। सारे विचार स्नेह, श्रद्धा इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवो से ही जन्म लेकर पुष्ट होवें। ज्ञानेन्द्रियों से स्वयं प्राप्त अनुभव आन्स्वाङ्ग के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस सिद्धान्त का प्रयोग पेस्टालाजी ने आकृति, संख्या तथा भाषा के अध्यापन में किया क्योंकि वह आकृति, संख्या तथा भाषा को ज्ञान का मूल आधार मानता था। उसने कहा कि "प्रारम्भिक शिक्षा का आधार आकृति, संख्या और भाषा ही बनाया जा सकता है, क्योंकि बालक पहले वस्तु को देखकर उसकी आकृति पहचानता है, फिर उसकी संख्या देखता है, तत्पश्चात् भाषा की सहायता से उसका नामकरण करता है।"

पेस्टालाजी शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना चाहता था अर्थात् शिक्षा को मानसिक विकास के क्रम के अनुसार व्यवस्थित करना चाहता था। इसलिये उसने मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षण-पद्धति में परिवर्तन किया। शिक्षण-पद्धति में अनुभव और निरीक्षण को प्रधानता दी। वह प्रचलित पाठ्य-पुस्तकों तथा अन्य शिक्षा-सामग्री को हानिकर समझता था। वह चाहता था कि वस्तु का स्वयं निरीक्षण और अनुभव करके बालक अपनी धारणाएँ बनावे और उसका वर्णन स्वयं करे। इस प्रकार वह निरीक्षण शक्ति के साथ-साथ भाषा की भी उन्नति करना चाहता था। इसलिये उसने

बालकों को वास्तविक वस्तुओं द्वारा शिक्षा देने का सुझाव रखा। इस प्रकार उसने रूसो के शिक्षा-सिद्धान्तों को आगे बढ़ाया और 'प्रत्यक्ष पदार्थों की शिक्षा' (Object Lessons तथा 'मौखिक शिक्षा' (Oral Teaching) पर बल दिया। इससे पुस्तकीय शिक्षा का महत्त्व घट गया। बालकों को शाब्दिक ज्ञान देना शिक्षा का उद्देश्य नहीं रहा। अध्यापकों का महत्त्व बढ़ गया। वे पहले से अधिक क्रियाशील हो गये। पुस्तकों का प्रयोग कम हो गया। पेस्टालाजी ने विभिन्न विषयों की शिक्षण पद्धति में भी सुधार किया।

भाषा-शिक्षण— पेस्टालाजी ने भाषा सिखाने की अपेक्षा बोलना सिखाना अधिक महत्त्वपूर्ण माना। उसका विचार था कि बालक निरीक्षण तथा अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान की अभिव्यक्ति वार्तालाप द्वारा करता है, अतः भाषा की शिक्षा का आरम्भ वार्तालाप से होना चाहिए। वस्तुओं के प्रयोग द्वारा उसे वार्तालाप करने का अवसर देना चाहिए। उसे इस बात के लिये प्रेरित करना चाहिए कि जो धारणाएँ वह निरीक्षण और अनुभव द्वारा बनाता है उनका वर्णन भी करे। भाषा की शिक्षा के लिये उसने 'स्वर-ध्वनियों' (Syllabaries) की रचना की जिनके आधार पर बालकों को शब्द और वाक्य बनाना सिखाया गया। इस प्रकार पेस्टालाजी ने संश्लेषण पद्धति का प्रयोग किया। परन्तु यह उसकी भूल थी, क्योंकि इस पद्धति से 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' के शिक्षा सिद्धान्त का विरोध होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा-शिक्षा वाक्य से आरम्भ होनी चाहिए। यही मनोवैज्ञानिक पद्धति है।

गणित-शिक्षण— पेस्टालाजी के समय में गणित की शिक्षा का आशय कुछ अंकों के यन्त्रवत् लिखने से था। उसने इस विधि का विरोध किया। उसने लिखित गणित की अपेक्षा मानसिक तथा मौखिक गणित को अधिक उपयोगी समझा। उसका कहना है कि "गणित को लिखकर सीखने का कार्य तब तक के लिए स्थगित रखा जाय जब तक बालक अंकों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त न कर लें।" उसने बालकों को अंकों का वास्तविक ज्ञान कराने के लिये बिन्दुओं, रेखाओं तथा वस्तुओं आदि का प्रयोग किया। इनको घटाने, बढ़ाने तथा एकत्रित करने आदि की क्रिया द्वारा बालकों को गिनती, जोड़-बाकी, गुणा-भाग इत्यादि की शिक्षा दी गई। इस प्रकार उसने गणित की शिक्षा को सरल और मनोरंजक बनाया।

रेखागणित तथा चित्र-खींचने की शिक्षा-विधि— रेखागणित की शिक्षा के लिये पेस्टालाजी के स्कूलों में त्रिभुज, चौकोर और वृत्त आदि आकारों के नमूने कक्षा में लाये जाते थे। बालकों से आकारों का निरीक्षण कराया जाता था। आकार खींचकर उनकी परिभाषा लिखने को उन्हें उत्साहित किया जाता था। इस प्रकार रेखागणित की शिक्षा सरल तथा रोचक बना दी गई थी। इन्हीं आकारों की सहायता से चित्रण की शिक्षा दी जाती थी। सर्वप्रथम सीधी, तिरछी, तथा टेढ़ी रेखाओं का ज्ञान कराया

जाता था। फिर वस्तु की आकृति के भिन्न-भिन्न अङ्ग खींचने का अभ्यास कराया जाता था। तत्पश्चात् वस्तु की पूर्ण आकृति खींचने का अवसर दिया जाता था। उक्त बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि पेस्टालाजी वस्तुओं के सूक्ष्मतम विश्लेषण द्वारा शिक्षा देने का पक्षपाती था। वस्तु के छोटे से छोटे अङ्ग का विश्लेषण कर बालकों को पढ़ाना पेस्टालॉजी के अनुसार शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना था।

सामाजिक विषयों की शिक्षा— इन विषयों का ज्ञान बालक केवल रट कर ग्रहण करता था। पेस्टालाजी ने रटने की विधि का विरोध किया और इनकी शिक्षा देने के लिये निरीक्षण विधि का प्रयोग आवश्यक समझा। प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण में पाई जाने वाली वस्तुओं द्वारा इतिहास, भूगोल, प्रकृति विज्ञान आदि विषयों की शिक्षा दी गई। उक्त विषयों की शिक्षा के लिये घूमने-फिरने तथा निरीक्षण करने पर अधिक बल दिया गया। इस प्रकार पेस्टालाजी ने शिक्षा के लिये वातावरण को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है।

संगीत और नैतिकता की शिक्षा— पेस्टालाजी की संगीत में कोई विशेष रुचि न थी। इसलिये वह स्वयं संगीत-शिक्षण का कोई मनोवैज्ञानिक ढंग प्रस्तुत न कर सका। उसके मित्र 'निगेली' ने संगीत-शिक्षण का एक सुझाव रखा जिसके अनुसार स्वरों के सरल रूप पहले सिखाये जाते थे और कठिन रूप बाद में।

पेस्टालाजी शिक्षा द्वारा बालकों में मानवीय गुण उत्पन्न करना चाहता था जिससे उनका नैतिक तथा धार्मिक विकास हो सके। उसका कहना है, "हमें केवल रोटी की ही आवश्यकता नहीं है, प्रत्येक बालक अपना धार्मिक विकास भी चाहता चाहता है।" यदि बालक की शिक्षा में इस बात पर ध्यान न दिया गया तो उसका विकास अधूरा ही रह जायगा। पेस्टालाजी ने वास्तविक कार्यों द्वारा धार्मिक और नैतिक शिक्षा देने की आवश्यकता प्रदर्शित की। उसने स्पष्ट उदाहरणों द्वारा बालक में करुणा, दया, सहानुभूति, सहयोग आदि की भावना उत्पन्न करने का सुझाव रखा। इस प्रकार उसने धर्म और जीवन में सम्बन्ध स्थापित किया। उसने बतलाया कि बालकों में स्नेह, आदर तथा सहानुभूति का भाव उत्पन्न करने के लिये हमें स्वयं उनसे स्नेह करना चाहिए। "जैसे वृक्ष बिना जड़ के नहीं बढ़ सकता उसी प्रकार बालक बिना विश्वास और प्रेम के नहीं बढ़ सकता।"

पेस्टालॉजी की शिक्षा का पाठ्य-क्रम

पेस्टालाजी ने अपने समय के पाठ्य-क्रम पर भी ध्यान दिया। लैटिन व्याकरण तथा अक्षर-ज्ञान मात्र को उसने अपूर्ण समझा। उसने उन सभी विषयों का अध्यापन आवश्यक बताया जिनसे बालक के विकास में सहायता मिलती हो। इसलिये पाठ्य-क्रम को उसने बदल दिया। प्रारम्भिक कक्षाओं के पाठ्य-क्रम में भी उसने लिखने-पढ़ने, अङ्कगणित, लैटिन व्याकरण के साथ भाषा, ज्यामिति, इतिहास, भूगोल,

संगीत, आचरण-शास्त्र आदि विषयों को स्थान दिया। इनके अतिरिक्त कृ
उद्योग-धन्धों का भी पाठ्य-क्रम में समावेश किया गया। पेस्टालाजी व्याव
कार्यों को बालक के लिए आवश्यक मानता है क्योंकि उसका विश्वास
व्यावहारिक कार्य भावी जीवन को सफल बनाने तथा गरीबी को दूर करने में
होते हैं। इस हेतु उसने औद्योगिक शिक्षा को महत्त्व दिया।

शिक्षा का संगठन

*पेस्टालाजी ने कई स्कूल खोले थे। हमें उसके शिक्षा-संगठन सम्बन्धी वि
का पता इन स्कूलों के संगठन के अध्ययन से लगता है। 'यवरडन' (Yverdo
स्कूल में तीन कक्षाओं की व्यवस्था की गई थी :—*

(१) प्राइमरी कक्षा— इसमें आठ वर्ष तक के बालक शिक्षा पाते थे।

(२) लोअर कक्षा — *इसमें आठ से ग्यारह वर्ष तक के बालक शिक्षा पाते*

(३) अपर कक्षा— *इसमें ग्यारह से तेरह वर्ष के बालक अध्ययन करते*

पहली कक्षा में समय-विभाग का कोई बन्धन नहीं था। अन्य दो कक्षा
समय-सारिणी के अनुसार कार्य होता था। स्कूल का समय दस घण्टों में विभ
था। प्रत्येक घण्टा साठ मिनट का होता था। प्रत्येक घण्टे के बाद थोड़े समय
अवकाश होता था। प्रतिदिन के कार्य के आरम्भ और अन्त में पेस्टालाजी छात्र
मिलता था। उनकी कठिनाइयों को समझता और दूर करता था। व्यावहारिक
भी कराये जाते थे। कार्य करने की स्वतन्त्रता थी। सन्ध्या समय बालक खेलते-कू
चित्र बनाते तथा पत्र लिखते थे।

स्कूल का वातावरण घर जैसा था। अध्यापक बालकों के प्रति प्रेम, दया
सहानुभूति रखते थे। पेस्टालाजी स्कूल को 'प्यार का घर' बनाना चाहता
उसका कथन है, "बालक को पढ़ाना नहीं वरन् प्यार करना सिखाना है।" उस
कहना है स्कूल का वातावरण कृत्रिम नहीं होना चाहिए। कृत्रिम वातावरण
बालकों का आचरण भी आडम्बरपूर्ण हो जाता है। अतः स्कूल का वातावरण
वैसा होना चाहिए जिससे बालक स्कूल में उसी आनन्द का अनुभव करे जो उसे
घर मिलता है।

शिक्षक का स्थान

पेस्टालाजी का कथन है कि बालक की स्वाभाविक शक्तियों के विकास
अनुरूप ही शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। इस दृष्टि से शिक्षक के लिए
आवश्यक है कि वह बालक के स्वभाव तथा आवश्यकताओं को पूर्ण रूप से पहच
और उसके अनुसार शिक्षा का उचित आयोजन करे। उसके लिए यह आवश्यक है
वह बालकों के प्रति सहानुभूति रखे। [illegible]
न दी जाय। यदि ऐसा किया जायगा तो उसका विकास कुण्ठित हो जायगा

पेस्टालॉजी ने बतलाया कि शिक्षक का कार्य बालक की रुचि को ध्यान में रख प्यार के साथ इस प्रकार मार्ग दर्शन करना है कि उसकी आन्तरिक शक्तियों पूर्णतया विकास हो सके। पेस्टालाजी चाहता था कि शिक्षक और शिष्य में पि पुत्र जैसा प्रेम हो और शिक्षक शिष्य के विकास के लिये उसी प्रकार प्रयत्नशील जैसे एक पिता अपने पुत्र के विकास के लिये रहता है।

अनुशासन— स्कूलों के कड़े नियन्त्रण को देखकर पेस्टालाजी बड़ा दुखी था। वह बालक को ईश्वर का अंश समझता था इसलिये वह दण्ड देने अथवा ब को भयभीत करने के विरुद्ध था। वह प्रेम और सहानुभूति के बल पर अनुश स्थापित करना चाहता था। कठोर शासन तथा कड़े नियमों का वह विरोधी परन्तु उसके विचारों से पता चलता है कि यदि चरित्र-निर्माण के लिये दण्ड ही पड़े तो दण्ड देने में हिचकना नहीं चाहिए।

पेस्टालॉजी की महानता

पेस्टालाजी ने शिक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास में योग दिया और शिक्षण-प को मनोवैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया। उसने ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की जि द्वारा बालकों का समुचित शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास सम्भव उसने इस बात पर बल दिया कि जैसे प्रकृति में सभी वस्तुएं एक क्रम से बढ़ती हैं प्रकार बालकों की शिक्षा में भी क्रमानुसार प्रगति का आयोजन होना चाहिए। बालक के स्वभाव, सम्भावनाओं तथा रुचियों के अध्ययन पर तथा उनके आ शिक्षा की व्यवस्था करने पर बल दिया। अपने 'आन्सचाउङ्ग' के सिद्धान्त के आ पर एक नई शिक्षण-विधि का आविष्कार किया। दीन बालकों की शिक्षा की ध्यान देकर सार्वलौकिक शिक्षा की नींव डाली। उसका पूर्ण विश्वास था कि द्वारा ही व्यक्ति तथा समाज की दशा सुधारी जा सकती है। वह शिक्षा-शास्त्र नहीं, समाज-सुधारक भी था। वह भिखारियों को मनुष्य की भांति रहने की देना चाहता था। इस दृष्टि से उसने शिक्षा और व्यवसाय को एक साथ र अमीर और गरीब के अन्तर को मिटाने का प्रयास किया। वैयक्तिक गुणों सामाजिक न्याय की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। मनोविज्ञान के आ पर शिक्षा के पाठ्य-क्रम का संगठन किया। बालक की आयु, आवश्यकता योग्यता को ध्यान में रखकर पाठ्य-क्रम को निश्चित किया। वास्तविक वस्तुओं सहायता से शिक्षा देने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। आगमन विधि का करके यह स्पष्ट कर दिया कि जब तक शिक्षा बाल-मनोविकास के अनुकूल न तब तक फलदायी नहीं हो सकती। पेस्टालाजी ही पहला व्यक्ति था जिसने के व्यक्तित्व के विभिन्न अङ्गों के परस्पर सम्बन्ध को समझा और शिक्षा द्वारा सामंजस्यपूर्ण विकास के महत्व को स्पष्ट किया। उसका प्रेम तथा सहानुभूति

पर अनुशासन स्थापित करने का विचार अत्यन्त ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उसने 'शिक्षक प्रशिक्षण' (Teachers' Training) के विचार को भी प्रेरणा दी। विद्वानों का कथन है कि पेस्टालाजी ने रूसो की ही निषेधात्मक शिक्षा को निश्चयात्मक स्वरूप देने का प्रयत्न किया है। इसमें सन्देह नहीं कि उसने प्रकृतिवाद को ही आगे बढ़ाया और उसको सब के लिये सुलभ करने का प्रयत्न किया। उसी के प्रयत्नों से प्रेरणा लेकर शिक्षा में आज अनेकानेक सुधार किये जा रहे हैं। शिक्षक और शिष्य के सम्बन्ध को नया रूप देकर उसने पाठशालाओं के रूप को ही बदल दिया है। आज बालक की शिक्षा पर जो इतना बल दिया जा रहा है उसका श्रेय पेस्टालाजी को ही दिया जा सकता है। उसके सुधारों के फलस्वरूप शिक्षा में मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक प्रगति प्रारम्भ हुई। उसके शिक्षा के लिये किये गये कार्यों तथा सुधारों से हमें आधुनिक शिक्षा के पुनर्संगठन में बड़ी सहायता मिल रही है।

पेस्टालोजी का प्रभाव—पेस्टालाजी के शिक्षा-सिद्धान्तों का प्रभाव संसार के लगभग सभी देशों पर पड़ा। उसके विचारों से अनेक अध्यापक प्रभावित हुए। योरप के कई देशों के शिक्षक अध्यापन-कला सीखने उसके पास आये। जर्मनी उसकी शैक्षिक विचारधारा तथा सिद्धान्तों से अत्यन्त ही प्रभावित हुआ। वहां उसकी शिक्षा पद्धति को अपनाया गया। इङ्गलैड में प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था की गई। शिक्षण कार्य प्रशिक्षण-प्राप्त अध्यापकों द्वारा कराया जाने लगा। अमरीका में भी उसकी शिक्षण-पद्धति का प्रचार हुआ। दो प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री हरबार्ट और फ्रोबेल पेस्टालाजी के शिष्य थे। इन्होंने पेस्टालाजी के कार्य को आगे बढ़ाया। पेस्टालाजी के प्रभावस्वरूप शिक्षा का उद्देश्य व्यावहारिक, नैतिक तथा सामाजिक हो गया। उसकी विचारधारा के फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा तथा पाठशालाओं का नया रूप सामने आया और विभिन्न स्थानों पर नए-नए स्कूल खोले गये।

प्रश्न

(१) शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति से आप क्या समझते हैं? मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की मुख्य-मुख्य विशेषतायें बतलाइये।

(२) पेस्टालाजी के शिक्षा-सिद्धान्तों की आलोचना कीजिए।

(३) अपने शिक्षा-सिद्धान्तों के हेतु पेस्टालाजी किस सीमा तक रूसो का ऋणी है।

(४) 'The reform needed was not that 'the school coach should be better horsed but that it should be turned right round and started on a new track.' पेस्टालाजी के उक्त कथन की उसके शिक्षा-उद्देश्य तथा विधि के आधार पर समालोचना कीजिए।

नवाँ अध्याय

२. हरबार्ट (Herbart)

१७७६–१८४१

पेस्टालाजी के शिष्य— पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि हरबार्ट और फोबेल पेस्टालाजी के शिष्य थे। इन्होने उसकी शिक्षा-प्रणाली का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया था। किन्तु उसके विचारों का इन दोनों शिक्षा-शास्त्रियों पर एक सा प्रभाव न पड़ा। इन्होंने अपने-अपने विचारों तथा भावनाओ के अनुसार पेस्टालाजी के शिक्षा सिद्धान्तों को अपनाया और उनका विकास किया। पेस्टालाजी के शिक्षा सिद्धान्तों मे हमें दो धाराएं दिखलाई पड़ती है जो इस प्रकार हैं :—

(१) बालक की मूल-प्रवृत्तियों तथा शक्तियों का स्वाभाविक विकास ही शिक्षा है। इसका अर्थ यह है कि जन्म के समय ही बालक मे सब गुण रहते हैं, अध्यापक का कार्य केवल उनके स्वाभाविक विकास मे सहायता देना है।

(२) बालक की शिक्षा के आधार अनुभव और निरीक्षण है। इसका अर्थ यह है कि जो विचार अथवा प्रभाव हम बाहरी संसार के सम्पर्क में आकर अपने अनुभवों द्वारा प्राप्त करते है वही हमारी शिक्षा है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति के विकास में वातावरण का कार्य प्रमुख है। इस धारा की दृष्टि से अध्यापन कार्य तथा अध्यापन सामग्री बालक के विकास के लिये अत्यावश्यक हैं।

हरबार्ट ने दूसरी धारा को अपनाया और शिक्षण-पद्धति और अध्यापन शैली को विशेष महत्व दिया। उधर फोबेल ने पहली धारा को चुना और बालक के स्वतः विकास और आत्म-क्रियाओं को महत्व दिया। परन्तु दोनों ही शिक्षा-शास्त्रियों ने आधुनिक शिक्षा को अत्यन्त ही प्रभावित किया है। इसलिये उनके विचार तथा कार्य से अवगत होना परमावश्यक है।

हरबार्ट का जीवन तथा उसके कार्य— हरबार्ट का जन्म ओल्डेनबर्ग (जर्मनी) मे हुआ था। उसके माता-पिता पढ़े-लिखे और योग्य थे। हरबार्ट की प्रारम्भिक शिक्षा उसकी माता की देख-रेख में हुई। उसने गणित, यूनानी भाषा तथा दर्शन शास्त्र का अध्ययन किया। वह जन्म से ही धार्मिक मनोवृत्ति का था। अपने विद्यार्थी-जीवन मे उसने आध्यात्मिक विषयों पर कई लेख लिखे थे। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये उसने 'जेना विश्वविद्यालय' में नाम लिखवाया। यहां पर वह 'न्यू ह्यूमेनिज्म' (New Humanism) के विचारों तथा आदर्शों से अत्यन्त ही प्रभावित हुआ और उसकी यह धारणा बन गई कि उचित शिक्षा द्वारा मनुष्य का उच्चतर नैतिक विकास किया जा सकता है। विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त करने के पहले ही वह

स्विट्जरलैण्ड के परनेर के बच्चों का अध्यापक बन गया। वहीं पर उसे बालकों की व्यक्तिगत विभिन्नताओं तथा उनके मानसिक विकास के अध्ययन का अवसर मिला। शिक्षण कार्य करते हुए उसने शिक्षा-सिद्धान्त तथा शिक्षा मनोविज्ञान सम्बन्धी अनेक अनुभव प्राप्त किये। यही अनुभव उसके शिक्षा-दर्शन के आधार थे।

वह पेस्टालाजी से मिलने बर्गडॉर्फ गया और वहाँ पेस्टालाजी की शिक्षा-पद्धति का अध्ययन किया। तभी उसने पेस्टालाजी के विचारों को वैज्ञानिक रूप देने का निश्चय किया। सन् १८०२ से लेकर १८०८ तक उसने 'गाटिंगेन विश्वविद्यालय' में दर्शन-शास्त्र और शिक्षा-शास्त्र पर व्याख्यान दिये। सन् १८०९ में वह 'कोनिंग्सबर्ग विश्वविद्यालय' में दर्शन-शास्त्र के आचार्य के पद पर नियुक्त हुआ। वहाँ पर उसने सन् १८३५ तक कार्य किया। यहीं पर उसने अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का संवर्द्धन किया और उन्हें व्यावहारिक रूप दिया। यहाँ पर उसने कई ग्रन्थ लिखे जिनमें उसने पेस्टालाजी के शिक्षा-सिद्धान्तों की आलोचना की। यहाँ पर उसने एक स्कूल खोला जिसमें शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग किये जाते थे और शिक्षकों को अध्यापन-कला की शिक्षा दी जाती थी। हरबार्ट ने 'साइन्स आफ पेडागाजी (Science of Pedagogy), 'आउटलाइन्स आफ पेडागाजीकल थियरी' (Outlines of Pedagogical Theory) आदि ग्रन्थ लिखे हैं। इन ग्रन्थों में हमें उसकी शिक्षा के उद्देश्य तथा सिद्धान्तों का विवरण मिलता है। सन् १८४१ में उसकी मृत्यु हो गई।

हरबार्ट की मनोवैज्ञानिक विचारधारा— मनोविज्ञान को शिक्षा का आधार बनाने के लिए पेस्टालाजी ने शिक्षा-मनोविज्ञान की भूमिका तैयार की और हरबार्ट ने उसकी रूपरेखा को स्पष्ट किया। इसलिये हरबार्ट को शिक्षा मनोविज्ञान का जन्मदाता कहा गया है। हरबार्ट ने शिक्षा और मनोविज्ञान के सम्बन्ध को स्पष्ट किया और यह बतलाया कि मनोविज्ञान की सहायता से पाठन-विधि में सुधार किया जा सकता है। वह पहला व्यक्ति था जिसने शिक्षा को आचरण-शास्त्र तथा मनोविज्ञान पर आधारित किया। आचरण-शास्त्र की सहायता से उसने शिक्षा का उद्देश्य निश्चित किया और मनोविज्ञान की सहायता से शिक्षण-पद्धति की रचना की। हरबार्ट ने मनोविज्ञान के तथ्यों के परीक्षण से प्राप्त अनुभवों के आधार पर मनोविज्ञान का विकास किया। उसने मानसिक प्रक्रिया की तीन अवस्थाओं— 'ज्ञान' 'संवेदन' और 'क्रिया' (Knowing, Feeling and Willing)— के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को अस्वीकार किया। उसके कथनानुसार 'ज्ञान' में 'संवेदन' और 'क्रिया' है, 'संवेदन' में 'ज्ञान' और 'क्रिया' है और 'क्रिया' में 'संवेदन' और 'ज्ञान' है। हम इनको शुद्ध दशा में कभी नहीं पाते। इस प्रकार मानसिक प्रक्रिया एक है। उसमें पृथक्-पृथक् प्रवृत्तियां नहीं हैं। ("The soul", he says, "has no innate

tendencies nor faculties. It is an error, indeed, to look upon the human soul as an aggregate of all sorts of faculties.") अस्तु उसने 'सामर्थ्य मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) का खंडन किया और बतलाया कि मानव का मन पृथक्-पृथक् सामर्थ्यों जैसे 'स्मरण शक्ति','कल्पना शक्ति', 'निर्णय शक्ति' में विभाजित नहीं, वह तो एक इकाई है। उसका विकास मनोविज्ञान की सहायता से किया जा सकता है।

हरबार्ट ने सहज भावनाओं और प्रवृत्तियों के अस्तित्व को अस्वीकार किया और इस बात पर बल दिया कि हमारे मन की रचना बाहरी संसार के अनुभवों से होती है। जन्म के समय मन बिलकुल खाली होता है। उसमें किसी भी प्रकार के विचार नहीं होते। उसमें केवल एक ही शक्ति होती है— वातावरण के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की। मन और वातावरण के सम्पर्क से विचार अथवा 'प्रत्यय' (Ideas) उत्पन्न होते हैं। प्रत्यय सब एक तरह के नहीं होते। वे परस्पर समान, असमान तथा विरोधी होते हैं। सभी प्रत्यय अपना अस्तित्व बनाये रखने का और चेतना के भीतर पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्यय सबसे पहले चेतना (Consciousness) में प्रवेश करते हैं और फिर चेतना की सीमा को पार करके अचेतन (Unconscious) में प्रविष्ट हो जाते हैं और जब तक उनकी आवश्यकता न हो वहीं पर पड़े रहते हैं। जब कोई नया प्रत्यय उत्पन्न होता है तो वह पूर्व-संचित प्रत्यय जो किसी प्रकार नये प्रत्यय से मिलता-जुलता है चेतना में आ जाता है और नये प्रत्यय को ग्रहण कर लेता है। इसके पश्चात् दोनों अचेतन मन में चले जाते हैं। इस प्रकार पूर्व-संचित प्रत्यय नवीन प्रत्यय को ग्रहण करते हैं। वे सहयोगी प्रत्ययों को उठाने का और असहयोगी प्रत्ययों को गिराने का भी प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक नवीन प्रत्यय पूर्व-संचित प्रत्ययों से मिल कर ही स्थिरता प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में वे ही प्रत्यय ग्राह्य होते हैं जिनका पूर्व-संचित प्रत्ययों में किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध होता है। प्रत्ययों को इस प्रकार ग्रहण करने की मानसिक प्रक्रिया को 'नन' महोदय ने मनोवैज्ञानिक भाषा में "पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान" (Apperception) की संज्ञा दी है और पूर्व-संचित प्रत्ययों के कोष को 'पूर्वानुवर्ती ज्ञान' (Apperceptive Mass) का नाम दिया है। पूर्वानुवर्ती ज्ञान से सम्बन्धित होकर ही नवीन प्रत्यय चेतना में प्रकट होते हैं। इसी क्रिया को पेस्टालॉजी ने 'ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ने' की संज्ञा दी है। दूसरे मनोवैज्ञानिकों ने इसे 'मानसिक परिपाक' (Mental Assimilation) कहा है।

हरबार्ट के कथनानुसार शिक्षक को मन की उक्त वर्णित क्रिया से लाभ उठाना चाहिए। 'पूर्वानुवर्ती ज्ञान' के सिद्धान्त के आधार पर कोई भी शिक्षक बालक के पूर्व-संचित ज्ञान का सहारा लेकर नए विचारों में रुचि उत्पन्न करके उनको धारण

कराने में सफल हो सकता है। अपने विषय में रुचि उत्पन्न करने के लिये शिक्षक को चाहिए कि वह पाठ्य-वस्तु को इस प्रकार प्रस्तुत करे कि उसका पूर्व-संचित प्रत्ययों से सम्बन्ध हो जाय। पूर्व-संचित प्रत्ययों से सम्बन्धित हो जाने पर मन नए प्रत्ययों को तुरन्त ही ग्रहण कर लेगा। असमान तथा विरोधी प्रत्यय सरलता से ग्रहण नहीं किये जाते। इस प्रकार हरबार्ट ने एक नया तथा महत्वपूर्ण अध्यापन सिद्धान्त प्रस्तुत किया और उसी आधार पर एक पाठन-प्रणाली बनाई जो आगे चलकर 'पंच-पद-प्रणाली' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बालक का मस्तिष्क पूर्णत शिक्षक के हाथ में है क्योंकि वह अपने शिक्षण द्वारा उसे बना और सुधार सकता है। यदि शिक्षक चाहता है कि बालक नवीन विचारों को ग्रहण कर ले तो उसे नवीन विचारों का बालक के पूर्व-संचित विचारों से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। शिक्षक को चाहिए कि वह बालक के पूर्व-संचित विचारों के उद्बोधन की सामग्री जुटावे और नवीन विचारों का ऐसा क्रम बनावे जो बालक के मानसिक विकास के अनुकूल हो। बालक का मन दो प्रकार से काम करता है। पहले तो वह विचारों को स्वीकार करता है। इसे हरबार्ट ने विचार-शोषण (Absorption) की संज्ञा दी। दूसरे, विचारों को ग्रहण कर लेने के पश्चात् वह अपने पुराने विचारों से सम्बन्ध जोड़ता है। यह आत्मसात् की क्रिया है जिसे हरबार्ट ने मननशीलता (Reflection) कहा है। शिक्षण के समय बालक का मन इन दोनों क्रियाओं के बीच दौड़ता रहता है अतः शिक्षक को दोनों क्रियाओं पर बल देना चाहिए।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर हरबार्ट ने शिक्षा में अध्यापन (Instruction) को अधिक महत्त्व का स्थान दिया है। उसके अनुसार बालक के लिये अध्यापन अथवा वातावरण ही प्रधान है। उसकी जन्मजात योग्यताएँ अथवा सामर्थ्य का कोई अस्तित्व नहीं। हरबार्ट लिखता है कि यद्यपि अशिक्षित व्यक्ति भी विचारों को ग्रहण करते हैं परन्तु उनके विचार संकुचित, सीमित, दोषयुक्त, अव्यवस्थित तथा क्रमहीन होते हैं। यहां पर हमें शिक्षक की आवश्यकता होती है। शिक्षक अध्यापन द्वारा गलत विचारों को ठीक करता है, रिक्त स्थानों की पूर्ति करता है, विचारों को सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित करता है और उन्हें क्रमबद्ध करता है। वह बालक की बहुमुखी रुचियों का विकास करता है और अच्छे-अच्छे विचारों का चक्र उत्पन्न करता है। वह बालक के मन को 'इन्द्रियमूलक क्षेत्र' (Sensory level) से उठाकर कल्पना, विचार तथा निर्णय के क्षेत्र की ओर ले जाता है। स्पष्ट है कि शिक्षा में अध्यापन का स्थान महत्त्वपूर्ण है। बिना अध्यापन के ज्ञान अव्यवस्थित तथा क्रमहीन होगा। हरबार्ट के अनुसार अध्यापन का तात्पर्य मन की रचना से है। ("To instruct the mind is to construct it.") हरबार्ट के शिष्यों का तो यहां तक कहना है कि बालक में कोई जन्मजात सामर्थ्य नहीं हुआ करती, सबकी सब क्रियाएँ बिना सीखी

हुई प्रतिक्रियाएं मात्र हैं जिन्हें सिखा-सिखा कर ट्रेन किया जा सकता है। व्यक्तियों की योग्यताओं, रुचियों और चरित्रों में जो इतने भेद दिखलाई पड़ते हैं उन सबका कारण अध्यापन की विभिन्नता तथा भेद हैं। इसलिये वे कहते हैं कि यदि दो बालकों को जन्म से एक ही शिक्षा के अन्तर्गत रखा जावे तो उनका मानस बिल्कुल एकसा होगा। मानस के स्थायी-भाव ही सब कुछ हैं और इनका निर्माण तथा परिमार्जन शिक्षा अथवा अध्यापन के द्वारा सम्भव हो सकता है।

हरबार्ट के दार्शनिक विचार

हरबार्ट की शिक्षा के स्वरूप को समझने के लिये उसके दार्शनिक विचारों का अध्ययन आवश्यक है। हरबार्ट की दर्शन में विशेष रुचि थी। उसका विश्वास था कि मनोविज्ञान और दर्शन शिक्षा के आधार हैं। जिस प्रकार पेस्टालाजी ने शिक्षा के मनोवैज्ञानीकरण (Psychologise) का प्रयत्न किया उसी प्रकार हरबार्ट ने अपने मनोविज्ञान के आधार पर 'शिक्षा में दर्शन की पुट' (Philosophise Education) देने का प्रयत्न किया। उसने शिक्षा की समस्त समस्याओं को अपने दार्शनिक विचारों के अनुसार सुलझाया। वह शिक्षा द्वारा मनुष्य का नैतिक तथा धार्मिक विकास करना चाहता था अर्थात् उसे सदाचारी बनाना चाहता था। वह भौतिक जगत के अध्ययन द्वारा व्यक्ति को अध्यात्म जगत का दर्शन कराना चाहता था। (The study of the physical world was only a means for the understanding of the spiritual world.) वह उस शिक्षा को शिक्षा नहीं मानता जिससे सदाचार और धार्मिकता की सृष्टि नहीं होती। वह कहता है—"गुण शब्द से शिक्षा का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है।" (The term 'Virtue' expresses the whole purpose of education.)* परन्तु व्यक्ति के नैतिक गुणों का विकास शिक्षा के बिना नहीं हो सकता। गुणों का विकास तभी होता है जबकि व्यक्ति शिक्षा द्वारा 'गुण' और 'अवगुण' का अन्तर समझ जाय। शिक्षा से ज्ञान मिलता है। ज्ञान से विचार उत्पन्न होते हैं। विचार से रुचियां बनती हैं जो कार्य को प्रेरणा देती हैं और कार्य चरित्र की कसौटी है। अतएव वह व्यक्ति में शिक्षा द्वारा अच्छे विचार उत्पन्न करना चाहता है जिससे उसमें अच्छे कार्य करने की इच्छा का विकास हो सके। अच्छे कार्यों से ही व्यक्ति का नैतिक विकास सम्भव है। इस प्रकार क्रियाशीलता से व्यक्ति में नैतिकता का विकास होता है।

आन्तरिक स्वतन्त्रता— कौनसा कार्य अच्छा है और कौनसा बुरा? इसका निर्णय हमारी एक प्रकार की शक्ति करती है। इस शक्ति को हरबार्ट ने 'आन्तरिक स्वतन्त्रता' (Inner Freedom) की संज्ञा दी है। इसी 'आन्तरिक स्वतन्त्रता' (Inner Freedom) को हम 'गुण' कह सकते हैं। हरबार्ट का कथन है कि व्यक्ति

*The Doctrine of Great Educators, Chapter X, page 207.

में 'आन्तरिक स्वतन्त्रता' तभी उत्पन्न हो सकती है जबकि उसमें चार बातें अर्थात् 'इच्छाशक्ति की श्रेष्ठता' (Efficiency of will), तथा 'सद्भावना' (Goodwill) 'समवृत्ति' (Equity) तथा 'न्यायप्रियता' (Justice) विद्यमान हों। यदि बालक को प्रतिदिन अच्छे-अच्छे कार्य करने का अभ्यास कराया जाय तो वह उक्त बातों को प्राप्त कर सकता है। कार्य तभी अच्छा समझा जाता है जब उस कार्य का विचार हमारे अच्छे बुरे विचारों से सामंजस्यपूर्ण हो। इसलिये बालकों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे भले और बुरे के भेद पहचानने में समर्थ हो जायें क्योंकि इसी ज्ञान के आधार पर गुणों का विकास होता है। दूसरे शब्दों में गुण को उत्पन्न करना ही शिक्षा का प्रधान उद्देश्य कहा जा सकता है।

एक दूसरे स्थान पर हरबार्ट ने 'सौन्दर्य-भावना' को 'नैतिक भावना' से श्रेष्ठ माना है और नैतिकता के विकास के लिये 'सौन्दर्य-भावना' का विकास आवश्यक समझा है। उसका कथन है, "विश्व का सौन्दर्य-बोधक प्रदर्शन ही शिक्षा का आदर्श है।" परन्तु वह 'नीति-शास्त्र' तथा 'सौन्दर्य-शास्त्र' को सब कुछ नहीं मानता। उसका विश्वास था कि केवल इनसे शिक्षा का उचित व उत्तम उद्देश्य निर्धारित नहीं किया जा सकता। अतः वह 'सत्य' तथा 'धर्मपरायणता' के भावों पर भी बल देता है। इस प्रकार हरबार्ट के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य नैतिकता, सौन्दर्य, सत्य तथा धर्म के भावों का विकास करना है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हरबार्ट आचरण-शास्त्र को शिक्षा का आधार मानता है। इसके अतिरिक्त यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि वह मनोविज्ञान को शिक्षा का सबसे उत्तम साधन समझता है। इस प्रकार हरबार्ट ने शिक्षा में दर्शन तथा मनोविज्ञान दोनों को अत्यधिक महत्त्व दिया है। दूसरे शब्दों में उसने मनोविज्ञान तथा दर्शन के आधार पर ही अपने शिक्षा-भवन का निर्माण किया है।

हरबार्ट के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य

हरबार्ट के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-गठन है। उसके कथनानुसार शिक्षा का उद्देश्य है, "नैतिक और धार्मिक आचरण की व्यवस्था।" "जिस साधन से हमारी ऊँची प्रवृत्तियाँ नीची प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करती हैं, उसी का नाम शिक्षा है।" "सदाचार की विचारधारा में शिक्षा सन्निहित है।" (Education consists in the conquest of lower impulses by the higher altogether. Education may be summed up in the concept of morality.) शिक्षा की सफलता किसी बाहरी लक्ष्य की प्राप्ति से नहीं मापी जानी चाहिये वरन् उन लोगों के चरित्र और स्वभाव से ही मापी जानी चाहिए जो शिक्षित हुए हैं। परन्तु शिक्षा का यह लक्ष्य न तो रूसो-कथित बालक की योग्यताओं के स्वाभाविक विकास से और न पेस्टालाजी-कथित बालक की समस्त शक्तियों के

विरोध-हीन विकास द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। हरबार्ट 'सामर्थ्य मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) को स्वीकार ही नहीं करता। उसका विश्वास है कि उ उद्देश्य शिक्षा द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये व शिक्षा द्वारा रुचियों की वृद्धि, विकास तथा प्रदीप पर बल देता है। रुचियों क विकास ज्ञान की वृद्धि से होता है इसलिये हरबार्ट ज्ञान की प्राप्ति तथा अध्यापन का पर बल देता है। हरबार्ट का कथन है कि मनुष्य का आचरण सुधारने के लि उसकी रुचि को कई विषयों में लगाना चाहिए। इसलिये वह शिक्षा द्वारा व्यक्ति 'बहुमुखी रुचि' (Many-sided Interest) उत्पन्न करना चाहता है। ज्ञान विचारों में वृद्धि होती है और विचारों से रुचियों में। जैसी हमारी रुचियाँ होती वैसे ही हमारे कार्य होते हैं। यदि हमारी रुचियां शुद्ध हैं तो हमारे कार्य भी शुद्ध होंगे। अच्छी रुचियों के आधार पर ही व्यक्ति ऐसे कार्य करता है जिनसे उसक तथा समाज का हित होता है। इस प्रकार ज्ञान से नैतिकता का विकास होता है नैतिकता के विकास से चरित्र का निर्माण होता है। सुशिक्षित तथा चरित्रवा व्यक्तियों में आत्म-विश्वास रहता है और वे प्रत्येक प्रकार की परिस्थितियों क योग्यता से सामना करते हैं। ऐसे व्यक्ति समय की मांग के अनुसार उचित समा का निर्माण करते हैं। वे समाज में प्रचलित ऐसी रूढ़ियों और प्रथाओं में परिवर्त कर लेते हैं जो सामाजिक जीवन के लिये घातक सिद्ध हो रही हैं और जो राष्ट्री जीवन को निर्बल बनाये हैं। चरित्रवान् व्यक्तियों में अपने आप सोचने की शक्ति हो है और उनमें अपने निर्णय के अनुसार कार्य करने की क्षमता होती है। अतएव शि द्वारा बालकों में अच्छे विचारों का विकास कर उनमें नैतिक और धार्मिक भाव ला चाहिये और उनके चरित्र का निर्माण करना चाहिए। यहां पर हमें हरबार्ट तथ ड्यूवी के विचारों में अन्तर दिखलाई पड़ता है। ड्यूवी रुचि को ज्ञान का आधा मानता है और हरबार्ट ज्ञान को रुचि का।

हरबार्ट ने शिक्षा का अन्तिम आदर्श चरित्र-गठन बताया है, किन्तु उस समीपवर्ती आदर्श मनुष्यों की रुचियों की वृद्धि व विकास करना बताया है। इसलि हरबार्ट चाहता है कि निर्देश अथवा आदेश (Instruction) द्वारा बालकों में ऐ विचार उत्पन्न किये जायें जो 'बहुमुखी रुचि' (Many-sided Interest) के विक में सहायक हों। इस प्रकार उसने अध्यापन द्वारा 'बहुमुखी रुचियों' के विकास आवश्यकता पर बल दिया है। उसने रुचियों को तीन भागों में बांटा है जो इ प्रकार हैं:—

(१) ज्ञान सम्बन्धी रुचियां।
(२) क्रिया सम्बन्धी रुचियां।
(३) धर्म सम्बन्धी रुचियां।

इन रुचियों का समुचित विकास चरित्र निर्माण के लिये नितान्त आवश्यक है। अतएव शिक्षा द्वारा मनुष्य की रुचियों की वृद्धि तथा विकास होना चाहिए।

हरबार्ट के अनुसार शिक्षा का पाठ्य-क्रम

हरबार्ट के अनुसार बालकों को अनेक प्रकार के विषयों का ज्ञान कराना चाहिए जिससे सभी प्रकार की रुचियों में सामञ्जस्यपूर्ण वृद्धि हो सके। यदि थोड़े से विषयों का अध्ययन कराया जायगा तो बालक की रुचियाँ सीमित होंगी। रुचियों के अभाव में नैतिक विकास सम्भव नहीं। इसलिये 'बहुमुखी रुचि' (Many-sided Interest) की दृष्टि से बालकों को अधिक से अधिक विषयों का ज्ञान कराना चाहिए। मनुष्य की रुचियों के दो स्रोत हैं — अनुभव और सामाजिक जीवन। अतः पाठ्य-क्रम में उन सभी विषयों को स्थान देना चाहिए जो उक्त स्रोतों से सम्बन्धित हों। ऐसे विषयों को हरबार्ट ने दो भागों में बाँटा है — १. वैज्ञानिक और २. ऐतिहासिक। पाठ्य-क्रम के वैज्ञानिक भाग में उसने गणित, प्राकृतिक विज्ञान और उद्योग-धन्धों को तथा ऐतिहासिक भाग में भाषा, साहित्य और इतिहास को रखा है। इस प्रकार उक्त विषयों को उसने शिक्षा के पाठ्य-क्रम में स्थान दिया। परन्तु उसने यह स्पष्ट कर दिया कि पाठ्य-क्रम में उन्हीं विषयों को प्रधान स्थान देना चाहिए जो नैतिक और धार्मिक विचारों से ओत-प्रोत हों। इस मत के अनुसार उसने इतिहास और साहित्य को बालक की शिक्षा के पाठ्य-क्रम में प्रधान स्थान दिया है। यहाँ पर हमें पेस्टालॉजी और हरबार्ट के विचारों में अन्तर दिखाई पड़ता है। जहाँ पेस्टालॉजी ने गणित, प्राकृतिक विज्ञान, चित्रकला, भूगोल, संगीत आदि विषयों को शिक्षा के पाठ्य-क्रम में मुख्य स्थान दिया था वहाँ हरबार्ट ने शिक्षा के पाठ्य-क्रम में इतिहास, भाषा और साहित्य को प्रधानता दी है। उसके कथनानुसार बालकों के चरित्र को सुन्दर बनाने के लिए उनकी रुचि इतिहास व साहित्य में बढ़ाना परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त हरबार्ट ने इस बात पर भी बल दिया कि शिक्षा के समस्त विषय इस प्रकार प्रस्तुत किये जायें कि वे एक दूसरे से सम्बन्धित हो जायें। इस प्रकार हरबार्ट ने शिक्षा में समन्वय की नींव डाली।

हरबार्ट का विचार-चक्र (*Circle of Thought*) — उक्त विषयों का अध्ययन व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध को समझने तथा शिक्षा के नैतिक उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये आवश्यक है। ऊपर कहा जा चुका है कि ज्ञान के दो स्रोत हैं — प्रकृति और समाज। ज्ञान से विचार बनते हैं और विचारानुकूल हम कार्य करते हैं। जैसे विचार होते हैं वैसे ही हम कार्य करते हैं। इस प्रकार ज्ञान, विचार तथा कार्य का एक चक्र है जिनके सम्मिलित प्रभाव से चरित्र बनता है। इस प्रकार चरित्र का आरम्भ ज्ञान में होता है और अन्त क्रिया में होता है। इस चक्र को

हरबार्ट का विचार-चक्र* (Circle of Thought) कहते हैं। यह चक्र शिक्षा के विषयों के निर्वाचन पर प्रकाश डालता है। इसकी रूप-रेखा निम्नांकित है:—

	ज्ञान	विचार	कार्य
प्रकृति (Nature) > → समाज (Society)	(Knowledge) →	(Ideas) →	(Activities)
	↓	↓	↓
		चरित्र (Character)	
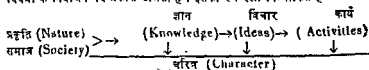
सांस्कृतिक युग सिद्धान्त
(Culture Epoch Theory)

हरबार्ट ने बालकों को सर्व प्रथम 'ओडेसी' (Odyssey) पढ़ाने का सुझाव रखा। उसका विचार था कि ओडेसी सभी बालकों को प्रभावित करेगी क्योंकि उसमें योरोपीय जाति के यौवन-काल की क्रियाओं का वर्णन है। इसके पश्चात् उन्हें यूनानी काव्यों को पढ़ाना चाहिए जिससे वे वर्तमान मानव रुचियों की जटिलता का ज्ञान प्राप्त कर सकें। इस प्रकार हरबार्ट ने जाति और व्यक्ति के विकास में समानता की दृष्टि से विषयों का चुनाव किया। उसके शिष्यों ने इस 'जाति और व्यक्ति के विकास में समानता' के सिद्धान्त को आगे बढ़ाया। जिलर महोदय ने इस सिद्धान्त को 'सांस्कृतिक युग सिद्धान्त' (Culture Epoch Theory) का नाम दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति और जाति के विकास में समानता होती है। इसका अर्थ यह है कि जिन अवस्थाओं से होकर मानव जाति का सांस्कृतिक विकास हुआ है व्यक्ति भी अपने जीवन में उन्हीं अवस्थाओं की पुनरावृत्ति करता है अर्थात् उन्हीं अवस्थाओं में होकर अपना विकास करता है। दूसरे शब्दों में बालक अपनी बाल्यावस्था के कुछ वर्षों में अपने पूर्वजों की उन सब महत्वपूर्ण क्रियाओं को दोहराता है जिन्होंने आदिकाल से लेकर अब तक मानव जाति के सांस्कृतिक विकास में योग प्रदान किया है। इसलिये बालक की शिक्षा की सामग्री जाति के सांस्कृतिक विकास की उस अवस्था से लेनी चाहिए जिस अवस्था में होकर बालक निकल रहा हो। इसका अर्थ यह है कि यदि बालक छोटी अवस्था में हो तो उसे आदिम मानव के जीवन की कहानी पढ़ने को देनी चाहिए और यदि वह युवावस्था में हो तो उसे जाति के यौवन काल का इतिहास पढ़ने को देना चाहिए। इस दृष्टि से बालक की शिक्षा के पाठ्यक्रम के विषयों का चुनाव जाति के सांस्कृतिक विकास के युगों पर निर्भर होना चाहिए।

हरबार्ट की शिक्षा-पद्धति

हरबार्ट की शिक्षण पद्धति में चार बातें प्रमुख हैं। वे हैं—'रुचि' (Interest), 'पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष' (Apperception) 'सामान्य विधि' (General Method),

* History of Education by Duggan, page 248.

और 'समन्वय' (Correlation)। इन पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि यही उसकी शिक्षण पद्धति के आधार हैं।

(१) रुचि (Interest) — रुचि मस्तिष्क की एक क्रिया है जो शिक्षण द्वारा उत्तेजित होती है। किसी विषय में रुचि उत्पन्न होने पर बालक उस विषय के तथ्यों को सरलता से ग्रहण कर लेता है। बिना रुचि के विषय को समझना कठिन है। अतः शिक्षण-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जो बालक की रुचि विषय में उत्पन्न करे। इस प्रकार शिक्षकों को सदा बालकों की रुचि का ध्यान रखना आवश्यक है।

(२) पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष (Apperception)—इस सिद्धान्त के अनुसार यह निश्चित है कि बालक कोई नई बात तब तक नहीं ग्रहण कर सकता जब तक कि उसका सम्बन्ध उसके पूर्वज्ञान से न हो। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बालक अपने पूर्व-विचारों के आधार पर नये विचार ग्रहण करता है। अतः शिक्षण-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जो नए पाठ के प्रधान विचारों तथा बालक के पुराने विचारों में सम्बन्ध स्थापित करे। सम्बन्ध स्थापित होने पर नए पाठ के ज्ञान को बालक बड़ी सरलता से ग्रहण कर लेता है।

(३) सामान्य विधि (General method) - पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष के सिद्धान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि मस्तिष्क एक विशेष प्रकार से नये विचारों को स्वीकार करता है। अतएव हम किसी भी विषय को एक सामान्य विधि के अनुसार प्रस्तुत कर सकते हैं। हरबार्ट ने इस सामान्य विधि को चार सोपानों में विभाजित किया जो इस प्रकार थे:— 'स्पष्टता' (Clearness), 'सहयोग' (Association), 'व्यवस्था' (System), और 'व्यावहारिक प्रयोग' (Method)। 'स्पष्टता' का तात्पर्य पाठ्य-विषय को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने से है। 'सहयोग' का अर्थ नये विचारों का पुराने विचारों से सम्बन्ध स्थापित करने से है और 'व्यावहारिक प्रयोग' का अर्थ अर्जित ज्ञान को प्रयोग में लाने से है। इनको हरबार्ट के 'नियमित पद' (Formal Steps) कहते हैं। कुछ समय पश्चात् हरबार्ट के शिष्यों ने इन सोपानों में सुधार करके पांच सोपान निर्धारित किये जो पंच-पद-प्रणाली (Five Formal Steps) के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये पद इस प्रकार हैं :—

(अ) प्रस्तावना (Preparation)।
(ब) विषय-प्रवेश (Presentation)।
(स) तुलना व सम्बन्ध या स्पष्टीकरण (Comparison and Association)।
(द) नियमीकरण (Generalisation)।
(य) प्रयोग (Application)।

(म) प्रस्तावना (Preparation)— प्रस्तावना का तात्पर्य बालक को नया पाठ ग्रहण करने के लिये तैयार करने से है। बालक का मस्तिष्क कई प्रकार से नये पाठ को ग्रहण करने के लिये तैयार किया जा सकता है। बालक का पूर्व-ज्ञान इस तैयारी का आधार माना गया है। अतएव पूर्व पाठ पर प्रश्न पूछकर उसे नये पाठ से जोड़ा जा सकता है अथवा नये पाठ के विषय की व्याख्या द्वारा बालक की जिज्ञासा को उत्तेजित करके उसकी रुचि नये पाठ में लगाई जा सकती है या कहानी द्वारा उसे सम्बद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार शिक्षक प्रस्तावना द्वारा बालक के पूर्व-ज्ञान का सहारा लेकर उसकी रुचि तथा एकाग्रता को नये पाठ में उत्पन्न करके उसे नवीन ज्ञान ग्रहण कराने में सफल हो जाता है। प्रस्तावना से नये पाठ का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है और वह यह जान जाता है कि वह क्या सीखने वाला है। परन्तु ध्यान रहे कि प्रस्तावना छोटी होनी चाहिए और इसमें आवश्यकता से अधिक समय नहीं लगना चाहिए।

(ब) विषय-प्रवेश (Presentation)–प्रस्तावना के पश्चात् मूलपाठ का शिक्षण प्रारम्भ होता है। सुविधा, बालकतोष तथा पाठ्य-वस्तु का ध्यान रखकर मूल-पाठ को कुछ भागों में विभाजित कर लिया जाता है और तत्पश्चात् शिक्षक क्रमानुसार इन भागों को बालकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। मूल-पाठ के शिक्षण में अध्यापक को चाहिए कि वह बालक के पूर्व-ज्ञान को प्रश्नों द्वारा उत्तेजित करता रहे जिससे मूल पाठ का उसके पूर्व-ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित हो जाय और वह मूल-पाठ को भलीभांति समझ सके। मूल-पाठ का प्रस्तुतीकरण बड़ी कुशलता तथा सावधानी से होना चाहिये जिससे बालक सरलतापूर्वक अपने पूर्व अनुभवों का नये अनुभवों से सम्बन्ध स्थापित कर सके तथा तुलना और निरीक्षण द्वारा नवीन अनुभवों को भली प्रकार ग्रहण कर सके। जहां तक हो सके बालक को कम बताना चाहिए और उसकी मानसिक क्रिया को उत्तेजित करके उसे स्वयं सीखने के लिये अवसर देना चाहिए।

(स) तुलना तथा सम्बन्ध या स्पष्टीकरण (Comparison and Association)—मूल पाठ के विषय को स्पष्ट करने के लिये शिक्षक को चाहिए कि वह बालक के समक्ष चुने हुए उदाहरण तथा तथ्य उपस्थित करे और उसे नवीन पाठ के तथ्यों की पूर्वार्जित तथ्यों से तुलना करने का अवसर दे। उदाहरणों, प्रयोगों तथा तथ्यों की समानता-असमानता अथवा तुलना द्वारा बालक को नवीन ज्ञान का बोध हो जाता है। इस प्रकार मूल पाठ के विषय को समझ कर बालक किसी निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयास करता है।

(द) नियमीकरण (Generalisation)— मूल पाठ के ज्ञान को पूर्ण रूप से ग्रहण करने के पश्चात् बालक किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचता है अथवा कोई परिणाम निकालता है। इस परिणाम की सहायता से वह नियम निकालता है। यदि बालक

पाठ को भली प्रकार नहीं समझ पाता है तो उसे नियम निकालने में कठिनाई होती है। ऐसी दशा में मूल पाठ को पुनः पढ़ाना चाहिए। यह भी सम्भव है कि बालक के नियम अपूर्ण तथा गलत हों। ऐसी दशा मे शिक्षक को उन्हें पूर्ण और शुद्ध कर देना चाहिए। बालक को स्वयं नियम निर्धारण करने पर बड़ी प्रसन्नता होती है और वह नियम को भली प्रकार समझ लेता है।

(ब) प्रयोग (Application)— नवार्जित ज्ञान को स्थायी बनाने का एकमात्र उपाय उसका प्रयोग है। शिक्षक को चाहिए कि वह बालक को नवीन ज्ञान प्रयोग में लाने का तथा सीखे हुए नवीन नियम को नई परिस्थितियों में लागू करने का अवसर दे। इससे नवीन ज्ञान का स्थायित्व होता है और नियमों की सत्यता सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार हरबार्ट ने उपयुक्त सोपानों द्वारा हमारा ध्यान अध्यापन में क्रमानुसार पाठ प्रस्तुत करने की आवश्यकता की ओर खींचा है। उसका विश्वास था कि यदि अध्यापन कार्य उपर्युक्त पदों के अनुसार किया जाय तो बालक में विभिन्न रुचियों का विकास होगा। ये पद अध्यापन के अत्यन्त ही तार्किक तथा मनोवैज्ञानिक पद माने जाते हैं परन्तु उपर्युक्त पद सर्वथा दोषरहित नहीं हैं। इनकी सहायता से केवल बौद्धिक पाठ ही पढ़ाये जा सकते हैं। ये पद उन पाठों में लागू नहीं हो सकते जिन का उद्देश्य कौशल-प्राप्ति अथवा कलात्मक शक्तियों का विकास करना है। इसके अतिरिक्त सीखने के क्रम में तुलना का कोई पृथक् स्थान नहीं होना चाहिए। तुलना का क्रम तो पाठ के विकास के साथ-साथ चलता है। 'ग्लोवर' महोदय ने अपनी पुस्तक "न्यू टीचिंग फार न्यू एज" (New Teaching for New Age) में हरबार्ट के पदों की कड़ी आलोचना की है। उनका कहना है कि इन पदों के कारण पाठ एक ही स्थान पर जम जाते हैं। शिक्षक और बालक की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है और बच्चे भी निष्क्रिय हो जाते हैं। इस विधि में बच्चों के सीखने पर जोर न देकर अध्यापन पर जोर दिया जाता है। लेकिन इन त्रुटियों के होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हरबार्ट के ये सोपान हमारे बड़े काम की वस्तु हैं। इनमें उलट-फेर करके हम इनको और भी अधिक उपयोगी बना सकते हैं।

(४) समन्वय (Correlation)— यद्यपि बहुमुखी रुचि (Many-Sided Interest) उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि बालकों को विभिन्न विषयों का अध्ययन कराया जाय परन्तु हरबार्ट के मतानुसार यह भी आवश्यक है कि अध्यापक पाठ्य-क्रम के समस्त विषयों को इस प्रकार उपस्थित करे कि बालक को सब एक ही विषय जान पड़े। दूसरे शब्दों में पाठ्य-क्रम के सभी विषयों में परस्पर सम्बन्ध होना चाहिये जिससे विभिन्न रुचियों मे सामञ्जस्य स्थापित हो सके। यदि बालक की रुचि बहुमुखी तथा समुचित है तो उसका दृष्टिकोण भी विशाल तथा संतुलित

होगा। इस प्रकार हरबार्ट ने शिक्षा में समन्वय की नींव डाली। ज्ञान को एक क्रमबद्ध रूप में देने के लिये समन्वय अत्यधिक आवश्यक है। हरबार्ट का विचार था कि बिना इसके व्यक्ति का एकांगी विकास होता है। समन्वय से बालक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सकता है। इसके अतिरिक्त मन एक इकाई है और वह सम्पूर्ण रूप में कार्य करता है इसलिये विषयों को अब पृथक-पृथक रूप में पढाने की आवश्यकता नहीं है। अस्तु सभी विषयों को एक सम्बन्धित अथवा समन्वित रूप में पढ़ाना चाहिए जिससे सम्पूर्ण मन का विकास हो सके। समन्वय के सिद्धान्त को हरबार्ट के शिष्यों ने और भी आगे बढाया और उसे 'केन्द्रीकरण' (Concentration) के नाम से उन्नत किया जिसका आशय है कि शिक्षा के विभिन्न विषयों का एक केन्द्र होना चाहिए। इतिहास और साहित्य ऐसे विषय हैं जो केन्द्र बनाये जा सकते हैं।

हरबार्ट के अनुशासन सम्बन्धी विचार

हरबार्ट ने अनुशासन के विषय में भी अपने मौलिक तथा वैज्ञानिक विचार प्रस्तुत किये हैं। वह कहता है कि जब तक बालक का व्यवहार नैतिक न हो जावे तब तक उसे शिक्षक की इच्छा की अधीनता में रक्खा जाना आवश्यक है। इस प्रकार वह अनुशासन के पक्ष में है और चरित्र-निर्माण के हेतु बालक पर नियन्त्रण रखना आवश्यक समझता है। दूसरे शब्दों में बालक को वह ऐसी स्वतन्त्रता नहीं देना चाहता जो उसके नैतिक विकास में बाधक हो। अनुशासन स्थापना के हेतु वह दण्ड और पुरस्कार आदि साधनों का प्रयोग आवश्यक समझता है। परन्तु वह कठोर अनुशासन का विरोधी है। कठोर अनुशासन से बालक की कोमल भावनाओं पर आघात होता है।

हरबार्ट अनुशासन और शिक्षा (ट्रेनिंग) के बीच अन्तर बताता है तथा ट्रेनिंग को अधिक महत्त्व देता है। अनुशासन का उद्देश्य तात्कालिक है, किन्तु ट्रेनिंग का भविष्य से। अनुशासन से बालक का वर्तमान व्यवहार सुधारा जाता है और ट्रेनिंग से उसका समस्त जीवन। अनुशासन का उद्देश्य कक्षा में पूर्ण शान्ति स्थापित करना है ताकि अध्यापन कार्य सरलता से हो सके। ट्रेनिंग का उद्देश्य बालकों को सदाचारी बनाना है, उनमें अच्छे संस्कार डालना है अर्थात् उनके चरित्र का निर्माण करना है। अनुशासन की आवश्यकता हर समय नहीं होती, किन्तु ट्रेनिंग कभी बन्द नहीं होती। अनुशासन का तात्पर्य बाह्य बन्धन से है। ट्रेनिंग से बालकों में संयम, आत्म-नियंत्रण तथा आत्मविश्वास उत्पन्न होता है। अनुशासन नकारात्मक है और शिक्षा (ट्रेनिंग) सकारात्मक। अतः बालकों पर आवश्यकता से अधिक नियंत्रण रखना ठीक नहीं। बालक के साथ जीवन भर तो शिक्षक रहेगा नहीं, वह अवश्यमेव स्वतन्त्र होने वाला है अतः जब तक पाठशाला में उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन की ट्रेनिंग के अवसर नहीं दिये जायेंगे बालक स्वतन्त्रता का सदुपयोग सीख ही न पायेंगे। इसलिए बालकों को

स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अवसर मिलना चाहिए जिससे वे स्वतन्त्रता का सदुपयोग करना सीख सकें और अपने उत्तरदायित्व को निभा सकें। (Education would be tyranny if it did not lead to freedom.) इससे उनमें सहयोग, सहानुभूति आदि गुण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अनुशासन का उपयोग शिक्षा के उद्देश्य को पूरा करने के लिए होना चाहिए।

शिक्षा और निर्देश की व्याख्या
(Education and Instruction)

हरबार्ट का विचार था कि निर्देश (Instruction) द्वारा व्यक्ति में ऐसे विचार उत्पन्न किये जाने चाहिएं जो 'बहुमुखी रुचि' (*Many-sided Interest*) के विकास में सहायक हों क्योंकि शिक्षा इन्हीं के आधार पर चरित्र का निर्माण करती है। इस प्रकार वह निर्देश पर बल देता है। यहाँ पर हमें शिक्षा और 'निर्देश' के अन्तर को समझ लेना चाहिए। हरबार्ट के अनुसार निर्देश साधन है और शिक्षा साध्य; "बिना शिक्षा के निर्देश, साधन बिना साध्य है और बिना निर्देश के शिक्षा साध्य बिना साधन के समान है।" (*Instruction and Education are distinguished* as means and end; instruction without training would be means without end, training without instruction end without means.)* इस प्रकार बिना निर्देश के शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। चरित्र-विकास के लिये बालक की अन्तर्भावनाओं का पता लगाना आवश्यक है। इन भावनाओं का पता अध्यापन द्वारा ही लगाया जा सकता है। अध्यापन द्वारा बालकों को नए तथा अच्छे-अच्छे विचार दिये जाते हैं। इन विचारों की प्रतिक्रिया के रूप में हमें उनकी भावनाओं का पता चलता है। अध्यापन द्वारा ही उनके विचारों का *संगठन किया जाता है तथा उन्हें तार्किक क्रम दिया जाता है।* अध्यापन द्वारा ही बालक में 'बहुमुखी रुचियाँ' उत्पन्न की जाती हैं जिससे कि वह उत्तम कार्य करे। हरबार्ट के कथनानुसार, 'अध्यापन विचारों का संगठन करता है और शिक्षा चरित्र को बनाती है। बिना पहले के दूसरे का अस्तित्व नहीं। इसी में मेरे शिक्षा-शास्त्र का सार निहित है।" "Instruction will form the circle of thought, and *Education the character. The last is nothing without the first.* Herein is contained the whole sum of my pedagogy." इसलिये शिक्षा में अध्यापन अथवा आदेश का अत्यधिक महत्त्व है। इस दृष्टि से अध्यापन विधि को निश्चित कर लेना आवश्यक है। परन्तु ध्यान रहे कि हरबार्ट के अनुसार निर्देशन का तात्पर्य केवल सूचनायें देने से नहीं वरन् मन की रचना से है।

* Doctrines of the Great Educators, page 224.

हरबार्ट का प्रभाव

हरबार्ट तथा उसके अनुयायियों का शिक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसके फल-स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा की बड़ी उन्नति हुई। जर्मनी के विद्यालयों में सब प्रकार के विषयों की शिक्षा दी जाने लगी। प्रत्येक देश के हितैषियों ने जनता को शिक्षित करना अपना परम कर्त्तव्य मान लिया। समाज-सुधार तथा राष्ट्र-उत्थान का सर्वोत्तम साधन शिक्षा माना गया। हरबार्ट की शिक्षा-प्रणाली का प्रचार धीरे-धीरे संसार भर में हो गया। जहाँ-जहाँ उसके शिक्षा सिद्धान्तों को अपनाया गया वहाँ-वहाँ निम्नलिखित बातों पर विशेष बल दिया गया † :—

(१) नैतिक विकास की दृष्टि से स्कूल के आदेशों (Instructions) को महत्त्वपूर्ण माना गया।

(२) उक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये बालक की शक्तियों की अपेक्षा उसके वातावरण पर अधिक ध्यान दिया गया।

(३) मानसिक प्रक्रिया के आधार पर शिक्षण-पद्धति की रचना की गई।

(४) ट्रेण्ड शिक्षकों द्वारा शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया और शिक्षकों के लिए ट्रेनिंग की व्यवस्था की गई।

हरबार्ट के अनुयायियों ने उसके काम को आगे बढ़ाया और शिक्षा सम्बन्धी सभी सन्देहों को दूर किया। उसकी शिक्षा-प्रणाली को अमेरीका में भी अपनाया गया और अनेक अमरीकी शिक्षक उसकी शिक्षा-प्रणाली को सीखने जर्मनी आये। शिक्षा-क्षेत्र में उसकी शिक्षा-प्रणाली को अभी तक बहुत महत्त्व दिया जाता है।

प्रश्न

(१) हरबार्ट को शिक्षा-मनोविज्ञान का जन्मदाता क्यों कहा जाता है?

(२) हरबार्ट के अनुसार शिक्षा का क्या उद्देश्य है और उसकी पूर्ति किस प्रकार हो सकती है?

(३) हरबार्ट की आधुनिक शिक्षा के हक में क्या शिक्षात्मक देन है?

(४) हरबार्ट के रुचि (Interest) तथा पूर्वानुवर्ती- प्रत्यक्षज्ञान (Apperception) के सिद्धान्तों की आलोचना कीजिए और यह बतलाइये की इनका प्रयोग कक्षा-कार्य में किस प्रकार किया जा सकता है।

(५) हरबार्ट के पाँच-पद कौन-कौन से हैं? उनके कृत्यों तथा गुण व दोषों विवेचना कीजिए।

† Text-book in the History of E...

दसवाँ अध्याय

६. फ्रोबेल (Froebel)

(१७८२–१८५२)

जीवन तथा कार्य—फ्रोबेल का जन्म जर्मनी के ओबरवेसबाख़ (Oberweissback) नामक गाँव में हुआ था। उसके शैशव-काल में ही उसकी माता की मृत्यु हो गई। उसके पिता पादरी थे और अपने काम में इतने व्यस्त रहते थे कि फ्रोबेल की ओर उनका तनिक भी ध्यान न था। उसकी विमाता भी उसकी उपेक्षा करती थी। इस प्रकार उसे न अपने पिता का ही प्यार प्राप्त हुआ और न अपनी विमाता का। घर में उसकी उपेक्षा की जाती थी। परन्तु घर का वातावरण धार्मिक था। इसका फ्रोबेल पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। वह अपना मन बहलाने के लिए जंगल में चला जाता था और वन में घूमा करता था। अतएव उसे प्रकृति से प्रेम हो गया और वह अपने तथा प्रकृति के बीच एक सम्बन्ध का अनुभव करने लगा। यही अनुभव आगे चलकर उसके शिक्षा-दर्शन (Philosophy of Education) का आधार बना।

दस वर्ष की अवस्था में वह अपने मामा के पास चला गया। मामा ने उसे एक स्कूल में भेज दिया। परन्तु स्कूल के कार्य में उसकी रुचि न थी। स्कूल में वह विचार-मग्न रहता था, अतः मूर्ख समझा जाता था। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में उसे वन-रक्षक (Forester) के यहाँ काम सीखने के लिये भेज दिया गया। वहाँ उसने कुछ भी न सीखा, किन्तु प्रकृति के साथ घनिष्ठता अवश्य स्थापित कर ली। फलतः प्रकृति के प्रति उसका प्रेम बढ़ गया और उसने प्राकृतिक विज्ञान का अध्ययन करने के लिये जेना विश्वविद्यालय में नाम लिखा लिया। फ्रोबेल की प्रकृति प्रारम्भ से ही धार्मिक थी। वह संसार की सभी वस्तुओं में एक प्रकार की 'एकता' अनुभव करता था। जेना विश्वविद्यालय का वातावरण आदर्शवादी दर्शन तथा प्रगतिवादी विज्ञान से परिपूर्ण था। इस वातावरण का फ्रोबेल पर गहरा प्रभाव पड़ा और उसकी अभिरुचि इन बातों में और भी बढ़ गई। परन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण उसने पढ़ना छोड़ दिया और शिल्प विद्या सीखने फ्रैंकफर्ट चला गया। परन्तु शिल्प विद्या न सीख कर वह फ्रैंकफर्ट के एक स्कूल में अध्यापन कार्य करने लगा। वह सन् १८०८ में पेस्टालॉजी की शिक्षा-पद्धति का अध्ययन करने यवरडन (Yverdon) गया। वहाँ उसे शिक्षा कार्य से अनुराग हो गया। दो वर्ष शिक्षा कार्य करने के पश्चात् उसने गॉटिंगेन विश्वविद्यालय में फिर से अध्ययन शुरू किया। सन् १८१३ में वह सेना में भर्ती हो गया किन्तु उसकी रुचि शिक्षा कार्य में कम न हुई।

सन् १८१६ में उसने कीलहाऊ (Keilhau) में 'यूनिवर्सल जर्मन एजुकेशनल

इन्स्टीट्यूट' (Universal German Educational Institute) नामक संस्था स्थापित की। इस स्कूल में केवल पाँच बच्चे थे जो उसके सम्बन्धी थे। यहां उसने खेल द्वारा शिक्षा देने का प्रबन्ध किया। कुछ दिनों बाद आर्थिक कठिनाइयों के कारण उसे यह स्कूल बन्द करना पड़ा। तत्पश्चात् उसने कई स्कूलों में अध्यापन कार्य किया। 'मनुष्य की शिक्षा' (Education of Man) नामक ग्रन्थ लिखा और शिक्षा सम्बन्धी विचारों को क्रमबद्ध किया। अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिये उसने १८३७ ई० में ब्लैकेनबर्ग (Blankenburg) में स्कूल खोला। यहाँ पर उसने छोटे बच्चों की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया और अपने स्कूल का नाम 'किन्डर-गार्टन' (Kinder Garten) रक्खा। किन्डर-गार्टन जर्मन भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'बच्चों का बाग'। उसने अपने स्कूल में शिक्षकों को अध्यापन-कला भी सिखाना प्रारम्भ किया। अपने शिक्षा-सिद्धान्तों का प्रचार अपने अध्यापन कार्य तथा पुस्तकों के प्रकाशन द्वारा किया। फलतः कई स्थानों पर किन्डर-गार्टन स्कूलों की स्थापना हुई। सन् १८५१ में 'प्रशन सरकार' (Government of Prussia) ने फ्रोबेल को क्रान्तिकारी समझ कर सब किन्डर-गार्टन स्कूलों को बन्द करा दिया। इससे फ्रोबेल को बड़ा दुःख हुआ और एक वर्ष के भीतर ही वह चल बसा।

फ्रोबेल के दार्शनिक विचार

फ्रोबेल के शिक्षा-सिद्धान्तों के आधार उसके दार्शनिक विचार हैं, इसलिये सर्वप्रथम उसकी दार्शनिक विचारधारा का अध्ययन आवश्यक है। फ्रोबेल आध्यात्मिक आदर्शवादी था। उस पर 'काण्ट' (Kant), 'हीगेल' (Hegel) और फिक्टे (Fichte) आदि दार्शनिकों के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा था। ये दार्शनिक सभी वस्तुओं में ईश्वर की सत्ता का अनुभव करते थे। वे ईश्वर को जीव तथा प्रकृति का उद्गम स्थान मानते थे। फ्रोबेल ने भी ईश्वर को ही सबका आदि-स्रोत समझा। उसने बतलाया कि संसार की समस्त वस्तुओं की भिन्नता में एक 'एकता' (Unity) है। विश्व में यही 'एकता का नियम' (Law of Unity) काम कर रहा है यही 'एकता' ईश्वर है। फ्रोबेल इस सत्य का अनुभव शिक्षा द्वारा कराना चाहता था। इसलिये उसने एकता के नियम को अपनी शिक्षा का आधार बनाया। उसके कथनानुसार ईश्वर में स्थित विभिन्न वस्तुओं की एकता को पहचान लेना शिक्षा का उद्देश्य है।

'विकास का सिद्धान्त' (Theory of Development) उसके दर्शन का दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य है। उसका कथन है कि प्रत्येक वस्तु का विकास अपने आन्तरिक नियम के अनुसार होता है। अर्थात् विकास स्वतः होता है। इसमें किसी प्रकार का बाह्य हस्तक्षेप हानिकारक होता है। प्रत्येक जीव अथवा प्राणी कुछ प्रेरणाओं को

लेकर जन्म लेता है जो उसे हर समय कुछ न कुछ करने के लिये बाध्य करती है। इसी कुछ न कुछ करने की प्रवृत्ति अर्थात् क्रिया पर प्रत्येक प्राणी का विकास निर्भर होता है। यही चेष्टा प्रत्येक प्राणी को आगे बढ़ाती है और उसका विकास करती हुई उसे एकता की ओर ले जाती है। इस प्रकार विकास के लिये क्रियाशीलता आवश्यक है। अतएव शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो बालक को क्रियाशील बनाकर उसके विकास में सहायक हो सके।

फ्रोबेल के अनुसार विकास का नियम भौतिक जगत पर ही लागू नहीं होता वरन् आध्यात्मिक जगत पर भी लागू होता है। व्यक्ति अपने शारीरिक विकास में ही नहीं अपितु अपने मन के विकास में भी उन्हीं श्रेणियों की पुनरावृत्ति करता है जिन श्रेणियों में होकर जाति का विकास हुआ है। इस प्रकार मानव के शारीरिक तथा मानसिक विकास का ढंग विश्व-विकास या ऐहिक विकास (Cosmic Evolution) के नियमों से शासित है। विचार, इच्छा तथा ज्ञान छोटे-छोटे तथा सरल 'सविकल्प प्रत्यक्षों' (Perception) से विकसित होकर जटिल मानसिक प्रक्रियायें बन जाती हैं इनका विकास भी स्वतः ही उसी शक्ति के द्वारा होता है जो पदार्थ जगत के विकास का कारण है। यहां पर हमें फ्रोबेल तथा हरबार्ट के विचारों में अन्तर दिखलाई पड़ता है। हरबार्ट के अनुसार मन की रचना वातावरण के सम्पर्क से होती है।

फ्रोबेल की शैक्षिक विचारधारा

फ्रोबेल के समय में बच्चों की शिक्षा पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। यद्यपि फ्रोबेल के पहले भी कुछ शिक्षा-शास्त्रियों ने लोगों का ध्यान छोटे बच्चों की शिक्षा की ओर आकर्षित किया था किन्तु अभी तक इनकी शिक्षा की व्यवस्था किसी ने नहीं की थी। बच्चों की सर्वत्र अवहेलना की जाती थी। व्यक्ति के विकास में बचपन का कोई महत्त्व न था। फ्रोबेल ही पहला व्यक्ति था जिसने छोटे बच्चों की शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया। उसका विश्वास था कि प्रारम्भिक अनुभवों की भित्ति पर ही जीवन-भवन खड़ा किया जा सकता है। उसने बचपन को व्यक्ति की अन्य अवस्थाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण माना क्योंकि बचपन ही ऐसी अवस्था है जबकि बालक के मन में अच्छे-अच्छे भाव तथा गुण उत्पन्न किये जा सकते हैं। इसलिये फ्रोबेल ने केवल छोटे-छोटे बच्चों की शिक्षा की ओर ध्यान दिया। उसने शिक्षा का सुधार छोटे बच्चों की शिक्षा से आरम्भ किया।

फ्रोबेल का विश्वास था कि सबका विकास सार्वलौकिक नियमानुसार होता है। दूसरे शब्दों में सभी का विकास भीतर से होता है और बाह्य हस्तक्षेप से विकास कुण्ठित हो जाता है। इसी प्रकार बालक का विकास भीतर से होता है। "बालक जो कुछ भी होगा वह उसके भीतर है, चाहे उसका कितना ही कम संकेत हमें क्यों न मिले ......।" ("All the child is ever to be and ever to become,

lies, however slightly indicated, in the child and can be attained only through development from within outward.")*

प्रत्येक बालक मे अपने पूर्ण विकास की सम्भावना निहित हैं। फ्रोबेल 'लीबनिज' (Leibnitz) का अनुयायी था। उसका कथन था कि जिस प्रकार बीज मे एक सम्पूर्ण वृक्ष निहित है उसी प्रकार बालक में भी व्यक्ति का पूर्ण रूप निहित है। स्वाभाविक वातावरण मे जिस प्रकार बीज बढ़कर वृक्ष बन जाता है उसी प्रकार बालक सम्पूर्ण व्यक्ति बन जाता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर फ्रोबेल बालक की उपमा पौधे से; पाठशाला की बगीचे से और शिक्षक की माली से देता है। वह कहत है, "पाठशाला एक बाग है जिसमें बालकरूपी पौधा शिक्षकरूपी माली की देखरेख में बढ़ता है।" जिस प्रकार पौधे का विकास उसके आन्तरिक नियमों के अनुसार होता है, ठीक उसी प्रकार बालक का विकास भी उसके आन्तरिक नियमो के अनुसार होता है। माली की भांति शिक्षक को भी केवल अनुकूल वातावरण उपस्थित करना है जिससे बालक का स्वाभाविक तथा समुचित विकास हो सके। इस प्रकार विकास स्वतः होता है। अतएव विकास के लिये हमें बालक से स्वभाव, शक्ति तथा क्रियाशीलता पर निर्भर रहना होगा। बालकों में सभी वाछित दशाएं उपस्थित होती है, उनके विकास के लिए वातावरण उपस्थित कर देना होगा। यदि उसके स्वाभाविक विकास मे हस्तक्षेप किया गया तो विकास कुंठित हो जायगा।

फ्रोबेल की शिक्षा का उद्देश्य

यद्यपि रूसो की भांति फ्रोबेल भी शिक्षा द्वारा बालक की समस्त शक्तियों तथा योग्यताओं का विकास करना चाहता था तथापि वह रूसो की शिक्षा के उद्देश्य का समर्थक न था फ्रोबेल केवल धार्मिक ही नहीं वरन् रहस्यवादी भी था; वह सदैव संकेतवाद अथवा प्रतीकवाद (Symbolism) का आश्रय लेता है और उन दूरवर्ती वस्तुओं की चर्चा करता है जो रूसो के शुद्ध प्रकृतिवाद के प्रतिकूल हैं। उसका विश्वास था कि सारे विश्व के पीछे एक शक्ति है— वह है ईश्वर। प्रकृति और मानव की चेतना में वह अपने आपको व्यक्त करता है। इसलिये शिक्षा का उद्देश्य बालक को अपने में निहित 'ईश्वरीय शक्ति' का बोध कराना है। शिक्षा ऐसी हो कि व्यक्ति अपने आपको, प्रकृति को तथा ईश्वर को पहचान सके।

फ्रोबेल का विश्वास था कि संसार की सभी वस्तुओं का उद्गम ईश्वर है। इसलिए संसार की सभी वस्तुएँ भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक है। उनमें एक प्रकार की 'एकता' है। प्रत्येक वस्तु अपने आन्तरिक नियमों के अनुसार विकसित होती हुई उसी 'एकता' की ओर जा रही है। शिक्षा ऐसी हो कि व्यक्ति सभी वस्तुओं की एकता को समझ सके। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह बालकों के सामने ऐसा वातावरण

* Education of Man, Ch. VI

प्रस्तुत करे कि वे विभिन्न अनुभवों में एक घनिष्ट सम्बन्ध देख सकें। तभी वे भिन्नता में एकता का अनुभव कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त फ्रोबेल का यह भी कहना है कि सभी वस्तुओं का विकास सार्वलौकिक नियमानुसार होता है। यह नियम ईश्वर है। इसमें बाह्य-जगत के किसी प्रकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती। विकास भीतर से स्वतः ही होता है। यहां पर हरबार्ट और फ्रोबेल की विचार-धाराओं का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। हरबार्ट का विचार था कि मस्तिष्क व्यक्ति और वातावरण के बीच क्रिया और प्रतिक्रिया से उत्पन्न विचारों के परिणामस्वरूप बनता है। इसके विपरीत फ्रोबेल का विश्वास है कि मस्तिष्क का विकास भीतर से होता है। इस प्रकार फ्रोबेल ने शिक्षा के उद्देश्य में 'स्वतन्त्र विकास' को प्रधानता दी है।

उक्त विवरण से फ्रोबेल की शिक्षा का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। श्री जायसवाल ने अपनी पुस्तक 'पश्चिमी शिक्षा का इतिहास' में फ्रोबेल को शिक्षा के उद्देश्य को निम्नांकित शब्दों में व्यक्त किया है:—

'शिक्षा का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास इस प्रकार कराना है कि उसे स्वर्गीय-एकता अथवा ईश्वरीय शक्ति का बोध हो जाय।" (**Education must provide for the development of the free personality of every child, it must guide but not restrict, it must not interfere with the divinity in each child.**)*

फ्रोबेल की शिक्षण-पद्धति

(१) 'आत्म क्रिया' (Self-Activity)— फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास है। परन्तु उसका विश्वास था कि बालक के व्यक्तितत्व का स्वतन्त्र विकास केवल 'आत्म क्रिया' (Self-Activity) द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इसलिए उसने आत्म-क्रिया को अपनी शिक्षण-पद्धति का आधार माना। उसने बतलाया कि बालक की प्रमुख विशेषता आत्म-क्रिया है—क्रिया जो वह अपनी रुचि और इच्छानुकूल करता है। दूसरे शब्दों में आत्म-क्रिया का अर्थ है कि, 'बालक स्वयं अपने मन में सक्रिय होकर काम करे।' बालक जो कुछ कार्य करता है उसमें कार्य विशेष की पूर्ति ही नहीं होती वरन् उसके द्वारा बालक अपने व्यक्तित्व को प्रगट करता है। इस प्रकार आत्म-क्रिया से व्यक्तित्व का विकास होता है। आत्म-क्रिया से बालक क्रियाशील हो जाता है। वह परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करता है। वातावरण को अपने अनुकूल बनाता है। अपने विभिन्न अंगों का विकास करते हुए विविध वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है। इसलिये बालक के

* *A student's Textbook in the History of the Western* **Education by Duggan, page 259.**

शिक्षा का आरम्भ यहाँ से होना चाहिए। अर्थात् बालक को 'करके सीखना' (Learning by Doing) चाहिए।

'क्रिया द्वारा शिक्षा' पर बल देने में फ्रोबेल पेस्टालाजी से आगे बढ़ जाता है, क्योंकि पेस्टालाजी केवल निरीक्षण पर बल देता है। फ्रोबेल का कहना है कि निरीक्षण में केवल मस्तिष्क ही क्रियाशील रहता है। इसलिये धीरे-धीरे रुचि का लोप हो जाता है और क्रियाशीलता रुक जाती है। अतएव फ्रोबेल ने आत्म-क्रिया पर विशेष बल दिया और उसे स्कूल के कार्य का आवश्यक अङ्ग बनाया। यद्यपि हरबार्ट ने भी अपनी 'पंच पद प्रणाली' के पांचवें पद में क्रिया को स्थान दिया है किन्तु फ्रोबेल ने अपनी शिक्षा की प्रक्रिया को पूर्णरूप से आत्म-क्रिया पर ही आधारित किया है। इस प्रकार फ्रोबेल हरबार्ट से भी आगे बढ़ गया। फ्रोबेल अपने समय की शिक्षा को दोषपूर्ण समझता था क्योंकि वह विचार और क्रिया में सम्बन्ध स्थापित न कर सकती थी। फ्रोबेल का विश्वास था कि आत्म-क्रिया द्वारा विचार और क्रिया में सम्बन्ध स्थापित हो सकता है क्योंकि आत्म-क्रिया से समझने तथा कार्य करने की शक्ति का विकास होता है। फ्रोबेल सभी वस्तुओं में 'ईश्वरीय एकता' देखता था। उसका विश्वास था कि बालक आत्म-क्रिया द्वारा एकता' (ईश्वरीय सत्ता) का आभास कर सकता है। इस प्रकार आत्म-क्रिया ही बालकों का सबसे बड़ा शिक्षक है।

(२) खेल द्वारा शिक्षा (Learning by playing)—फ्रोबेल की शिक्षण-पद्धति का दूसरा सिद्धांत है 'खेल द्वारा शिक्षा' (Learning by Playing)। फ्रोबेल ही सबसे पहला शिक्षा-शास्त्री है जिसने खेल को बालक की शिक्षा का साधन माना। वह बालक की शिक्षा को सरल तथा सरस बनाना चाहता था जिससे बालक रुचि पूर्वक ज्ञान ग्रहण कर सके। उसने देखा कि बालक शिशु अवस्था से ही खेल में विशेष रुचि रखता है अतएव बालक की शिक्षा खेल द्वारा होनी चाहिए। यदि कार्य को खेल के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाय तो बालक उस कार्य को रुचिपूर्वक तथा सरलता से कर लेता है। इसके अतिरिक्त बालक अपनी स्वभाविक रुचियों तथा प्रवृत्तियों को खेल में ही प्रदर्शित करता है। स्वभावानुकूल शिक्षा देने के लिए उसकी रुचियों तथा प्रवृत्तियों का अध्ययन अत्यधिक आवश्यक है। इसलिए बालक को खेल के लिए अधिक से अधिक अवसर मिलने चाहियें जिससे शिक्षक उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का अध्ययन कर सके और उसके स्वाभाविक तथा स्वतन्त्र विकास के लिए समुचित शिक्षा की व्यवस्था कर सके। इस प्रकार बालक की शिक्षा में खेल का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। खेल द्वारा बालक अपनी आत्म-क्रिया को विकसित करके अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। स्वेच्छा से ज्ञानार्जन करता है और अपने भावी जीवन की कठिनाइयों को सहने का अभ्यास करता है। अतः फ्रोबेल के अनुसार बालक के खेल को आधार बनाकर शिक्षा देनी चाहिए।

खेल के रूप-खेल कई प्रकार के होते हैं। किन्डर-गार्टन खेलों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—

(अ) इस पद्धति में केवल मनोरंजन तथा रचनात्मक खेलों को स्थान दिया जाता है।

(ब) ऐसे खेल चुने जाते हैं जिनसे बालकों की कल्पना शक्ति का विकास हो सके। कल्पना-शक्ति का विकास बौद्धिक विकास के लिये आवश्यक है। इसलिये इस पद्धति में सभी खेल इस बात को ध्यान में रखकर खिलाये जाते हैं कि उनके द्वारा बालकों की कल्पना का क्षेत्र अधिक से अधिक विस्तृत हो सके।

(स) इस पद्धति में उन खेलों को स्थान दिया गया है जिनसे बालकों में सामूहिक भावना की वृद्धि होती है। बहुत से बालक एक साथ मिलकर खेलते हैं। इस दृष्टि से नृत्य, संगीत, आदि को भी महत्त्व दिया जाता है क्योंकि इनसे सामूहिक रूप से कार्य करने के अवसर प्राप्त होते हैं। प्रत्येक बालक को व्यक्तिगत रूप से भी कुछ न कुछ कार्य करना पड़ता है। इससे बालक अपने उत्तरदायित्व को समझने लगते हैं और दूसरों की सुविधा का ध्यान रखकर कार्य करते हैं।

(द) उन सभी खेलों को इस पद्धति में स्थान दिया जाता है जो शारीरिक विकास की दृष्टि से उत्तम समझे जाते हैं। दूसरे शब्दों में खेल शिक्षाप्रद होते हैं।

(य) इस पद्धति के खेलों से मनोरंजन के साथ-साथ बालक लिखना, पढ़ना, गणित, भूगोल इत्यादि विषयों की शिक्षा प्राप्त करता है। बालकों को शिक्षा खेल के पदार्थों की सहायता से होती है। जैसे, भाषा की शिक्षा अथवा अक्षरों का पढ़ना-लिखना खेल-मेल में लकड़ी के टुकड़ों, रेत, कागज आदि सामग्री के द्वारा सिखाया जाता है। इस प्रकार खेल के द्वारा बालकों की शिक्षा को रोचक बनाया जाता है।

(३) शिक्षा में स्वतंत्रता (Freedom in Education)— पूर्व-कथित सिद्धान्तों को स्वतन्त्र वातावरण में ही कार्यान्वित किया जा सकता है इसलिये फ्रोबेल बालकों को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अवसर देना आवश्यक समझता है। बिना स्वतन्त्रता के आत्म-क्रिया सम्भव नहीं। स्वतन्त्र रूप से कार्य करने से बालक की आत्म-क्रिया को प्रोत्साहन मिलता है और बालक की आन्तरिक शक्तियों का समुचित विकास होता है। फ्रोबेल के कथनानुसार शिक्षक का कार्य केवल बालक के कार्य का निरीक्षण करना है, हस्तक्षेप करना नहीं। किसी प्रकार के हस्तक्षेप अथवा बन्धन से बालक का विकास कुंठित हो जाता है। किन्तु फ्रोबेल बालक को उतनी ही स्वतन्त्रता देने के पक्ष में है जितनी उसके लिये आवश्यक हो। वह ऐसी स्वतन्त्रता देने के पक्ष में नहीं है जिसमें व्यक्ति स्वतन्त्रता के नाम पर उच्छृंखल हो जाय। यदि बालक दूसरे के कार्य में रोड़े अटकाता है तो बालक को ऐसी स्वतन्त्रता का अवसर नहीं" [illegible]

होना चाहिए। इसकी दृष्टि में सच्ची स्वतन्त्रता वह है जिसमें बालक दूसरों की सुविधा का ध्यान रखकर स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करे।

(४) सामाजिक अथवा सामूहिक कार्य (Social Participation)—फ्रोबेल ने सामाजिकता को भी अपनी शिक्षण-पद्धति में स्थान दिया है। उसका विचार था कि आत्म-क्रिया का सबसे उत्तम साधन समाज है। घर, स्कूल तथा समाज आत्म-क्रिया के लिये अधिक से अधिक अवसर प्रदान करते हैं। बालक जब आपस में मिलकर कार्य करते हैं अथवा खेलते हैं तब उन्हें आत्म-क्रिया द्वारा आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिलता है और उनमें परस्पर सहयोग की भावना जाग्रत होती है। अरस्तु की भाँति फ्रोबेल का भी विश्वास था कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह मानवीय गुणों को समाज में रहकर ही प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार फ्रोबेल सामूहिक खेलों तथा कार्यों पर बल देता है। यहाँ फ्रोबेल रूसो से आगे बढ़ जाता है। यद्यपि रूसो भी बालक की क्रियात्मकता को प्रधानता देता है किन्तु वह 'एमील' को समाज से दूर रख कर शिक्षा देना चाहता है। इसके विपरीत फ्रोबेल ने क्रियात्मकता के साथ-साथ सामाजिकता पर भी बल दिया है। उसका कथन है कि आत्म-क्रिया द्वारा जो आत्मानुभूति होती है वह सामाजिकता के द्वारा ही सम्भव है क्योंकि सामाजिकता ही मूल मानवीय प्रवृत्ति है। बालक की मूल-प्रवृत्तियाँ उसे सामूहिक कार्यों में भाग लेने के लिये प्रेरित करती हैं। अतएव बालकों में आरम्भ से ही सामाजिकता तथा सहयोग की आदत डालनी चाहिए जिससे वे उन समस्त शारीरिक, नैतिक तथा बौद्धिक लाभों को प्राप्त कर सकें जो सामाजिक सहयोग से मिल सकते हैं।

शिक्षा का पाठ्य-क्रम

पाठ्य-क्रम के विषयों के सम्बन्ध में फ्रोबेल ने लिखा है—'मानवीय शिक्षा में धर्म, प्रकृति तथा भाषा का ज्ञान और रसानुभूति होनी चाहिए।" इस दृष्टि से उसने स्कूलों के पाठ्य-क्रम में धर्म तथा धार्मिक निर्देश, प्राकृतिक विज्ञान, भाषा, गणित, कला तथा दस्तकारी आदि विषयों को स्थान दिया था।

फ्रोबेल पाठ्य-क्रम के सभी विषयों में एकता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। उसका कथन था कि "जिस प्रकार एक वृक्ष की डालियों का वृक्ष से सम्बन्ध होता है उसी प्रकार ज्ञान के विभिन्न विषयों का एक (ज्ञान) से सम्बन्ध है।" इस लिये शिक्षा के पाठ्य-क्रम के सभी विषयों में सम्बन्ध होना चाहिए। इस सम्बन्ध के अभाव में शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति न हो सकेगी। अतएव पाठ्य-क्रम के विषयों में 'सम्बन्ध' का ध्यान रखना आवश्यक है।

किन्डर गार्टन (Kinder-garten)

फ्रोबेल ने ब्लैंकनबर्ग (Blackenburg) में छोटे बच्चों के लिये एक स्कूल खोला

जिसको उसने जर्मन भाषा में 'किन्डर-गार्टन' कहा। 'किन्डर-गार्टन' का अर्थ है 'बच्चों का बाग'। उसका कथन था कि स्कूल एक बाग (Garten) है जिसमें बालक (Kinder) रूपी पौधा शिक्षक रूपी माली की देख रेख में बढ़ता है। इस स्कूल में बालकों को हसने, खेलने तथा कूदने का पर्याप्त अवसर मिलता था। उन्हें घूमने, फिरने तथा कार्य करने की स्वतन्त्रता थी। यहां उन्हें डाटा, फटकारा तथा पीटा नहीं जाता था। यहाँ न समय-सारिणी का बन्धन था और न पुस्तकों की प्रधानता। यहाँ पर उन्हें नियमित बौद्धिक पाठ नहीं मिलते थे वरन् खेल-कूद तथा आत्म-क्रिया द्वारा शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया जाता था। पाठशाला का स्थान साफ सुथरा था। वहाँ छोटे छोटे बाग लगे थे जहां बालक बागवानी करते थे। यह स्कूल एक आनन्दमय स्थान था। यहां आते हुए बालक घबराते नहीं वरन् प्रसन्न होते थे। उक्त प्रकार के स्कूल तथा क्रियाओं के समन्वित रूप को 'किन्डर-गार्टन पद्धति' कहा गया है। आरम्भ में लोग ऐसे स्कूल को देखकर आश्चर्य करते थे। वे यह नहीं समझ पाते थे कि उक्त पद्धति द्वारा बालक को शिक्षा कैसे दी जाती है। परन्तु धीरे-धीरे मनुष्यों ने इस पद्धति के गुणों को समझा और इस पद्धति को अपनाया। आजकल हम देखते हैं कि यह पद्धति छोटे बच्चों की शिक्षा के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

किन्डर-गार्टन पद्धति— किंडर-गार्टन में फ्रोबेल के पूर्व-कथित तीन प्रमुख सिद्धान्तों अर्थात् 'विकास का उद्देश्य', 'क्रिया द्वारा शिक्षा विधि' तथा 'सामाजिक सहयोगिता' का समावेश है। फ्रोबेल ने बालक को उसकी रुचियों तथा प्रवृत्तियों के अनुसार शिक्षा देने लिये किन्डर गार्टन की व्यवस्था की थी। उसका विश्वास था कि बालक शैशव-काल से ही खेल में विशेष रुचि रखता है; अपनी प्रवृत्तियों का प्रकाशन खेल में ही करता है; इसलिये उसे खेल द्वारा शिक्षा ग्रहण करने का अवसर देना चाहिए। अतएव उसने किन्डर-गार्टन को खेल की प्रवृत्ति पर आधारित किया। किन्डर-गार्टन की शिक्षा का उद्देश्य बालक को आत्माभिव्यक्ति का अवसर देकर उसका विकास करना है। किन्डर गार्टन का उद्देश्य ज्ञान देना नहीं, ज्ञान तो बालक आकस्मिक रूप में (Incidentally) प्राप्त करता है। इस प्रकार फ्रोबेल ने आत्माभिव्यक्ति (Self-Expression) को शिक्षा में मुख्य स्थान दिया। उसने आत्माभिव्यक्ति के जिन रूपों को किन्डर-गार्टन में स्थान दिया वे इस प्रकार हैं:—

(१) गीत (Song)
(२) गति (Gesture), और
(३) रचना (Construction)

यद्यपि आत्माभिव्यक्ति के उक्त रूप पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं तथापि व्यावहारिक रूप में ये एक हो जाते हैं। इन्हीं के साथ बालक को भाषा भी सिखलाई जाती थी। एक उदाहरण से इनका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। मान लीजिये, बालक एक

कहानी सुनता है। सुनने के बाद वह उसका गीत गा सकता है। गीत गाते समय भाव-भंगी तथा गति का प्रकाशन करता है। इसके बाद वह उसे नाटक के रूप मे उपस्थित कर सकता है; अथवा वर्णित वस्तु की लकड़ी, कागज, मिट्टी, तथा अन्य किसी पदार्थ से रचना कर सकता है। इस प्रकार संगीत, गति तथा रचना मे एकता स्थापित हो सकती है। अतः शिक्षक के लिए यह अपेक्षित है कि वह बालक से काम कराये, काम से सम्बन्धित गाना गवाये, गाने के साथ साथ भाव-भंगी का प्रदर्शन कराये और गीत में वर्णित वस्तुओं का निर्माण कराये।

शिक्षा की वस्तुएं—किन्डर-गार्टन स्कूल मे प्रयोग में लाई जाने वाली वस्तुए निम्न थीं :—

(१) मातृखेल और शिशु गीत (Mother's Play and Nursery Songs).

(२) उपहार (Gifts).

(३) कार्य या व्यापार (Occupations).

(१) मातृखेल और शिशु-गीत Mother's Play and Nursery Songs)- यह लगभग पचास गीतों की एक छोटी पुस्तक है। इसमें प्रत्येक गीत के साथ उसका चित्र तथा उस पर व्याख्यात्मक टिप्पणियां दी हुई हैं। ये गीत शिशुओं के खेलो जैसे 'छुपा छुपउवल' (Hide and Seek) का खेल और कुछ व्यवसायों जैसे बढ़ई का व्यवसाय, पर आधारित हैं। इन खेलों और गीतों का क्रम बालक की आयु तथा योग्यता के अनुसार रखा गया है। ये खेल-गीत शिशु के अंगो और ज्ञानेंद्रियों के विकास में सहायक होते है। बालक और उसकी माता में एकता स्थापित करते हैं। इनसे बालक के नैतिक विकास में भी सहायता मिलती है।

(२) उपहार (Gifts)— बालक की आत्म-क्रिया को उत्तेजित करने के लिए फ्रोबेल ने कुछ वस्तुओं का प्रबन्ध किया था जिन्हें वह उपहार कहता था।

कुल उपहार बीस हैं। इनका वर्गीकरण और क्रम बालक के विकासानुसार है। छः उपहार प्रमुख हैं। और ये ६ भी बेलनाकार (Cylinder), गोला (Sphere) तथा घन (Cube) के भिन्न भिन्न रूप हैं इन उपहारों की आकृति नहीं बदलती है। ये छः उपहार निम्नांकित हैं :—

(अ) भिन्न-भिन्न रंगों से रँगे ऊन के गेंद। इनसे बालक रंग, रूप, स्पर्श, गति तथा दिशा का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

(ब) लकड़ी अथवा अन्य किसी कड़ी वस्तु के बने गोले, बेलनाकार तथा घन। इनसे बालक को वस्तुओं की समानता तथा असमानता, गति तथा आकार का ज्ञान मिल सकता है।

(स) एक बड़ा घन जिसमें आठ छोटे-छोटे घन होते हैं। इन घनों को अलग करने, इकट्ठा करने तथा विभिन्न आकार बनाने से बालक की रचनात्मक शक्ति का विकास होता है और साथ ही साथ बालक गणित भी सीख जाता है।

(द) एक ऐसा घन जिसमें आठ आयताकार घन होते हैं। इनसे बालक नई वस्तुओं को बनाता है।

(य) एक इतना बड़ा घन जो २७ छोटे छोटे घनों से मिलकर बनता है। इन घनों की सहायता से बालक विभिन्न आकृतियों तथा संख्याओं का ज्ञान प्राप्त करता है।

(र) एक ऐसा घन जिसमें १८ बड़े और ६ छोटे विषम चतुर्भुज (Oblong) होते हैं। इनसे बालक ज्यामिति की भिन्न भिन्न शक्लें बनाना सीखता है।

उपर्युक्त उपहारों की सहायता से बालक गणित, बीजगणित तथा रेखागणित का ज्ञान प्राप्त करता है। रचना सम्बन्धी ज्ञान की वृद्धि करता है। इनसे खेलते हुए बालक अपने पुराने कार्य को दोहराता है और नवीन कार्य की ओर अग्रसर होता है।

(३) कार्य अथवा व्यापार (Occupations)— फ्रोबेल ने 'आत्म-क्रिया' (Self-Activity) अथवा 'आत्माभिव्यक्ति' (Self-Expression) का दूसरा साधन व्यापार अथवा कार्य बतलाया है। इसलिये फ्रोबेल ने किन्डर-गार्टन स्कूल में खेल के अतिरिक्त 'कार्य' की भी व्यवस्था की। ये कार्य बालक को तब दिये जाते थे जब वह सभी उपहारों को पा चुकता था। फ्रोबेल के अनुसार उपहारों तथा कार्यों में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। उपहारों द्वारा बालक में विचार उत्पन्न किये जाते हैं और विचारों के आधार पर बालक कार्य करते हैं। किन्डर-गार्टन स्कूल में बालक उपहारों द्वारा बिना वस्तुओं के आकार को बदले उन्हें मिलाने तथा क्रमबद्ध करने का अभ्यास करते थे और वस्तुओं के आकार, रूप, रंग इत्यादि का ज्ञान प्राप्त करते थे। किन्तु व्यापारों द्वारा वे वस्तुओं के आकार तथा रूप बदल कर नवीन वस्तुओं का निर्माण करते थे। इस प्रकार बालक मिट्टी, कागज, बालू, लकड़ी आदि से भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएं बनाते थे। जैसे चटाई बुनना, टोकरियाँ बनाना, चित्र बनाना, खिलौने बनाना, डिजाइन बनाना, सीना-पिरोना इत्यादि।

फ्रोबेल बालकों के लिए खेलों का भी आयोजन करता है क्योंकि बालक के विकास में खेलों का बड़ा महत्त्व है। खेल से बालकों में अधिक क्रियाशीलता आ जाती है। इसलिये उसने बालकों को गोलाकार खड़ा करके कुछ खेल खिलाने का सुझाव रखा है। फ्रोबेल ने भिन्न-भिन्न खेलों के नियम भी बनाये हैं परन्तु इनका पालन करना उन्हीं पर छोड़ देता है। उसके पथ-प्रदर्शन में बालक नियमों को समझ जाते थे और और उनका उचित रूप से पालन करते थे।

उपहारों तथा कार्यों की उपयोगिता—फ्रोबेल का कहना है कि उपहारों तथा व्यापारों का शिक्षा में बड़ा महत्त्व है। इनसे बालक क्रियाशील रहता है। क्रियाशीलता मस्तिष्क और जीवन के विकास का सर्वोत्तम साधन है। फ्रोबेल का विश्वास था कि उपहार तथा कार्य मे निहित दार्शनिक विचारों का प्रभाव बालक पर पड़ता है। इनसे उसकी भावनाओं तथा हृदय का विकास होता है। वह जीवन के सभी क्षेत्रों का ज्ञान प्राप्त करता है। सभी वस्तुओं मे एकता का अनुभव करता है। इनमें फ्रोबेल को जीवन और प्रकृति के नियम दिखलाई पड़ते हैं। इनसे बालकों मे रचनात्मक कल्पना और रचनात्मक काम करने की शक्ति की वृद्धि होती है। ग्रेव्ज ने लिखा है कि 'किण्डर-गार्टन के व्यापार बालकों में प्रेम, कौतूहल, आत्म-नियन्त्रण, त्याग, निरीक्षण और बुद्धि के विकास मे सहायक होते हैं।' इन उपहारों तथा व्यापारों का सामाजिक महत्त्व भी है। किण्डर-गार्टन स्कूल मे सारे कार्य इस प्रकार किये जाते हैं जैसे कि स्कूल एक छोटा समाज हो और बालक उस समाज के छोटे-छोटे नागरिक। यहां बालक परस्पर सहयोग की आवश्यकता तथा अपने कर्तव्यों और अधिकारों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार किण्डर-गार्टन के व्यापार बालक को भावी सामाजिक जीवन के लिये तैयार करते हैं।

किण्डर-गार्टन विद्यालय में अनुशासन

फ्रोबेल का विश्वास था कि बालक के स्वाभाविक विकास के लिये यह अपेक्षित है कि उसे स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अवसर दिया जाय। स्वतन्त्र रूप से कार्य करने पर बालक अपने उत्तरदायित्व को समझता है और उसमें आत्म-नियन्त्रण की भावना जागृत होती है। इसीलिये किण्डर-गार्टन स्कूलों मे डांटने, फटकारने तथा दण्ड देने की उसने कोई आवश्यकता नहीं समझी। अतः इनका प्रयोग नहीं किया जाता था वरन् बालकों के साथ प्रेम तथा सहानुभूति का व्यवहार किया जाता था। इसके अतिरिक्त फ्रोबेल का विश्वास था कि बालकों को अच्छी प्रवृत्तियों के अभ्यास का अवसर मिलना चाहिए। यदि अच्छी प्रवृत्तियां ही सदैव प्रयोग में लाई जायेंगी तो बुरी प्रवृत्तियों को उभरने का अवसर न मिलेगा तब वे बुराई से अपने आप बच जायेंगे। ("The infallible remedy of all human wickedness is first to bring to light the original good tendency, and then to nourish, foster and train it. Then the fault will ultimately disappear.")* फ्रोबेल बालक को डराकर अथवा दबाकर अनुशासन स्थापित करने का विरोधी है। (Repression is, to Froebel, a wrong method of securing discipline.) वह स्वतः अनुशासन के पक्ष में है और दण्ड देने के विरुद्ध

*Modern Educational Development by Khan and Saxena, page 9.

में है। उसका विश्वास था कि आत्म-क्रिया और आत्म-नियन्त्रण अनुशासन के सबसे उत्तम ढंग हैं। परन्तु बालक को आवश्यकता से अधिक स्वतन्त्रता देना वह विरोधी है।

किन्डर-गार्टन के गुण व दोष

इस पद्धति के अनेक गुण हैं। उनमें से प्रमुख ये हैं:—

(१) यह विधि छोटे बच्चों की शिक्षा के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

(२) बालक शिक्षा का प्रधान-अङ्ग है, आत्म-क्रिया से बालक में आत्म-क्रियाशीलता तथा आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है।

(३) इसमें शिक्षक का कोई भय नहीं है। बालक की रुचियों का ध्यान रखा जाता है और उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक खेलने का अवसर दिया जाता है।

(४) इसमें उन्हें एकता के नियम का आभास होता है। उनकी कल्पना तथा रचनात्मक शक्ति का विकास होता है।

(५) इसके द्वारा बालकों में नैतिक तथा सामाजिक गुणों का विकास होता है।

(६) इस विधि ने विद्यालयों के नीरस वातावरण का अन्त करके वहाँ सरसता तथा उल्लास का वातावरण उत्पन्न कर दिया है। बालक खेल-खेल में लिखना, पढ़ना, गणित आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

उक्त गुणों के आधार पर पार्कर महोदय ने इस पद्धति की प्रशंसा करते हुए कहा है— "यह उन्नीसवीं सदी का सबसे महत्त्वपूर्ण सुधार है।"

किन्तु अन्य विद्वानों के अनुसार यह पद्धति त्रुटिपूर्ण है। इस सम्बन्ध में डा० जेम्स वार्ड (Dr. James Ward) के विचारों का उल्लेख करना आवश्यक है। उन्होंने कहा है, "किन्डर-गार्टन प्रणाली की प्रशंसनीय सफलता उस व्यक्ति पर निर्भर है जो इसे भली-भांति जानता है, लेकिन इसके यन्त्रवत् और निष्प्राण होने की सम्भावना है। इसमें बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिए पर्याप्त स्थान नहीं है जिसकी कि प्रारम्भिक वर्षों में बड़ी आवश्यकता होती है।"* इसके अन्य दोष निम्नलिखित हैं:—

---

* "The Kinder-garten system in the hands of one who understands it produces good results, but it is apt to be mechanical and formal. There does not seem room for the individuality of a child, to which all free play should be given in the earliest years."—Dr. James Ward quoted by Khan and Saxena in 'Modern Educational Development', page 6.

(१) फ्रोबेल ने बालक को उपहारों तथा व्यापारों में इस प्रकार बांधा है कि उसे वह स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती जिसकी वह दुहाई देता है।

(२) उपहार ऐसे विचारों के प्रतीक हैं जिन्हें बालक समझ नहीं सकता। इसके अतिरिक्त उपहारों के आधार पर ऐसे कार्य करने पड़ते हैं जो मनोविकास के प्रतिकूल हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि उपहारों से कोई लाभ नहीं है। इनसे केवल समय नष्ट होता है।

(३) फ्रोबेल ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया है कि बालक स्कूल में जाने के पहले ही भिन्न-भिन्न आकृतियों, रूपों तथा रंगों से परिचित हो जाता है, अतः उपहारों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

(४) आर्थिक संकट के कारण फ्रोबेल के उपहारों तथा व्यापारों की उपलब्धि हरएक पाठशाला में नहीं की जा सकती।

उपर्युक्त विचारों में कुछ सत्य अवश्य है। परन्तु ये त्रुटियां ऐसी हैं जिनका संशोधन किया जा सकता है। अतः इन पर ध्यान नहीं देना चाहिए। यह पद्धति छोटे बच्चों की शिक्षा के लिये अत्यन्त हितकर है। योरुप में इस पद्धति पर चलने वाली संस्थाएँ कई स्थानों पर पाई जाती है। आज किन्डर-गार्टन संसार के प्रायः सभी देशों में प्रचलित है। इस विधि का प्रयोग भारतवर्ष में अधिक नहीं हुआ क्योंकि हमारी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि हम इसका खर्चा उठा सकें। परन्तु आशा है कि निकट भविष्य में ऐसी शालाएँ अनेक होंगी।

फ्रोबेल का प्रभाव

यद्यपि आजकल की शिक्षा पर पेस्टालाजी, हरबार्ट तथा फ्रोबेल का जो प्रभाव पड़ा है वह इतना घुल मिल गया है कि उनके व्यक्तिगत प्रभावों को पहचानना असम्भव सा प्रतीत होता है तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल की प्राथमिक शिक्षा पर फ्रोबेल का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। फ्रोबेल ने छोटे बच्चों की शिक्षा के लिए एक ऐसी पद्धति प्रस्तुत की है जिसकी उपयोगिता को लगभग सभी देशों ने मान लिया है। यद्यपि फ्रोबेल के उपहारों को यथार्थ के निकट लाने का प्रयत्न किया जा रहा है और इस दृष्टि से उसके उपहारों में कुछ परिवर्तन तथा सुधार भी किये गये हैं तथापि उपहारों तथा व्यापारों के मौलिक सिद्धान्त वे ही हैं जिनको फ्रोबेल महोदय ने बताया है। फ्रोबेल के 'क्रियाशीलता' तथा सामाजिकता सम्बन्धी विचार आज की शिक्षा में पूर्ण रूप से विद्यमान हैं।

फ्रोबेल का प्रभाव 'खेल द्वारा शिक्षा' के रूप में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। आज 'खेल द्वारा शिक्षा' विधि पर अत्यधिक बल दिया जाता है। सभी शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा में खेल की उपयोगिता को सहर्ष स्वीकार कर लिया है। यह निश्चय है कि बालक जो कुछ सीखता है, करके सीखता है। खेल द्वारा बालक रुचिपूर्वक सरलता

से ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार 'शिक्षा में खेल' को महत्त्व देने का श्रेय फ्रोबेल को ही है।

फ्रोबेल का विश्वास था कि रचनात्मक कार्य बालक के विकास तथा आत्माभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से उसने पाठशालाओं में 'हाथ के काम' (Manual Training) जैसे बढ़ई का काम, लोहार का काम, कताई, बुनाई, इत्यादि का सूत्रपात किया। आज की शिक्षा में उक्त बातों पर जो बल दिया जाता है वह फ्रोबेल के ही प्रभाव का परिणाम है। ड्यूवी की सक्रिय पाठशालाओं (Activity Schools) में भी फ्रोबेल की आत्मा बोलती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि फ्रोबेल के प्रभाव के फलस्वरूप ही शिक्षा में रचनात्मक कार्यों को महत्त्व दिया गया है। आज हाथ के काम अर्थात् कताई, बुनाई, बागवानी, मिट्टी का काम की शैक्षिक उपयोगिता को सभी ने मान लिया है।

फ्रोबेल के सिद्धान्तों का प्रभाव संसार के लगभग सभी देशों पर पड़ा। उसने पाठशालाओं में नीरसता के स्थान पर सरसता उत्पन्न कर दी, इससे सभी लोग प्रभावित हुए और लगभग सभी देशों में किंडर-गार्टन पाठशालायें खोली गईं। यद्यपि विभिन्न देशों की सरकारों ने किन्डर-गार्टन शालाओं के खोलने में कोई सहयोग नहीं दिया तथापि किन्डर-गार्टन स्कूल लगभग सभी स्थानों पर खोले गये। संसार के कुछ देशों ने अपने भौतिक तथा सामाजिक वातावरण के अनुसार इस पद्धति में कुछ नई-नई बातें भी जोड़ दी है। फ्रोबेल के प्रभाव के परिणामस्वरूप पुस्तकों का महत्त्व घट गया और यह स्पष्ट हो गया कि बिना पुस्तकों के भी शिक्षा दी जा सकती है।

प्रश्न

(१) अपने शिक्षा-सिद्धान्तों के हेतु फ्रोबेल किस सीमा तक रूसो का ऋणी है?

(२) शिक्षा-सिद्धान्तों को निर्माण करने वाले फ्रोबेल के शिक्षा-दर्शन की विवेचना कीजिए।

(३) फ्रोबेल की शिक्षा की प्रमुख बातें क्या-क्या है? इनको स्कूल-कार्य में किस सीमा तक अपनाया जा सकता है?

(४) किन्डर-गार्टन पद्धति के प्रमुख लक्षण क्या क्या है? इस पद्धति के गुण व दोषों की विवेचना कीजिए।

(५) "Pestalozzi cared most for the improvement of Instruction, while Froebel strove for the improvement of Education." इस कथन की आलोचना कीजिए।

ग्यारहवाँ अध्याय

शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति

(Scientific Tendency in Education)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—यथार्थवाद के अध्याय में यह बताया जा चुका है कि पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी के वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा आविष्कारों के फल स्वरूप वैज्ञानिक प्रवृत्ति आरम्भ हुई। इस प्रवृत्ति ने सत्रहवीं शताब्दी के शिक्षा-शास्त्रियों को प्रभावित किया और उन्होंने शिक्षा के विषय-वस्तु (Content of Studies) में विज्ञान को सम्मिलित करने तथा 'आगमन प्रणाली' (Inductive Method) को प्रयोग में लाने की मांग की। इस प्रकार शिक्षा का वैज्ञानिक विकास आरम्भ हुआ। परन्तु शिक्षा शास्त्रियों को कोई विशेष सफलता नहीं मिली क्योंकि उनके विचारों का सैद्धान्तिक तथा साहित्यिक शिक्षा के समर्थकों ने घोर विरोध किया। फिर भी अट्ठारहवीं शताब्दी में यह प्रवृत्ति कुछ और आगे बढ़ी और इसने दार्शनिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों को प्रभावित किया। प्रकृतिवादियों से इस प्रवृत्ति को बल मिला। रूसो तथा उनके अनुयायियों ने प्रकृति के अनुसरण करने का संदेश देकर प्रकृति निरीक्षण (Nature Study) की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। इस प्रकार शिक्षा में विज्ञान पर बल देने की बात भी प्रकृतिवाद की देन कही जाती है। पेस्टालॉजी ने ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव पर बल देकर वैज्ञानिक प्रवृत्ति को ओर भी आगे बढ़ा दिया। परन्तु इस दशा में विशेष उन्नति उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई। इस उन्नति के कई कारण थे। सर्वप्रथम अनेक वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण योरुप में व्यवसायिक तथा औद्योगिक क्रान्ति हुई जिसने विज्ञान के महत्व को बढ़ा दिया। अब यह स्पष्ट हो गया कि मानव-जीवन में आने वाली अनेक कठिनाइयों को दूर करने में विज्ञान सहायक हो सकता है। दूसरे, मनुष्यों में प्रत्येक कार्य के कारण को जानने की प्रबल इच्छा जाग्रत हो गई। इसने रूढ़िवादिता, अन्ध विश्वास तथा अज्ञान का अन्त कर दिया। तीसरे, ज्योतिष-शास्त्र (Astronomy), भूगर्भ शास्त्र (Geology), वनस्पति-शास्त्र (Botany), जीव-शास्त्र (Biology), शरीर शास्त्र (Anatomy), रसायन-शास्त्र (Chemistry), तथा भौतिक-शास्त्र (Physics), आदि विज्ञानों की अभिवृद्धि हुई। चौथे, जीव-विज्ञान के 'विकास सिद्धान्त' (Theory of Evolution) ने मनुष्यों के विचारों को बिल्कुल बदल दिया। उक्त बातों के कारण विज्ञान का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया।

शुद्ध विज्ञान (Pure Sciences) की अपेक्षा प्रायोगिक विज्ञान (Applied Sciences) ने और भी अधिक उन्नति की जिसके परिणामस्वरूप ऐसे अनुसंधान

तथा अविष्कार हुए जिन्होंने मानव-जीवन को अत्यन्त ही प्रभावित किया। इन अविष्कारों के अन्तर्गत विनोले निकालने की चरखी, सीने की मशीन, छापाखाना, सूत कातने तथा कपड़ा बुनने की मशीन, रेलगाड़ी, जहाज, तार, टेलीफोन आदि गिने जाते हैं। इन आविष्कारों ने मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को बदल दिया। उनके जीवन में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी और शिक्षा से अनेकों मांगें की। अब लोगों को प्रतीत होने लगा कि विज्ञान जिसने मनुष्यों की विचारधारा को बदला है, जीवन के नये मूल्यों की रचना की है तथा मनुष्य जाति को कई वर्गों में बांट कर उनके रहन-सहन में महान परिवर्तन किया है, उसे तथा उससे सम्बन्धित विषयों की शिक्षा को पाठ्य-क्रम में सम्मलित न करना महान मूर्खता है। इस प्रकार अब मनुष्यों का ध्यान साहित्यिक विषयों की ओर से हट कर उन विषयों की ओर आकर्षित हुआ जिनकी कुछ व्यावहारिक उपयोगिता थी अथवा जिनके ज्ञान से वह अपने आपको तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल बना सकता था और सुखी तथा उपयोगी जीवन व्यतीत कर सकता था। फलतः शिक्षा के पाठ्य-क्रम में वैज्ञानिक विषयों को स्थान दिया गया।

वैज्ञानिक प्रवृत्ति की विशेषताएं— वैज्ञानिक प्रवृत्ति की विशेषताएं निम्नांकित हैं :—

(१) इस प्रवृत्ति ने शिक्षा के पाठ्य-क्रम में वैज्ञानिक विषयों के प्रवेश की मांग की। इसके समर्थकों ने यह पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया कि केवल साहित्यिक शिक्षा मानव को भावी जीवन के लिये तैयार नहीं कर सकती। इसके समर्थकों ने उपयोगिता तथा भावी जीवन की तैयारी की दृष्टि से वैज्ञानिक विषयों को अत्यन्त ही उपयोगी माना है।

(२) वैज्ञानिक प्रवृत्ति साहित्यिक शिक्षा का पूर्ण रूप से विरोध करती है।

(३) यह पाठन-विधि अथवा अध्ययन की अपेक्षा पाठ्य वस्तु पर विशेष बल देती है। पाठ्य-वस्तु की महत्ता का प्रतिपादन कर इस प्रवृत्ति ने अनुशासनवाद (Disciplinary conception of education) का विरोध किया परन्तु कुछ वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक विषयों के समर्थन के लिये मानसिक शक्तियों के रूढ़िगत विश्वास को ग्रहण किया।

(४) इस प्रवृत्ति के समर्थकों का कहना है कि प्रकृति का वास्तविक ज्ञान विज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

(५) यह प्रवृत्ति 'आगमन प्रणाली' (Inductive Method) के प्रयोग पर अत्यधिक बल देती है।

(६) वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने उदार शिक्षा की एक नई परिभाषा प्रस्तुत की। शिक्षा वह शिक्षा है जो मानव को अपने व्यवसाय के लिये तथा नागरिक के

लिए अपेक्षित जीवन सम्बन्धी विविध कार्यों के लिये योग्य बनाती है।' उदार शिक्षा प्राप्त व्यक्ति केवल अपने व्यवसाय मे ही नहीं लगा रहता वरन् एक कुशल नागरिक होने के नाते वह जीवन के अन्य कार्यों तथा विभिन्न संस्थाओं के कार्यों में भी उतनी ही रुचि रखता है जितनी अपने व्यवसाय में। उदार शिक्षा के लिए फ्रेंच तथा जर्मन भाषाओं का तथा समाज-शास्त्र, राजनीति आदि विज्ञानों का अध्ययन आवश्यक समझा गया। उदार शिक्षा ने विषयों की ऐच्छिकता (Elective Studies) का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार बालक को अपनी रुचि के विषय अध्ययन करने की स्वतन्त्रता दे दी गई।

(७) यह प्रवृत्ति भी प्रत्यक्ष तथा स्थूल को वास्तविक मानती है। इसके अनुसार वस्तुओं का स्थूल अस्तित्व ही सत्य है। यह प्रवृत्ति अज्ञात तथा अदृश्य वस्तुओं में विश्वास नहीं करती और न ही उनका विवेचन करती है।

इस प्रवृत्ति के प्रतिनिधियों में हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer), हक्सले (Huxley) तथा इलियट (Eliot) के नाम उल्लेखनीय हैं। इस प्रवृत्ति के प्रसार में सबसे अधिक योग स्पेन्सर ने दिया, अतः उसके कार्यों तथा विचारों से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है।

हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer)

(१८२० - १९०३)

लगी और वह अट्ठाईस वर्ष की अवस्था में एक प्रसिद्ध लेखक बन गया। उसने अपने समय के प्रमुख विषयों के वैज्ञानिक विकास का अध्ययन किया और 'जीव-विज्ञान' (Biology), 'मनोविज्ञान' (Psychology), 'समाज-शास्त्र' (Sociology), 'आचार-शास्त्र' (Ethics) आदि विषयों पर लगभग २० पुस्तकें लिखीं। उसने जीवन के सभी अङ्गों का वैज्ञानिक अध्ययन किया और उनके सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये।

उसने शिक्षा के विषय का कोई विशेष अध्ययन नहीं किया। उसने केवल पेस्टालाजी के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों से परिचय प्राप्त किया। फिर भी उसने 'शिक्षा' पर कई लेख लिखे जिनके द्वारा उसने इङ्गलैंड की प्रचलित शिक्षा की कड़ी आलोचना की। १८६१ ई० में ये लेख 'एजुकेशन' (Education) नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। इस पुस्तक में चार लेख हैं जो निम्न हैं:—

(१) कौन सा ज्ञान सबसे अधिक उपयोगी है? (What knowledge is of most worth?)

(२) बौद्धिक शिक्षा (Intellectual Education)।

(३) नैतिक शिक्षा (Moral Education)।

(४) शारीरिक शिक्षा (Physical Education)।

उक्त लेखों द्वारा स्पेन्सर ने विज्ञान की उपयोगिता बतलाकर विज्ञान को शिक्षा का आधार बनाने का प्रयत्न किया है। अतः शिक्षा के वैज्ञानिक विकास को पूर्ण रूप से समझने के लिये यह अपेक्षित है कि हम स्पेन्सर के विचारों से परिचित हो जायें।

स्पेन्सर की शैक्षिक विचारधारा

स्पेन्सर अपने समय की शिक्षा का विरोधी था। अपने समय की शिक्षा पद्धति के दोष बताते हुए उसने अपनी 'एजूकेशन' नामक पुस्तक में लिखा है— "हमारी शिक्षा-पद्धति इतनी दूषित है कि वह फूल पाने की जल्दी में पौधे की कुछ भी परवाह नहीं करती। वह शोभा और शृंगार के पीछे दौड़ कर मूल वस्तु को बिल्कुल ही भूल जाती है। वह इतनी खराब है कि जिस शिक्षा से आत्म-रक्षा होती है उसका कुछ भी ज्ञान नहीं होने देती। जिससे उदर निर्वाह होता है उसे वह सिर्फ दिग्दर्शन कराकर छोड़ देती है ....। सुघरता, बोलचाल की चतुराई, कविता और संगीत आदि ललित कलाएं और वे सब अलंकारिक बातें जिन्हें हम सभ्य समाज-रूपी पेड़ के फूल समझते हैं महत्त्व के हिसाब से सभ्यता की आधारभूत शिक्षा और सुधार से कम दर्जे की हैं।"*

उक्त विचार से यह स्पष्ट है कि स्पेन्सर अपने समय की शिक्षा को अनुपयोगी समझता था। वह अपने समय के स्कूलों के पाठ्य-क्रम की कड़ी आलोचना करता था

---

* Shikaba Vigyan by Lalji Ram Shukla, page 95.

क्योंकि उनमें व्यावहारिकता का प्रभाव था। स्पेन्सर के पहिले साहित्यिक शिक्षा को प्रधानता दी जाती थी। उस काल में आचरण की सुन्दरता शिक्षा का लक्ष्य बना हुआ था। इसके लिये संसार के ऐसे पुराने साहित्य का अध्ययन किया जाता था में सुन्दर आचरण और विचारों का चित्रण होता था। इस लक्ष्य की त्रुटियों की व्यक्तियों का ध्यान स्पेन्सर ने आकर्षित किया। इस शिक्षा के द्वारा बालकों को न काल के महानुभावों के विचारों का ज्ञान अवश्य हो जाता था परन्तु वे अपनी विका उपार्जन के ज्ञान से वंचित रह जाते थे। स्पेन्सर ने बताया कि उपयोगी की शिक्षा व्यक्ति को आभूषित करने वाली शिक्षा से अधिक महत्त्व की है। द्रता में पड़े हुए व्यक्तियों को किसी प्रकार के सांस्कृतिक सौन्दर्य का ज्ञान कराता र्थक है। उन्हें तो ऐसा ज्ञान देना चाहिए जो उनके जीवन के लिए उपयोगी हो। , उसका कथन है कि बालक को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जो उसके लिये योगी हो, जो उसके जीवन को पूर्णतया सफल बना सके। सफल जीवन वही य व्यतीत कर सकता है जो जीवन के विभिन्न कार्यों को भी भली प्रकार करने योग्यता रखता है।

मानव के कौन-कौन से कार्य हैं और उन्हें भली भांति किस प्रकार किया जा ता है इन बातों पर स्पेन्सर ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। मनुष्य के कार्य नांकित हैं :—

(१) आत्म-रक्षा के कार्य (Activities which directly help in the lf-preservation)।

(२) जीवन को परोक्ष रूप से सुरक्षित रखने वाले कार्य (Those activi- s which, by securing the necessaries of life, indirectly lp in the self-preservation)।

(३) वंश-वृद्धि और शिशु-पालन के कार्य (Those activities which e concerned with family life and the rearing of children)।

(४) सामाजिक और राजनैतिक कार्य (Social and political tivities)।

(५) अवकाश के समय के कार्य (Leisure activities related to the atification of tastes and feelings)।

(१) आत्म-रक्षा के कार्य— मनुष्य का सबसे आवश्यक कार्य, आत्म-रक्षा है। लिये प्रत्येक मनुष्य को वह ज्ञान अवश्य मिलना चाहिए जो उसकी आत्म-रक्षा में युक हो। प्रारम्भ में प्रकृति हमारी रक्षा करती है। वह उन सभी वस्तुओं की वस्था कर देती है जिनसे आत्म-रक्षा हो सके। परन्तु जब हम बड़े हो जाते हैं तो ति के नियमों का पालन नहीं करते। जब हम प्रकृति के स्वाभाविक कार्यों में

बाधा डालते हैं, तभी हमारा जीवन संकट में पड़ जाता है। हम रोगी हो जाते हैं। इन रोगों से बचने के लिये स्पेन्सर शरीर विज्ञान (Physiology) के अध्ययन की राय देता है। उसका विचार है कि बालकों को 'शरीर विज्ञान' (Physiology) तथा 'स्वास्थ्य शिक्षा' (Hygiene) पढ़ानी चाहिए जिससे बालक शरीर से सम्बन्धित साधारण रोगों से परिचित हो जाए और उनसे अपनी रक्षा कर सके। स्पेन्सर का विचार कुछ ठीक नहीं मालूम पड़ता क्योंकि केवल शरीर विज्ञान के ज्ञान से हम स्वास्थ्य रक्षा नहीं कर सकते। स्वास्थ्य रक्षा तथा आत्म-रक्षा के लिये तो हमें कुछ और बातों का भी अध्ययन करना पड़ेगा।

(२) जीवन को परोक्ष रूप से सुरक्षित रखने वाले कार्य—इन कार्यों से स्पेन्सर का तात्पर्य विशेषतः जीविकोपार्जन के कार्यों से है। जीविकोपार्जन के कार्यों की शिक्षा लेना आवश्यक है। बिना इन कार्यों के हम जीवित नहीं रह सकते। अतः हमें किसी न किसी व्यवसाय की शिक्षा लेना आवश्यक है जिससे हम जीविकोपार्जन कर सकें परन्तु किसी भी व्यवसाय की शिक्षा के लिये उससे सम्बन्धित विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है। अतः स्पेन्सर कहता है—"विज्ञान पढ़ाओ, विज्ञान का ज्ञान हमारे लिये बहुत आवश्यक है। यह हमें जीवन के लिये तैयार करता है।" इस प्रकार स्पेन्सर ने परोक्ष रूप से आत्म-रक्षा करने वाले कार्यों के लिए भी प्राकृतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र आदि का अध्ययन आवश्यक बतलाया है।

(३) वंश-वृद्धि और शिशु पालन के कार्य—'स्पेन्सर' के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अथवा माता पिता के लिये सन्तान-रक्षा सम्बन्धी कार्यों का ज्ञान अपेक्षित है। बिना इस ज्ञान के बालकों का उचित पालन-पोषण कठिन है और यदि उनका उचित रूप से पालन-पोषण न हो सका तो उनकी प्रकृति दत्त प्रवृत्तियां अविकसित रह जायेंगी। व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के अविकसित रह जाने पर समस्त जाति का विकास रुक जायगा। इसलिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को वंश-वृद्धि तथा शिशु-पालन सम्बन्धी कार्यों का ज्ञान हो। इसके अतिरिक्त उनको बाल मनोविकास का ज्ञान भी होना चाहिए। इस ज्ञान के अभाव में बालक की योग्यताओं तथा आवश्यकताओं का समझना कठिन है। अतः स्पेन्सर स्कूल में शरीर विज्ञान तथा मनोविज्ञान के शिक्षण की व्यवस्था करना चाहता है। यहां पर स्पेन्सर ने इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया कि बालकों की उक्त विषयों में कोई रुचि नहीं होती है। दूसरे, उनको बचपन में इन बातों का ज्ञान नहीं दिया जा सकता है।

(४) सामाजिक तथा राजनीतिक कार्य— स्पेन्सर शिक्षा द्वारा बालक को उत्तम नागरिक बनाना चाहता है। उसका विश्वास था कि इतिहास के अध्ययन से बालक में वे गुण उत्पन्न हो सकते हैं जिनसे वह सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों को कुशलतापूर्वक कर सकता है। परन्तु इतिहास की प्रचलित पुस्तकों तथा इतिहास

शिक्षण-विधि से वह सन्तुष्ट न था। उसका विश्वास था कि केवल युद्धों के वर्णन तथा राजाओं की जीवनियों के अध्ययन से कोई व्यक्ति अच्छा नागरिक नहीं बन सकता। अतः ऐसे इतिहास की शिक्षा व्यर्थ है। उसने इतिहास के स्वरूप को बदलना चाहा और इस बात पर बल दिया कि इतिहास में जन साधारण के जीवन कार्यों तथा विचारों को स्थान देना चाहिए क्योंकि उनके कार्य तथा विचारों के द्वारा ही हम राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन और कार्यों का पता लगा सकते हैं। अतः यह ज्ञान सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। स्पेन्सर विज्ञान को इतिहास की कुञ्जी मानता है। उसका विश्वास है कि बिना जीवविज्ञान तथा मनोविज्ञान के अध्ययन के मानव स्वभाव तथा प्रवृत्तियों को समझना अत्यन्त कठिन है। इसलिये इतिहास को समझने के लिये उक्त विज्ञानों का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है।

(५) *अवकाश के समय के कार्य*— यद्यपि स्पेन्सर ने अवकाश के समय के कार्यों को अन्य कार्यों के मध्य सबसे कम महत्त्व दिया है तथापि वह अवकाश के समय का सदुपयोग करने के महत्त्व पर बल देता है। अवकाश के सदुपयोग के लिये वह साहित्य, काव्य तथा कला की शिक्षा आवश्यक समझता है। परन्तु उक्त विषयों की अपेक्षा वह विज्ञान को अधिक महत्त्व देता है और विज्ञान को ही उक्त विषयों के अध्ययन का साधन मानता है। वह विज्ञान के बिना कुछ सोच ही नहीं सकता। उसका विचार है कि सौन्दर्य तथा अन्य कलाओं से पूर्ण मनोरंजन प्राप्ति के लिये विज्ञान आवश्यक है। मूर्तिकला के लिए मनुष्य के शरीर की बनावट तथा यन्त्रशास्त्र के नियमों, संगीत में ध्वनियों और कविता के लिये भाषा विज्ञान का अध्ययन अपेक्षित है। इस प्रकार स्पेन्सर ने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सब विषयों, व्यवसायों तथा कलाओं का आधार विज्ञान है। स्पेन्सर का यह विश्वास कि किसी भी कला को सीखने के लिये विज्ञान का ज्ञान आवश्यक है ठीक नहीं जंचता। क्योंकि कला तो भावना की वस्तु है और विज्ञान विवेक की। इसके अतिरिक्त प्रायः देखने में आता है कि कलाकारों को विज्ञान का कुछ भी ज्ञान नहीं होता है।

विज्ञान का महत्त्व तथा उपयोगिता— उपर्युक्त कार्यों के विवरण तथा उनके विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्पेन्सर विज्ञान को सबसे अधिक उपयोगी मानता है। उसकी उपयोगिता सिद्ध करने में वह थकता नहीं। वह सभी प्रकार के कार्यों के लिये विज्ञान का अध्ययन आवश्यक समझता है। स्पेन्सर का कथन है, "एक मनुष्य का जिसका किसी तरह के उद्योग-धन्धो से सम्बन्ध रहता है, किसी न किसी तरह गणित, पदार्थ-विज्ञान तथा रसायन की बातों से अवश्य काम पड़ता है; क्योंकि जितने भी व्यवसाय हैं उनमें काम आने वालों एक भी ऐसी वस्तु नहीं जिनका कुछ न कुछ लगाव इन शास्त्रों से न हो।" उसके अनुसार विज्ञान की शिक्षा से व्यक्ति की स्मरण-शक्ति तथा विचार-शक्ति बढ़ती है। स्पेन्सर कहता है कि मनुष्यों का यह विचार कि

विज्ञान की शिक्षा से व्यक्ति नास्तिक हो जाता है, भ्रमत है। बल्कि इसके विपरीत वह और अधिक आस्तिक हो सकता है क्योंकि ईश्वर और प्रकृति में उसकी श्रद्धा बढ़ जाती है। इस प्रकार विज्ञान व्यक्ति को अधार्मिक नहीं वरन् धार्मिक बनाता है। संसार की समस्त वस्तुओं की सारभूत एकता में उसका विश्वास दृढ़ हो जाता है। विज्ञान की शिक्षा से व्यक्ति में आत्म-निर्भरता तथा आत्म-विश्वास बढ़ता है और उसके हृदय में सत्य के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है इसके अतिरिक्त वह अध्यवसायी हो जाता है। स्पेन्सर ने विज्ञान की शिक्षा के अन्य कई लाभ बताये हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं:—

(१) इस शिक्षा से व्यक्ति वैज्ञानिक कार्य भली-भाँति करने के लिये तैयार हो जाता है।

(२) अनुभव से प्राप्त किया हुआ वैज्ञानिक ज्ञान पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा अधिक महत्त्व का है।

(३) इससे मनुष्य स्वयं सिद्धान्त को निकालता है और उस सिद्धान्त की सत्यता को सिद्ध करता है। इस अभ्यास से उसकी विवेचन-शक्ति बढ़ती है।

(४) विज्ञान की शिक्षा के बिना व्यक्ति जीवन में अपंग बना रहता है। विज्ञान की सहायता के बिना पर्याप्त धनोपार्जन करना सम्भव नहीं और बिना धनोपार्जन के लौकिक दृष्टि से मानव-जीवन को सुखी नहीं बनाया जा सकता। धन ही सब प्रकार की सुख की सामग्रियों को उपस्थित करता है और बिना विज्ञान के धन-संचय करना असम्भव है।

(५) इससे व्यक्ति का नैतिक विकास सम्भव है।

इस प्रकार स्पेन्सर ने वैज्ञानिक शिक्षा को अधिक महत्त्व दिया और उसके विचारों का अनुकरण करके लोग स्कूलों में विज्ञान को प्रधानता देने लगे।

स्पेन्सर की शिक्षा का उद्देश्य

स्पेन्सर ने शिक्षा का उद्देश्य मानव को सम्पूर्ण जीवन के लिए तैयार करना माना है। (To prepare us for complete living is the function which education has to discharge.) उसके अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे बालक भावी जीवन में सफल नागरिक हो सके और अपने जीवन की समस्त आवश्यकताओं को पूरा कर सके। यहां पर स्पेन्सर का तात्पर्य केवल भौतिक आवश्यकताओं से नहीं है वरन् समस्त बौद्धिक, नैतिक तथा शारीरिक आवश्यकताओं से है। इस दृष्टि से वह विज्ञान की शिक्षा उपयोगी समझता है क्योंकि उसका विश्वास था कि विज्ञान की शिक्षा से मनुष्य सम्पूर्ण जीवन के लिये पूर्ण रूप से तैयार किया जा सकता है। विज्ञान की शिक्षा व्यक्ति को प्रत्येक प्रकार के व्यवसाय के लि[illegible] तैयार कर सकती है। परन्तु स्पेन्सर की सम्पूर्ण जीवन की कल्पना [illegible]

संकीर्ण कल्पना है। वह एक जड़वादी कल्पना है। उसमें आध्यात्मिक शिक्षा के लिये कोई स्थान नहीं है। यदि मनुष्य को नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा न दी जायगी तो वह संपूर्ण जीवन के लिये तैयार नहीं किया जा सकता।

स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा-पाठ्यक्रम

स्पेन्सर महोदय का कथन है कि बालक की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे बालक सम्पूर्ण जीवन को प्राप्त कर सके। सम्पूर्ण जीवन वही मनुष्य पा सकता है जिसमें विभिन्न प्रकार के कार्यों को करने की क्षमता है। अतः उसके अनुसार पाठ्य-क्रम में वे ही विषय होने चाहिएं जिनकी शिक्षा से बालक पूर्वकथित पांच कार्यों को करने की योग्यता प्राप्त कर सके। इस दृष्टि से स्पेन्सर ने निम्नांकित विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान दिया है :—

(१) आत्म-रक्षा के कार्य के लिये—फिज़ियालाजी और हाईजीन (Physiology and Hygiene.)

(२) जीविकोपार्जन के लिये भाषा ज्ञान, गणित, भूगोल तथा पदार्थ-विज्ञान (Language, Arithmetic, Geography and Physical Science.)

(३) शिशु-रक्षा के लिये— गृह-शास्त्र, शरीर विज्ञान तथा बाल-मनोविज्ञान (Domestic Science, Physiology and Child Psychology.)

(४) सामाजिक तथा राजनैतिक कार्य के लिये— इतिहास, समाज-शास्त्र तथा अर्थशास्त्र (History, Sociology and Economics)

(५) अवकाश के लिये— साहित्य, संगीत, कविता तथा कला (Literature, Music, Poetry and Fine Arts)

स्पेन्सर का कथन है कि बालकों के शिक्षा-क्रम में विभिन्न पाठ्य-विषयों को वैसा ही महत्त्व देना चाहिए जैसा कि जीवन में तत्सम्बन्धी आवश्यकताओं का महत्त्व है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्पेन्सर महोदय वैज्ञानिक विषयों को कला और साहित्य की अपेक्षा अधिक उपयोगी समझते हैं। वे इससे भी आगे बढ़ जाते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि कला और साहित्य का अध्ययन विज्ञान के बिना असम्भव है। उनका विश्वास है कि सभी प्रकार के विषयों की शिक्षा के लिये विज्ञान की शिक्षा आवश्यक है।

स्पेन्सर ने पाठशालाओं में दिये जाने वाले ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया है— (१) उपयोगी, और (२) आभूषक। उपयोगी ज्ञान के अन्तर्गत वह विज्ञान के उन सभी विषयों को रखता है जो जीवन के लिये उपयोगी हैं। इसके विपरीत साहित्य, संगीत, काव्य आदि को वह आभूषक ज्ञान की संज्ञा देता है। स्पेन्सर उसी

शिक्षा को वास्तविक मानता है जो उपयोगी है। इस प्रकार स्पेन्सर के अनुसार पाठ्य-विषय की कसौटी उपयोगिता है।

स्पेन्सर के शिक्षा-सिद्धान्त

स्पेन्सर ने अपने लेख 'बौद्धिक-शिक्षा' (Mental Education) में अपने शिक्षा-सिद्धान्तों की व्याख्या की है। इन सिद्धान्तों में उसकी कोई विशेष मौलिकता नहीं है। उसने पेस्टालाजी, हरबार्ट तथा फ्रोबेल के सिद्धान्तों को अपनाया है। उसका विचार है कि बालक की शिक्षा उसके मानसिक विकास की अवस्था के अनुसार होनी चाहिए। उसके अनुसार शिक्षण-सिद्धान्त निम्नांकित हैं :—

(१) 'सरल से कठिन की ओर' (From easy to difficult.)

(२) 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' (From known to unknown.)

(३) 'स्थूल से सूक्ष्म की ओर' (From concrete to abstract.)

(४) 'अनिश्चित से निश्चित की ओर' (From indefinite to definite.)

(५) 'प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर' (From direct to indirect.)

(६) 'जिस क्रम से मानव सभ्यता का विकास हुआ है उसी क्रम से बालकों की शिक्षा होनी चाहिए' (Follow Culture Epoch Theory.)

(७) 'प्रयोगात्मक से बुद्धिपरक की ओर' (From empirical to rational.)

(८) 'स्वतः सीखने पर बल' (Emphasis upon self-learning.)

(९) 'पाठन-प्रणाली रुचिकर तथा मनोरंजक हो' (Methods of teaching should be pleasing and interesting.)

उक्त सिद्धान्त सरल हैं। पाठक उनसे भली-भांति परिचित हो चुके हैं। अतः उनकी व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इन सभी सिद्धान्तों का आधार मनोविज्ञान है। शिक्षक के लिये यह आवश्यक है कि वह बालक की शिक्षा का आयोजन उसकी स्वाभाविक मनोवृत्तियों तथा अवस्थाओं के अनुसार करे। 'प्रयोगात्मक से बुद्धिपरक की ओर' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके स्पेन्सर ने शिक्षण-पद्धति को वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया है।

स्पेन्सर के नैतिक शिक्षा सम्बन्धी विचार

स्पेन्सर बालक के स्वभाव में विश्वास नहीं करता। उसका विश्वास था कि बालक का स्वभाव आदिम-मानव से मिलता-जुलता है। इसलिये शिक्षा द्वारा उसकी बुरी प्रवृत्तियों को बदलना चाहिए। शिक्षा द्वारा उसमें ऐसे संस्कार और आदतें डालनी चाहिए जो सामाजिकता तथा सभ्यता की दृष्टि से उत्तम हों। दूसरे शब्दों में शिक्षा द्वारा उसका नैतिक विकास करना चाहिए। बालक के नैतिक विकास के लिये

माता-पिता बहुत कुछ कर सकते हैं। उनको चाहिए कि वे बालक के स्वभाव को समझें, उसे अच्छी-अच्छी बातें सिखायें और उसमे अच्छी-अच्छी आदतें डालें। व्याख्यान से उदाहरण कहीं अधिक उत्तम है। इसलिए माता-पिता को चाहिए कि वे स्वयं सदाचरणशील रहें और बालक को अपने आचरण से प्रभावित करें। इस प्रकार माता-पिता बालक के नैतिक विकास मे सहायक हो सकते हैं। रूसो की भाँति स्पेन्सर का भी यही विश्वास था कि नैतिक शिक्षा के लिये सब लोगों को प्रकृति का ही अनुसरण करना चाहिए।

स्पेन्सर के अनुशासन सम्बन्धी विचार अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं। वह इस विषय मे रूसो का अनुयायी था और 'प्राकृतिक दण्ड व्यवस्था' (Punishment by Natural Consequences) के सिद्धान्त में विश्वास करता था। उसका विचार था कि यदि कोई व्यक्ति प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करता है तो प्रकृति उसे अवश्य दण्ड देती है। जैसे यदि कोई बालक आग में हाथ डालता है तो उसका हाथ जल जाता है। अगर कोई बालक चाकू से खेलता है तो उसका हाथ कट जाता है। इस प्रकार बालक को प्रत्येक नैतिक अपराध पर प्राकृतिक दण्ड मिलता है। प्रकृति मे अनुशासन स्थापन की शक्ति है। उसके नियमों का पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ता है। स्कूल के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य है। इसलिये यदि कोई बालक अपराध करता है तो उसे अवश्य दण्ड मिलना चाहिए। इस प्रकार अनुशासन स्थापन के लिये स्पेन्सर प्राकृतिक दण्ड व्यवस्था का समर्थन करता है। परन्तु स्पेन्सर का उपर्युक्त सिद्धान्त ठीक नहीं मालूम होता क्योंकि प्राकृतिक दण्ड की एक सीमा होती है। चाकू से खेलने का परिणाम बड़ा घातक भी हो सकता है। फिर हम उसे चाकू से खेलते कैसे देख सकते हैं ? हमें यह ध्यान रखना है कि दण्ड कहीं घातक न हो जावे। इसके अतिरिक्त दण्ड देते समय हमें बालक द्वारा किये गये बुरे कार्य के अभिप्राय को देखना है। यदि उसका अभिप्राय बुरा नहीं है तो दण्ड देने के बजाय उसे समझाना उत्तम होगा। अतः हम स्पेन्सर के सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन नहीं कर सकते।

यद्यपि स्पेन्सर 'प्राकृतिक दण्ड व्यवस्था' का समर्थन करता है तथापि वह बालक के साथ कठोर व्यवहार करने का विरोध करता है। उसकी राय है कि बालक के साथ कभी कठोरता का व्यवहार नहीं करना चाहिए। कठोरता से बालक में सुधार न होकर बुराई आती है। इस सम्बन्ध में स्पेन्सर ने अपनी 'शिक्षा' (On Education) नामक पुस्तक में लिखा है—"सच तो यह है कि सख्ती से सख्ती और नरमी से नरमी पैदा होती है। द्वेष से द्वेष उत्पन्न होता है और प्रीति से प्रीति। जिन बच्चों के साथ कठोरता का व्यवहार किया जाता है वे निष्ठुर हो जाते हैं। पर जिनसे यथेष्ट सहानुभूति रखी जाती है उनमें सहानुभूति उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। प्रेमपूर्वक बर्ताव करने से बच्चों में भी प्रेम का भाव उदय होता है। राजकीय व्यवस्था की तरह कुटुम्ब व्यवस्था

में भी अत्यन्त कठोर नियम यद्यपि अपराधों को बन्द कराने के लिये ही बनाये जाते हैं, तथापि बहुत से अपराध उन्हीं के कारण होते हैं। परन्तु इसके विपरीत सौम्य और उदार नियम लड़ाई झगड़े की बहुत सी बातों को पैदा ही नहीं होने देते। वे मनुष्य के विचारों को इतना सौम्य और शान्त कर देते हैं कि औरों का अपराध करके उन्हें हानि पहुंचाने की प्रवृत्ति बहुत कम हो जाती है।"* इस प्रकार स्पेन्सर बालकों के साथ प्रेम, दया तथा सहानुभूति का व्यवहार करने की आवश्यकता पर अत्यधिक बल देता है।

शारीरिक शिक्षा सम्बन्धी विचार

स्पेन्सर बालक के बौद्धिक विकास के साथ-साथ उसके शारीरिक विकास पर भी बल देता है। वह बालक के शारीरिक विकास की उतनी ही आवश्यकता समझता है जितनी मानसिक विकास की। वह शारीरिक विकास सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखता है, "सब लोग गाय, बैल, घोड़े तक के खाने-पीने का स्वयं प्रबन्ध करते हैं, स्वयं ही उनका निरीक्षण करते है। वे इस बात को भी देखते रहते हैं कि उन्हें किस प्रकार रखा जाय कि हृष्ट-पुष्ट रहें। परन्तु अपने बच्चों के पालन-पोषण और खिलाने-पिलाने पर उतना ध्यान नहीं देते—यह कितने आश्चर्य की बात है!"† स्पेन्सर ने अपने समय की शारीरिक शिक्षा को दोष-पूर्ण बतलाया। उसके अनुसार शारीरिक शिक्ष-प्रणाली मे चार दोष हैं:— १. बालकों से मानसिक परिश्रम अधिक कराया जाता है, २. उन्हें व्यायाम करने का अवसर नहीं दिया जाता, ३. उनको अच्छा और पौष्टिक भोजन नहीं मिलता, ४. उन्हें पहनने के लिये साफ-सुथरे तथा उचित कपड़े नहीं मिलते। उसने उक्त विचारों द्वारा बालक के अभिभावकों का ध्यान उसकी शारीरिक शिक्षा की ओर आकर्षित किया और इस बात को स्पष्ट कर दिया कि बालक की सफलता उसके स्वास्थ्य पर निर्भर होती है। अत: सब व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि वे बालक के मानसिक विकास के साथ उसके शारीरिक विकास पर भी ध्यान दें। स्पेन्सर ने शारीरिक शिक्षा को भी वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित किया और इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विचारों का प्रतिपादन किया।

(१) बालकों को एक ही प्रकार का भोजन न देना चाहिए।
(२) खाने के समय उन्हें डाँटना अथवा फटकारना अनुचित है।
(३) उनके कपड़ों का ध्यान रखना चाहिऐ।
(४) उन्हें स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षा मिलनी चाहिये।
(५) स्कूल के कार्यक्रम में व्यायाम को स्थान देना चाहिए।

* Spencer, Essay on Education, p. 180.
शिक्षा—अनुवादक महावीर प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ २७६-२८०
† History of Western Education by Dr. S. P. Chaubey, p.203.

स्पेन्सर के मत की आलोचना

स्पेन्सर महोदय की पूर्ण जीवन की कल्पना संकीर्ण मालूम पड़ती है। उसकी शिक्षा-योजना में धर्म के लिये कोई स्थान नहीं है। उसने अपने पाठ्य-क्रम में उन विषयों को कोई महत्त्व का स्थान नहीं दिया जो मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति करने वाले हैं। अतएव उसकी शिक्षा-प्रणाली से व्यक्ति व्यवहार-कुशल भले ही बन जाय परन्तु वह धार्मिक तथा सदाचारी न हो सकेगा। धार्मिक तथा सदाचारी प्रवृत्तियों के अभाव में वह सम्भवतः स्वार्थी बनेगा। मनुष्य को नैतिक बनाने के लिये धर्म की शिक्षा आवश्यक है।

स्पेन्सर ने अपने पाठ्य क्रम में क्रान्तिकारी परिवर्तन किए। उसने पाठ्य-क्रम में विज्ञान को प्रमुख और कला तथा साहित्य को गौण स्थान दिया। वह शिक्षा के सर्वोच्च आदर्श के अनुकूल नहीं है। कला, साहित्य तथा संगीत की जीवन में उतनी ही आवश्यकता है जितनी विज्ञान की। कला, साहित्य तथा संगीत का अभाव बर्बरता का प्रमाण माना जाता है। इनसे विमुख होने पर मनुष्य विनाश की ओर अग्रसर होता है। अतएव इनको बालक की शिक्षा में महत्त्व का स्थान मिलना चाहिये। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी उसकी शिक्षा के विषयों का क्रम ठीक नहीं है। बालक फिजियालाजी तथा हाईजीन की अपेक्षा कला तथा संगीत में विशेष रुचि रखता है। यदि उसकी शिक्षा उसकी रुचि के अनुकूल होनी है तो पहले उसे कला, संगीत तथा साहित्य की शिक्षा मिलनी चाहिए।

हरबर्ट स्पेन्सर द्वारा प्रवर्तित शिक्षा-प्रणाली का विरोध करते हुए रूस के प्रसिद्ध लेखक टालसटाय ने लिखा है, "इस प्रणाली से मनुष्य के व्यक्तित्व के उन भावों का विकास नहीं होता जो मनुष्य को मनुष्य के साथ शान्तिपूर्वक रहने की क्षमता प्रदान करते हैं।" टालसटाय के इस कथन में पर्याप्त सत्य है। विज्ञान से मनुष्य को सभी कुछ सिखाया जाता है परन्तु उसे अपने पड़ौसी के साथ रहना नहीं सिखाया जाता। इस तरह विज्ञान की शिक्षा मनुष्य को शक्ति तथा धन देती है, शान्ति नहीं। शक्ति तथा धन-संचय से व्यक्ति अथवा राष्ट्र का अभिमान बढ़ जाता है फिर वह समाज के साधारण लोगों का तिरस्कार करने लगता है। फलतः राष्ट्रों तथा व्यक्तियों में संघर्ष और युद्ध होते हैं जिनसे सैकड़ों वर्षों की कमाई सम्पत्ति का विनाश होता है। इस प्रकार बुद्धि, बल और धन की वृद्धि जब बिना हृदय की पवित्रता के हो जाती है तब वह व्यक्तियों तथा राष्ट्रों के विनाश का कारण बन जाता है। स्पष्ट है कि स्पेन्सर का उपयोगितावाद अत्यन्त ही बुरा है। आत्मा की पवित्रता तथा शान्ति के लिए मनुष्य के हृदय की शिक्षा भी आवश्यक है। महात्मा गांधी ने भी अपनी बेसिक शिक्षा प्रणाली में विज्ञान की शिक्षा को महत्त्व का स्थान नहीं दिया है। वे चाहते हैं कि बालक हाथ के काम-धन्धे करते हुए गांव में ही सन्तोषपूर्वक जीवन व्यतीत करें।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्पेन्सर ने वैज्ञानिक विषयों को आवश्यक अधिक महत्त्व दिया है। चूंकि उसने सांसारिक सुख तथा जीविकोपार्जन वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है इसलिये उसे 'उपयोगितावादी' कहते हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि उसे उपयोगिता कहना उसके प्रति अन्याय करना है। उनका विचार है कि स्पेन्सर का विज्ञान-सम्बन्धी दृष्टिकोण अधिक उदार था। उसकी विज्ञान की परिभाषा में सामाजिक, राज तथा नैतिक विषय भी आ जाते हैं।

स्पेन्सर ने शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सम्पूर्ण जीवन के लिए तैयार माना है। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री डयूवी (Dewey) इस मत का विरोध करता उसके अनुसार 'शिक्षा जीवन की तैयारी नहीं वरन् स्वयं जीवन है।' इस प्रगतिवादी स्पेन्सर की शिक्षा के उद्देश्य से सहमत नहीं है। स्पेन्सर के अनुसार सम्बन्धी विचार भी दोषरहित नहीं है। यह पहले ही बताया जा चुका 'प्राकृतिक दण्ड व्यवस्था' में कुछ अपने ही दोष हैं।

स्पेन्सर का प्रभाव

स्पेन्सर वैज्ञानिक प्रगति का सबसे बड़ा प्रवर्तक था। उसके शिक्षा-सिद्धान्तों वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पर प्रभाव स्पष्ट है। अब पाठ्य-क्रम में विज्ञान को स्थान दिया जाता है। अब पाठ्य-क्रम को जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप का प्रयत्न किया जाता है। उसके शिक्षा-सिद्धान्तों में रूसो, पेस्टालाजी, हरबार्ट, आदि शिक्षा शास्त्रियों के शिक्षा सिद्धान्तों का निचोड़ निहित है। इस लिए यह जाता है कि स्पेन्सर ने शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार पर शिक्षा के वैज्ञानिक सि का प्रयास किया है। स्पेन्सर के विचारों से अनेक शिक्षा-शास्त्री प्रभावित हुए जि हक्सले (Huxley) तथा इलियट (Eliot) प्रमुख थे। हक्सले ने वैज्ञानिक शिक्षा समर्थन किया और यह बतलाया कि जितनी साहित्य-शिक्षा दी जा रही है वह व्यर्थ है। उसने पाठ्य-क्रम में विज्ञान को स्थान दिलाने के लिए प्रयत्न किया। सम्बन्ध में उसने कई लेख लिखे जिनके द्वारा उसने मनुष्य जीवन में विज्ञान उपयोगिता को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया। हक्सले तथा विज्ञान के अन्य समर्थकों यह तर्क दिया है कि मनुष्य की कुशलता और उसके सुख के लिये प्रकृति का ज्ञा आवश्यक है और प्रकृति का वास्तविक ज्ञान हम विज्ञान के द्वारा ही प्राप्त हो सक है। इस प्रकार स्पेन्सर के अनुयायियों ने और विशेषतः हक्सले ने वैज्ञानिक प्रवृत्ति को बढ़ावा जिससे पाठ्यक्रम में विज्ञान को स्थान दिया जाने लगा। धी धीरे [illegible], [illegible], [illegible] तथा [illegible] की प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा में विज्ञान को स्थान मिल गया। वैज्ञानिक आन्दोलन के फलस्वरूप [illegible] की अनेक पाठ्य-पुस्तकों का महत्त्व बढ़ गया। परन्तु वैज्ञानिक आन्दोलन के फलस्व

सभी प्रवर्तक मानसिक शक्तियों के सिद्धान्त में विश्वास करते थे इसलिये उन्होंने इस बात पर बल दिया कि वैज्ञानिक विषयों द्वारा मानसिक शक्तियों का विकास सम्भव है। दूसरे शब्दों में उन्होंने विज्ञान को मानसिक शक्तियों के विकास का साधन माना। इससे यह स्पष्ट है कि मानसिक शक्तियों के सम्बन्ध में जो रूढिगत विश्वास चला आ रहा था उसका प्रभाव इन वैज्ञानिकों पर प्रबल था। वैज्ञानिक आन्दोलन का प्रभाव विषयों के शिक्षण पर भी पड़ा। विभिन्न विषयों की शिक्षण विधियों को वैज्ञानिक बनाने का और उनके तथ्यों को सुव्यवस्थित रूप में बालको के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया।

प्रश्न

(१) शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

(२) हरबर्ट स्पेन्सर के 'प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुशासन' (Discipline of natural consequences) के सिद्धान्त के गुण-दोष का विवेचन कीजिए और बताइये कि किस सीमा तक उन्हें सलाभ व्यवहार मे लाया जा सकता है।

(३) स्पेन्सर ने साहित्यिक विषयो के ऊपर वैज्ञानिक विषयों की श्रेष्ठता किस प्रकार स्थापित की ? इस सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट कीजिए।

(४) व्यावहारिक शिक्षा के सिद्धान्तो के हक में स्पेन्सर की देन का मूल्यांकन कीजिए।

बारहवाँ अध्याय

सामाजिकतावाद अथवा समाजतत्ववाद

(Sociological Tendency in Education)

ऐतिहासिक भूमिका— व्यक्तिवाद तथा सामाजिकतावाद का प्रश्न अत्यन्त ही प्राचीन है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करना है अथवा उसे समाज के लिये तैयार करना है। शिक्षा के उद्देश्य के अध्याय में इस प्रश्न पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है, अतः इसकी फिर से व्याख्या करना व्यर्थ है। यदि हम शिक्षा के इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टिपात करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिक्षा में कभी सामाजिकतावाद की प्रधानता रही है तो कभी व्यक्तिवाद की। प्राचीन स्पार्टा राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को समाज के लिये तैयार करना था। रोम की शिक्षा में व्यक्ति तथा समाज हित का सामंजस्य था। व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर दिया जाता था ताकि वह समाज के विकास में योग दे सके। मध्यकाल में व्यक्ति को कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं थी। वह धार्मिक परम्पराओं, अन्ध-विश्वासों तथा चर्च की सत्ता के चंगुल में फँसा हुआ था। सत्रहवीं तथा अट्ठारहवीं शताब्दी में व्यक्तिवाद का बोलवाला था। उन्नीसवीं शताब्दी में बालक के मनोविकास के अध्ययन पर बल दिया गया ताकि शिक्षा-पद्धति उसके मनोविकास के अनुरूप बनाई जा सके। फलतः शिक्षा-पद्धति में सुधार हुआ। इसी के साथ उन्नीसवीं शताब्दी में रूसो की व्यक्तिवाद की धारा की प्रतिक्रिया के स्वरूप सामाजिकतावादी विचारधारा का प्रवाह प्रारम्भ हुआ जिसने व्यक्ति को बदलते हुए समाज में रहने के लिए तैयार करने की आवश्यकता पर बल दिया। इसके परिणामस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र अर्थात् शिक्षा संगठन, प्रबन्ध, पाठ्य-वस्तु, शिक्षण-पद्धति आदि में कई परिवर्तन हुए।

सामाजिकतावाद के विकास के कारण— (१) शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य के अनुसार शिक्षा का प्रमुख कर्तव्य मानव संस्कृति तथा सभ्यता को पीढ़ी दर-पीढ़ी अक्षुण्ण रखना तथा उसका विकास करना है। शिक्षा का यह कर्तव्य चिरकाल से ही सर्वमान्य है। कुछ समय के लिये इस उद्देश्य की प्रधानता अवश्य कम हो गई थी परन्तु इसका अन्त कभी नहीं हुआ। अतः यह उद्देश्य सदा से ही लोगों का ध्यान सामाजिकता की ओर आकर्षित करता रहा है।

(२) सत्रहवीं शताब्दी के प्रकृतिवाद से सामाजिकतावादी प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। इस काल में 'आगस्ट कोम्टे' (Auguste Comte) ने एक नए विषय की रचना की जिसे उसने समाज-विज्ञान की संज्ञा दी। समाज-विज्ञान के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को समाज के लिये तैयार करना है। धीरे-धीरे व्यक्तियों का शिक्षा

के उक्त लक्ष्य में विश्वास बढ़ता गया। इस प्रकार सामाजिकतावाद की प्रवृत्ति का जन्म हुआ।

(३) अट्ठारहवीं शताब्दी में योरप में एक महान् व्यवसायिक तथा औद्योगिक क्रान्ति हुई। इसके फलस्वरूप नये-नये समाजों की रचना हुई और जीवन के आदर्शों में भी परिवर्तन दिखलाई पड़ने लगा। अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त तक लेखकों तथा राजनीतिज्ञों के विचारों में भी परिवर्तन हो गया। लेखकों तथा राजनीतिज्ञों का ध्यान जन-साधारण तथा श्रमजीवियों की ओर आकर्षित हुआ और वे उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न करने लगे। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण सामाजिक हो गया।

(४) अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में प्रजातन्त्र का चारों ओर विकास हुआ। इस समय के राजनीतिज्ञों ने अनुभव किया कि प्रजातन्त्र के स्थायित्व में जन-साधारण का सहयोग आवश्यक है। यह सहयोग तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि जनसाधारण के रहने का, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति का तथा उनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जाय। इस प्रकार राजनीतिज्ञों ने अनुभव किया कि प्रजातन्त्र की स्थापना के लिये जनसाधारण की शिक्षा आवश्यक है। इन सब विचारों का शिक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ा और शिक्षा का प्रधान उद्देश्य समाज-हित बन गया। इस प्रकार शिक्षा में सामाजिकतावाद की लहर प्रबल हो उठी। व्यक्तिवाद का विरोध किया गया। व्यक्ति और समाज की अभिन्नता पर बल दिया गया और शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को योग्य तथा कुशल नागरिक बनाना माना गया जिससे वह समाज का हित कर सके।

सामाजिकतावाद तथा अन्य प्रवृत्तियाँ

प्रकृतिवाद के परिणामस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में तीन प्रवृत्तियों का जन्म हुआ—(१) मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति, (२) वैज्ञानिक प्रवृत्ति, तथा (३) सामाजिकतावाद की प्रवृत्ति। सामाजिकतावाद की प्रवृत्ति को पूर्ण रूप से समझने के लिये मनोवैज्ञानिक तथा वैज्ञानिक प्रवृत्ति से उसकी तुलना आवश्यक है।

सामाजिकतावाद और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति—मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के तीन मुख्य प्रवर्तक थे—(१) पेस्टालाजी, (२) हरबार्ट, और (३) फोबेल। ये शिक्षा-शास्त्री शिक्षा के लिये बालक की प्रवृत्ति का अध्ययन आवश्यक समझते थे और उन्हीं के अनुसार पाठन-विधि का परिष्कार करना चाहते थे। परन्तु हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनका अन्तिम उद्देश्य लोक-हित था। रूसो की शिक्षा का भी अन्तिम उद्देश्य जन-साधारण की स्थिति को सुधारना था। इस प्रकार सामाजिकतावाद की प्रवृत्ति भी रूसो के प्रकृतिवाद से ही विकसित हुई है। पेस्टालाजी बालक को इस प्रकार की शिक्षा देना चाहता था कि वह अपना, अपने परिवार का, समाज तथा

राष्ट्र का कल्याण कर सके। इस प्रकार पेस्टालाजी ने शिक्षा को समाज-हित का साधन माना। उसका एकमात्र उद्देश्य समाज की सेवा करना था। वह लोगों के दुःख, कष्ट तथा गरीबी को दूर करना चाहता था। वह बालकों को किसी व्यवसाय की शिक्षा देना चाहता था जिससे वे जीविकोपार्जन कर सकें। वह शिक्षा द्वारा व्यक्ति का जीवन सुधारना चाहता था जिससे कि वह समाज हित के कार्य में योग दे सके। उसने अपने 'मान्दवांग' अथवा 'सहानुभूति के सिद्धान्त' के द्वारा इस बात पर बल दिया कि केवल पाठशाला में ही शिक्षा प्राप्त नहीं की जा सकती, हमारे चारों ओर फैली हुई प्रकृति भी एक बड़ी पाठशाला है, इसमें आँखें खोलकर चलने पर हमें ज्ञान का भण्डार मिल सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पेस्टालाजी ने शिक्षा को समाज-सुधार तथा उन्नति का साधन माना। इस प्रकार पेस्टालाजी ने शिक्षा में सामाजिकतावाद की प्रवृत्ति का बीजारोपण किया।

हरबार्ट शिक्षा द्वारा व्यक्ति का नैतिक विकास करना चाहता था। उसका विचार था कि नैतिक विकास के उपरान्त व्यक्ति स्वतः ही जनसाधारण, समाज तथा राष्ट्र के कल्याण के लिये प्रयत्नशील रहेगा। इस प्रकार वह व्यक्ति के नैतिक विकास द्वारा लोक-कल्याण की कामना करता है। दूसरे शब्दों में वह व्यक्ति को समाज-हित के लिये शिक्षित करना चाहता है। इसी प्रकार फ्रोबेल की विचार धारा में भी हम सामाजिकतावादी प्रवृत्ति पाते हैं। वह तो पाठशाला को समाज का एक लघु रूप मानता है। उसने अपनी 'किन्डर-गार्टन' पद्धति में शिक्षा के सामाजिक अङ्ग को प्रधानता दी है। उसने इस बात पर बल दिया कि शिक्षा को हम जीवन से पृथक् नहीं कर सकते। उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पेस्टालाजी, हरबार्ट तथा फ्रोबेल ने शिक्षा को सामाजिक उत्थान का महत्वपूर्ण साधन माना। अतः वे सब लोकहितवादी थे।

सामाजिकतावाद तथा वैज्ञानिक प्रवृत्ति—वैज्ञानिक प्रवृत्ति में भी हमें लोक-हित की झलक स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। इस प्रवृत्ति के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को भावी जीवन के लिये तैयार करना है जिससे वह अपना जीवन सुख से बिता सके। विज्ञानवादी व्यक्ति के जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ध्यान देते हैं जिससे वह समाज में सुख से रह सके। वे समाज की विभेद-व्यवस्था को मिटाकर सामाजिक उन्नति में प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार विज्ञानवादी भी लोकहितवादी हैं। स्पष्ट है कि वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने सामाजिकतावादी प्रवृत्ति के प्रसार में अपना योग दिया है। विज्ञानवाद और सामाजिकतावाद में हमें बड़ी समानता दिखलाई पड़ती है। दोनों मानव-कल्याण के हेतु शिक्षा में सुधार करना चाहते हैं। दोनों ने दमन पद्धति का खण्डन किया। पाठ्य-वस्तु में भी दोनों ही परिवर्तन करना चाहते हैं। दोनों ही समाज की विभेद व्यवस्था का अन्त करना चाहते हैं। दोनों ही इस बात के पक्ष में हैं कि बालकों को प्रकृति-विज्ञान तथा समाज-विज्ञान का अध्ययन कराया जाय। दोनों

में अन्तर केवल इतना है कि विज्ञानवाद विज्ञान को अधिक महत्त्व देता है और सामाजिकतावाद समाज-विज्ञान को। वैज्ञानिकों के लिये विज्ञान सब कुछ है। वे व्यक्ति का उद्धार विज्ञान से करना चाहते हैं। यहाँ विज्ञानवादी व्यक्तिवादी प्रतीत होते हैं। वे व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता देना चाहते हैं। सामाजिकतावादी प्रवृत्ति के समर्थक व्यक्ति को समाज का एक अङ्ग मानते हैं और लोक-हित अथवा समाज-हित की भावना को अपने सामने रखते हैं और उसी के अनुसार व्यक्ति की शिक्षा की व्यवस्था करना चाहते हैं। उनकी धारणा है कि व्यक्ति को ऐसी शिक्षा दी जाय कि वह सुन्दर जनतन्त्र स्थापित कर सके। परन्तु इस उद्देश्य-भेद के होते हुए भी दोनों प्रवृत्तियों का लक्ष्य एक ही है-- वह है समाज-कल्याण। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित है कि व्यक्ति और समाज में काई विशेष अन्तर नहीं है। वे एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं। व्यक्ति से समाज बनता है और समाज से व्यक्ति बनते हैं। व्यक्ति के विकास से समाज का कल्याण होता है और समाज के विकास से व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर मिलता है। स्पष्ट है कि शिक्षा की दोनों ही प्रवृत्तिया एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।

सामाजिकतावादी प्रवृत्ति की विशेषताएँ

(१) सामाजिकतावाद के समर्थकों के अनुसार शिक्षा द्वारा व्यक्ति को कुशल सामाजिक जीवन के लिये तैयार करना है। वे शिक्षा के लिये सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक कार्यों तथा सामाजिक आवश्यकताओं का अध्ययन आवश्यक समझते हैं। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को समाज के समस्त आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यों में भाग लेने तथा अपने उत्तरदायित्व का पालन करने योग्य बनाता है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति को इस योग्य बनाता है कि वह सामाजिक जीवन सफलतापूर्वक व्यतीत कर सके।

(२) जहाँ कि मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने शिक्षा में व्यक्ति तथा पाठन-विधि को महत्त्वपूर्ण माना है वहाँ समाजतत्त्वविदों ने शिक्षा के पाठ्य-क्रम, सामाजिक जीवन, सामाजिक आवश्यकताओं, पदार्थों की प्रचुरता आदि पर बल दिया है।

(३) सामाजिकतावादी प्रवृत्ति पाठ्य-वस्तु में परिवर्तन करने की आवश्यकता पर अधिक बल देती है। यह प्रवृत्ति सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार विषयों का चयन करती है और व्यक्तिगत रुचियों तथा हितों की उपेक्षा करती है। यह प्रवृत्ति अपने उद्देश्य के अनुकूल शिक्षा के पाठ्य-क्रम में साहित्यिक विषयों को कम तथा सामाजिक विषयों को अधिक महत्त्व का स्थान देती है। इसने प्राकृतिक-विज्ञान तथा समाज-विज्ञान को शिक्षा के पाठ्य-क्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इस प्रवृत्ति के अनुसार शिक्षा को केवल कुछ ही विषयों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं रखना है बल्कि व्यापक सामाजिक जीवन को संक्षेप में प्रस्तुत करने योग्य बनाना है।

(Education is not to be confined to the study of a few subjects alone but is to present an epitomised study of the diversified social life) इस प्रवृत्ति के प्रभाव के फलस्वरूप ही बालक को किन्डर-गार्टन से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षा की प्रत्येक अवस्था के लिये सामाजिक विषयों के अध्ययन पर बल दिया जाता है।

(४) इस प्रवृत्ति के अनुसार शिक्षा सामाजिक उन्नति का सबसे उत्तम साधन है। समाज के सदस्य होने के नाते हम सबका यह कर्तव्य है कि हम सामाजिक उन्नति में अपना योग दें। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया जाय। इस प्रकार यह प्रवृत्ति सार्वजनिक शिक्षा के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। इस सिद्धान्त के आधार पर अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था पर बल दिया गया है।

(५) यह प्रवृत्ति प्रजातन्त्र शासन का समर्थन करती है। इसके अनुसार प्रजातन्त्र शासन के स्थायित्व के हेतु जन-साधारण की शिक्षा का प्रबन्ध करना आवश्यक है। इस प्रकार यह प्रवृत्ति सरकार से यह मांग करती है कि वह जन साधारण की शिक्षा की व्यवस्था करे। दूसरे शब्दों में यह प्रवृत्ति राज्य कर्णधारों तथा राजनीतिज्ञों का ध्यान सार्वजनिक शिक्षा की ओर आकर्षित करती है और उन्हें अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिये प्रेरित करती है। राज्य-शिक्षा-प्रणाली (State Education System) का संगठन इसी का परिणाम है। अब शिक्षा एक सामाजिक कार्य समझा जाता है और राज्य द्वारा इसकी व्यवस्था की जाती है।

(६) सामाजिकतावाद की प्रवृत्ति व्यक्तिवाद का विरोध करती है। यह व्यक्ति की अपेक्षा समाज पर अधिक बल देती है और समाज हित को व्यक्ति हित से ऊंचा समझती है। इस विचार के अनुसार सत्रहवीं तथा अट्ठारहवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद का अन्त कर दिया गया। इसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य समाज हित माना गया है। यह प्रवृत्ति व्यक्ति और समाज के भेद को दूर करने का प्रयत्न करती है और शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को योग्य नागरिक बनाना मानती है।

(७) वैज्ञानिक प्रवृत्ति की भांति यह प्रवृत्ति भी व्यवसायिक शिक्षा पर बल देती है। सफल जीवन-यापन के हेतु प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी व्यवसाय की शिक्षा देना आवश्यक समझती है।

(८) यह प्रवृत्ति आधुनिक सामाजिक जीवन की जटिलता को विद्यार्थियों के समक्ष स्पष्ट करने की आवश्यकता पर बल देती है ताकि वे समाज में रहकर जिस मार्ग का अनुसरण करना चाहते हैं उसे स्वयं चुन लें।

समाजशास्त्र और शिक्षा

समाजशास्त्र के साहित्य में शिक्षा का एक महत्वपूर्ण स्थान है। समाजशास्त्र ने

शिक्षा के अनेक कार्य बतलाये हैं। मुनरो ने अपने ग्रन्थ 'ब्रीफ कोर्स इन दी हिस्ट्री आफ एजुकेशन' (Brief Course in the History of Education) में चार कार्यों को प्रधानता दी है।* वे इस प्रकार हैं :—

(१) शिक्षा का प्रथम कार्य ज्ञान प्रसार करना है। इस कार्य की व्याख्या 'प्रोफेसर वार्ड' (Prof. Ward) ने की है। उन्होंने अपनी 'डाइनेमिक सोशियोलाजी' (Dynamic Sociology) नामक पुस्तक में लिखा है कि उन्नति बुद्धि पर निर्भर होती है और बुद्धि मानसिक शक्ति और ज्ञान पर निर्भर होती है। बुद्धि का विकास अप्रत्यक्ष रूप से किया जा सकता है। वंश-परम्परागत गुणों के नियमों के पालन तथा वातावरण के प्रभाव अथवा ज्ञान प्राप्ति की विधि से बुद्धि का विकास किया जा सकता है। ज्ञान प्रसार से भी बुद्धि का विकास किया जा सकता है और ज्ञान का प्रसार प्रत्यक्ष रूप से किया जा सकता है। अतएव दोनों दृष्टिकोणों के अनुसार शिक्षा का कार्य ज्ञान की वृद्धि करना है।

(२) समाजशास्त्र के अनुसार शिक्षा सामाजिक नियन्त्रण का साधन है। प्राचीन काल के समाज ने नियन्त्रण रखने का काम सरकार को सौंप दिया था। सरकार प्रत्यक्ष रूप से पुलिस के द्वारा नियन्त्रण स्थापित किया करती थी। साथ ही साथ चर्च अप्रत्यक्ष रूप से अपने विश्वासों, विचारों तथा संस्कारों के द्वारा नियंत्रण स्थापित करने की चेष्टा करता था। परन्तु अब समाज शिक्षा के द्वारा व्यक्ति पर नियन्त्रण रखता है। समाज ने इस काम के लिये स्कूल को उत्तरदायी ठहराया है। लोगों का विश्वास हो गया है कि स्कूल द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। शिक्षक बालकों के समक्ष जीवन के स्वीकृत आदर्शों को उपस्थित करके सामाजिक नियन्त्रण स्थापित कर सकता है। सामाजिक नियन्त्रण का यह साधन मनोवैज्ञानिक तथा आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त ही उत्तम है। इसके लिये शिक्षा में नैतिक उद्देश्य का समावेश करना होगा। इसके लिये व्यक्ति-हित तथा नैतिकता की भावना जाग्रत करनी होगी। इन भावनाओं के उदय होने पर नैतिक अनुशासन का आविर्भाव होता है। इस प्रकार पाठशालाओं द्वारा अथवा मानसिक साधनों द्वारा समाज व्यक्ति पर अपना नियन्त्रण रखता है और व्यक्ति अप्रत्यक्ष रूप से समाज पर। इस दृष्टि से शिक्षा भी पुलिस या सेना की भाँति एक शक्ति है जो समाज को सुसंगठित तथा नियन्त्रित रखती है।

(३) समाजतत्वविदों के अनुसार शिक्षा समाज की सभ्यता तथा संस्कृति को अक्षुण्ण रखने तथा उनका विकास करने की प्रक्रिया है। अतः शिक्षा का तीसरा कार्य समाज की परम्परागत सभ्यता की पीढ़ी-दर-पीढ़ी रक्षा करना तथा उसे आगामी

* Brief Course in the History of Education by P. Munroe, page 377.

संतति को प्रदान करना है। यदि सभ्यता की रक्षा न की गई और यदि बालकों को समाज की चिरकाल की सभ्यता तथा संस्कृति से परिचित न कराया गया तो बालक अपने पूर्वजों के अनुभवों से कुछ भी नहीं सीख सकेंगे और न सामाजिक परम्परा को सुरक्षित रख सकेंगे। सामाजिक परम्परा को सुरक्षित रखने का कार्य एक या दो व्यक्ति नहीं कर सकते। यह कार्य सभी व्यक्तियों के सहयोग से पूर्ण हो सकता है। इसलिये समाज के सभी सदस्यों का समाज के साथ एकीकरण करना आवश्यक है क्योंकि जब तक वे ऐसा नहीं करते वे न सामाजिक परम्परा को प्राप्त कर सकते हैं और न उसे अपने योग के साथ आगामी संतति को ही दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त हमारा वातावरण हर समय बदलता रहता है। और यदि व्यक्ति अपने आपको वातावरण के अनुकूल नहीं बनाता तो उसके व्यक्तित्व का ह्रास हो जाता है। अतएव शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को ऐसी योग्यता प्रदान करना है जिससे वह अपने आपको वातावरण के अनुकूल बना सके। शिक्षा व्यक्ति को भूतकाल के अनुभवों से परिचित करा कर उसे वातावरण के अनुकूल बनने में सहायक होती है।

(४) समाज-शास्त्र के अनुसार शिक्षा का चौथा कार्य समाज का विकास करना है। शिक्षा के द्वारा समाज को बाह्य तथा आन्तरिक शक्ति मिलती है जो उसके विकास को गति देती है। सामाजिक विकास का यह ढंग शारीरिक विकास की भाँति है। जिस प्रकार प्रकृति के अन्य प्राणी अपने आपको प्रकृति के अनुकूल बना लेते हैं उसी प्रकार मानव भी अपने आपको अपने वातावरण अथवा समाज के अनुकूल बना लेता है। यदि वह अपने आपको वातावरण के अनुकूल नहीं बना पाता तो वह नष्ट हो जाता है। समाज हित के लिये उसे कभी कभी अपने वातावरण का विरोध भी करना पड़ता है और व्यक्ति-हित को छोड़कर समाज-हित के लिये सारी शक्ति लगानी पड़ती है। इस काम में शिक्षा बड़ी सहायक होती है। अतः सामाजिक विकास के लिये शिक्षा आवश्यक है।

सामाजिकतावाद का शिक्षा में विकास तथा प्रभाव

सामाजिकतावाद की प्रवृत्ति के कारण व्यक्तियों में समाज-हित की भावना जाग्रत हुई जिसके परिणामस्वरूप 'लोक-हित-शिक्षा आन्दोलन' (Philanthropic Educational Movement) प्रारम्भ हुआ। समाज-हित तथा शिक्षा-प्रसार की भावनावश सार्वजनिक संस्थाओं ने स्थान-स्थान पर स्कूल खोले। इंगलैण्ड में 'चैरिटी स्कूल' (Charity School) तथा 'सन्डे स्कूल' (Sunday School) खोले गये। निःशुल्क शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया। कहीं-कहीं पर छात्रों को मुफ्त पुस्तकें, भोजन तथा वस्त्र भी दिये जाने लगे।

सार्वजनिक शिक्षा की ओर राज्यों का भी ध्यान आकर्षित हुआ। भिन्न-भिन्न देशों ने इस सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व का अनुभव किया और सार्वजनिक शिक्षा

की व्यवस्था की। सर्वप्रथम जर्मनी ने इस ओर कदम उठाया। तत्पश्चात् भिन्न-भिन्न देशों की सरकारों ने भी यह अनुभव किया कि शिक्षा द्वारा राज्य को शक्तिशाली बनाया जा सकता है। इसी दृष्टिकोण को फ्रांस तथा अमरीका ने भी अपनाया। इस प्रकार शिक्षा जो अब चर्च के चंगुल से निकल चुकी थी राज्यों द्वारा अपनायी गई और राज्यों की ओर से शिक्षा संस्थाएँ खोली गई। लगभग सभी देशों की सरकारों ने मनुष्यों को योग्य नागरिक बनाने के लिए शिक्षा की व्यवस्था की। इस प्रकार शिक्षा पर राज्य का प्रभाव बढ़ने लगा।

शिक्षकों की कमी को दूर करने के लिये डा० ऐन्ड्रयु बेल (Dr. Andrew Bell) ने एक नई शिक्षा-प्रणाली का प्रयोग किया जिसे उन्होंने 'शिष्याध्यापक प्रणाली' (Monitorial System) की संज्ञा दी।* इस प्रणाली के अनुसार छोटे विद्यार्थियों को पढ़ाने का भार बड़े विद्यार्थियों को दिया गया। इस प्रणाली के अनुसार एक ही अध्यापक विभिन्न कक्षाओं के छात्रों को पढ़ा सकता था। इस पद्धति के आधार पर 'मानीटोरियल स्कूलों' की रचना की गई। जोसेफ लंकास्टर (Joseph Lancaster) ने शिक्षा को लौकिक तथा सामाजिक बनाने के लिए 'मानीटोरियल स्कूल' की स्थापना की।

इसी समय शिशुओं तथा बालकों की स्थिति को सुधारने के लिए शिशु-शिक्षा आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। फ्रांस, इङ्गलैंड तथा अमेरिका में शिशु-शिक्षालय (Infant Schools) खोले गये। उन दिनों कारखानों में बालक १२-१३ घंटे काम करते थे। इससे उनका स्वास्थ्य चौपट हो जाता था और वे अशिक्षित रह जाते थे। 'रोबर्ट ओवन' (Robert Owen) ने इस बुराई को दूर करने के लिए इङ्गलैंड में शिशु-शिक्षालयों की स्थापना की। इसमें तीन से सात वर्ष तक के बालकों को शिक्षा दी जाती थी। इससे मजदूर समुदाय का बड़ा उपकार हुआ। शिक्षा में लोगों की रुचि उत्पन्न हो गई।

उन्नीसवीं शताब्दी में राज्य ने शिक्षा के प्रति अपने उत्तरदायित्व को स्वीकार किया। लगभग सभी देशों ने यह मान लिया कि जनता को शिक्षित करने का भार राज्य पर है। सभी देशों ने यह समझ लिया कि राजनैतिक शक्ति तथा आर्थिक उन्नति के लिए शिक्षा की व्यवस्था नितान्त आवश्यक है। इसलिये विभिन्न देशों की सरकारों ने शिक्षा का पूर्ण प्रबन्ध अपने हाथों में ले लिया। इस प्रकार प्रत्येक देश में 'राज्य प्रणाली शिक्षा' (State System of Education) का संगठन किया गया और पाठशालाएँ राज्य द्वारा परिचालित होने लगी।

* "Dr. Andrew. Bell मद्रास में पादरी के रूप में काम करते थे। वहाँ की प्राचीन पद्धति को ही उन्होंने इङ्गलैंड में बनाया और उसे 'मानीटोरियल सिस्टम' की संज्ञा दी।" History of Western Education by Jayaswal, P. 58

शिक्षा का भार संभालने के पश्चात् प्रत्येक देश की सरकार का यह कर्त्त गया कि वह ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करे जिससे व्यक्ति एक योग्य नागरिक सके और समाज तथा देश के प्रति अपना कर्त्तव्य निभा सके। यह तभी सम्भ सकता था कि जबकि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविकोपार्जन का साधन उ हो सके। अतः राज्य ने व्यवसायिक पाठशालाओं की व्यवस्था की। आजकल व्य यिक शिक्षा पर अधिक जोर दिया जा रहा है।

आधुनिक काल में सामाजिकतावाद की प्रवृत्ति सर्व-प्रधान है। इसी के 'प्रौढ़ शिक्षा' (Adult Education) पर अत्यधिक बल दिया जा रहा है। वि जड़ और दीन बालकों को शिक्षा का प्रबन्ध किया जा रहा है। अन्धे, बहरे, मा दोष-पूर्ण तथा असाधारण बालकों की भी शिक्षा पर ध्यान दिया जा रह अध्यापकों को अध्यापन कला की शिक्षा दी जा रही है। अब अध्यापक समाज एक आवश्यक अङ्ग बन गया है और शिक्षा एक सामाजिक कार्य समझा जात भारतवर्ष में भी उक्त बातों पर बल दिया जा रहा है। भारतवर्ष के कई नग 'जनता कालेज' स्थापित किए गये हैं। भारतवर्ष की सरकार ने 'बेसिक एजु तथा 'सोशल एजुकेशन' पर अत्यधिक बल दिया है। शिक्षा द्वारा नई सामाजिक औद्योगिक समस्याओं को सुलझाया जा रहा है। कुशल तथा शिक्षित कार्यकर्ता मांग को पूरा करने के लिये 'टैकनीकल' (Technical), 'कमर्शियल', (Comm cial) तथा 'एग्रीकल्चरल' (Agricultural) स्कूल खोले जा रहे हैं जिससे व्यवसाय के लिये कुशल कार्यकर्त्ता मिल सकें और अधिक से अधिक उ हो सके।

शिक्षा में सामाजिकतावादी तथा व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के कारण नई-नई पद्धतियों की रचना हुई। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री ड्यूवी (जिनका उल्लेख आगे जायगा) ने सामाजिकतावादी प्रवृत्ति को आगे बढ़ाया और मोन्टेसरी ने वैय शिक्षा का पक्ष लिया। इनके विचारों तथा सिद्धान्तों का विवेचन आगे किया जाय

प्रश्न

(१) समाजतत्त्ववाद के प्रमुख लक्षणों का वर्णन कीजिए।

(२) 'व्यक्ति को उत्तम सामाजिक जीवन के लिये तैयार करने की दृष्टि समाजतत्त्ववाद शिक्षा के विषयों के उचित निर्वाचन के महत्व पर बल देता है।' वाक्य के उपलक्षणों की समालोचनात्मक विवेचना कीजिए।

(३) समाजतत्त्ववाद के अनुसार स्कूल का समाज में क्या स्थान है और का समाज से क्या सम्बन्ध है?

(४) शिक्षा के आधार पर समाजतत्त्वविदों के विचारों की विलक्षणत और त्रुटियों की विवेचना कीजिये।

तेरहवाँ अध्याय

शिक्षा में समाहारक प्रवृत्ति

(Eclectic Tendency in Education)

समाहारक प्रवृत्ति का अर्थ— आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र मे एक नई प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इस प्रवृत्ति को शिक्षाविदों ने 'समाहारक प्रवृत्ति' (Eclectic Tendency) की संज्ञा दी है। इस प्रवृत्ति का तात्पर्य पूर्ववर्ती प्रवृत्तियों के सम्मिश्रण से है। सर्वप्रथम यह प्रवृत्ति सभ्यता के क्षेत्र में दृष्टिगोचर हुई। आधुनिक सभ्यता में सभी पूर्ववर्ती आदर्शों तथा विभिन्न सभ्यताओं को स्थान दिया गया है। दूसरे शब्दों मे उन सभी विचारो तथा आदर्शों ने जिन्होंने समय-समय पर सभ्यता के विकास में योग दिया था एकरूप होकर नवीन सभ्यता को जन्म दिया है। इस नवीन सभ्यता में विभिन्न आदर्श एक दूसरे के विरोध में नही वरन् एक समुच्चय रूप में प्रकट होते हैं। यही 'समाहारक प्रवृत्ति' शिक्षा के क्षेत्र में भी दृष्टिगोचर होती है। आधुनिक शिक्षा में भी सभी पूर्ववर्ती प्रवृत्तियो का सम्मिश्रण दिखलाई पड़ता है। यहां भी प्रवृत्तियां एक दूसरे के विरोध मे प्रकट नहीं होतीं वरन् आपस मे एक दूसरे की पूरक प्रतीत होती हैं। ये सभी एकरूप होकर आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में विद्यमान हैं। इस प्रकार आधुनिक शिक्षा के आदर्श, उद्देश्य, पाठ्य-क्रम तथा संगठन में हमें पूर्ववर्ती प्रवृत्तियों की छाप स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।

इस प्रकार आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का कोई एक विशेष स्रोत नहीं है। यह किसी विशेष युग, देश तथा व्यक्ति की देन नही है। परन्तु सभी पूर्ववर्ती प्रवृत्तियों का एक समन्वित रूप है। आधुनिक शिक्षा में सभी प्राचीन आदर्श तथा वाद एकरूप हो जाते हैं। इसको हम शिक्षा के क्षेत्र में समाहारक प्रवृत्ति का विकास कह सकते हैं।

समाहारक प्रवृत्ति का प्रभाव

इस प्रवृत्ति के प्रभाव के फलस्वरूप वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में हमें प्रकृतिवाद, मनोविज्ञानवाद, विज्ञानवाद तथा सामाजिकतावाद की प्रवृत्तियों का अच्छा समावेश मिलता है। आधुनिक शिक्षा ने रूसो के सिद्धान्त को अपनाया कि शिक्षा बाल-केन्द्रित होनी चाहिए और शिक्षा व्यक्ति की प्रत्येक अवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार होनी चाहिए। आज जो 'बालक के अध्ययन पर' विशेष ध्यान दिया जाता है वह रूसो का ही प्रभाव है। आज जो बालक-केन्द्रित पाठ्य-क्रम, बाल-केन्द्रित पाठशालाएँ, बाल-केन्द्रित शिक्षा का विशाल संस्थान निर्मित हो सका है सो रूसो के प्रकृतिवाद के ही आधार पर। रूसो के बाद पेस्टालाजी की बारी आती है। इसके भी शिक्षा सिद्धान्तों को आधुनिक शिक्षा ने ग्रहण किया है। उसके 'स्वानुभूति का सिद्धान्त',

आन्तरिक विकास का सिद्धान्त', तथा बालक के प्रति सहानुभूति का सिद्धान्त' आधुनिक शिक्षा में अपना महत्त्व रखते हैं। वर्तमान शिक्षा ने हरबर्ट से भी अनेक बहुमूल्य बातें प्राप्त की हैं। उसने हमें एक वैज्ञानिक पाठन-प्रणाली प्रदान की है। इस प्रणाली (पंच-पद-प्रणाली) (Five Formal Steps) के प्रभाव से आप भली-भाँति परिचित हैं। उसने पाठ्य-क्रम के संगठन के सिद्धान्त प्रतिपादित किये और पाठ्य-क्रम का संगठन नये ढङ्ग से किया। उसने शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण बतलाया। इसके कारण आज नैतिक शिक्षा की चारों ओर धूम है। फ्रोबेल ने बाल-स्वभाव की व्याख्या की और यह बतलाया कि बालक की आत्म-क्रिया (Self-Activity) ही शिक्षा का आधार है। उसने यह बतलाया कि पाठ्य-क्रम द्वारा बालक को मानव-जाति के अनुभवों तथा कार्यों से परिचित कराना चाहिए। उसने स्कूल को एक छोटा समाज बतलाया और मानव-विकास नियम को शिक्षा में लागू किया। वर्तमान शिक्षा ने इन सभी बातों को अपना लिया है। मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के पश्चात् वैज्ञानिक प्रवृत्ति का जन्म हुआ। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पर स्पेन्सर का प्रभाव स्पष्ट है। स्पेन्सर ने विज्ञान की उपयोगिता तथा महत्ता को स्पष्ट किया। उसने शिक्षा को नया स्वरूप दिया और शिक्षा के लिये नये पाठ्य-क्रम का संगठन किया। इसके कारण पाठ्य-क्रम में वैज्ञानिक विषयों का समावेश हुआ। इसी प्रवृत्ति के कारण आज की शिक्षा के पाठ्य-वस्तु में नवीनता आ गई है। उसके बतलाए हुए पाठन-विधि के नियमों को हम प्रतिदिन प्रयोग में लाते हैं। स्पेन्सर ने शिक्षा और जीवन की आवश्यकताओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया और शिक्षा में व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन किया। परन्तु व्यक्तित्व के विकास को उसने समाज-हित के लिये ही प्राथमिकता दी। इस कारण वैज्ञानिक प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप सामाजिकतावादी प्रवृत्ति का जन्म हुआ। इस प्रवृत्ति ने व्यक्तियों का ध्यान समाज-हित की ओर आकर्षित किया। शिक्षा का उद्देश्य समाज का विकास बतलाया। समाज के विकास के लिये व्यक्ति को योग्य नागरिक बनाना आवश्यक ठहराया। इस प्रकार सामाजिकतावादी प्रवृत्ति का उद्देश्य व्यक्ति को उत्तम नागरिक बनाना है। व्यक्ति को स्वतन्त्र तथा सफल नागरिक बनाने के लिये इस प्रवृत्ति ने व्यावहारिक तथा टेक्नीकल शिक्षा पर बल दिया है। उक्त सभी बातों का आधुनिक शिक्षा में समावेश है। इसी प्रवृत्ति के कारण शिक्षा के केन्द्रीकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसके कारण शिक्षा एक सामाजिक कार्य समझा जाता और अब इसके प्रसार का उत्तरदायित्व सरकार के कन्धों पर है। शिक्षा [illegible] प्रवृत्तियों के कारण मान्टेसोरी-पद्धति तथा किंडरगार्टन-पद्धति तथा [illegible] का जन्म हुआ। वर्तमान शिक्षा में इन पद्धतियों का बड़ा महत्त्व है।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मुख्यतः के विभिन्न वादों तथा प्रवृत्तियों और अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी की प्रवृत्तियों तथा पद्धतियों के

योग से उत्पन्न हुई। इस प्रकार वर्तमान शिक्षण-प्रणाली में सभी काल, देश तथा शिक्षा-शास्त्रियों की प्रमुख तथा उपयोगी विचारधाराओं का समावेश है।

समाहारक प्रवृत्ति के कारण शिक्षा की कई विवाद-ग्रस्त बातों में सामंजस्य स्थापित किया गया। व्यक्ति और समाज-हित के प्रश्न पर व्यक्तियों में पर्याप्त मतभेद था। उन्नीसवीं शताब्दी में व्यक्तिवादी धारा प्रबल थी। तत्पश्चात् सामाजिकतावादी धारा प्रबल हो उठी। परन्तु आधुनिक शिक्षा में हमें व्यक्ति और समाज-हित में सामंजस्य दिखलाई पड़ता है। अब शिक्षा व्यक्ति और समाज के समझौते पर आधारित है। व्यक्ति और समाज का समन्वय आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों जैसे ड्यूवी, रसेल आदि की विचारधाराओं में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। आज की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सफल नागरिक बनाना है। व्यक्तित्व के विकास के साथ व्यक्ति में नागरिकता के गुणों का भी विकास करना है। आधुनिक काल के सभी शिक्षा-शास्त्रियों की शिक्षा परिभाषा में उक्त विचार ही मिलता है। नन महोदय का कथन है, "व्यक्तित्व का *विकास सामाजिक वातावरण में ही होता है जहां कि सामाजिक रुचियों और विकास* का इसे भोजन मिलता है।" रायबर्न के कथनानुसार "शिक्षा व्यक्ति को सामाजिक समूह के अन्तर्गत रखकर ही उससे व्यक्ति का बर्ताव कराती है और सामाजिक चेतना के विकास को दृष्टि से ओझल नहीं होने देती है।" जेम्स के अनुसार, "शिक्षा प्राप्त की हुई आदतों का समुच्चय है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने आपको सामाजिक वातावरण के अनुकूल बनाता है।" इस सम्बन्ध में श्री बटलर ने कहा है, "शिक्षा का तात्पर्य व्यक्ति को जाति की आध्यात्मिक सम्पत्ति के अनुकूल बनाना है।" अतः आज व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास का अवसर इसीलिये दिया जाता है कि वह समाज के विकास में अपना योग दे सके। इस प्रकार व्यक्ति और समाज के गठ-बन्धन से आधुनिक शिक्षा की गाड़ी चल रही है।

इसी प्रकार आधुनिक शिक्षा में हमें रुचि (Interest) और प्रयत्न (Effort) का समन्वय दिखलाई पड़ता है। शिक्षा में अनुशासनवाद (Disciplinary Conception of Education) के कारण 'शिक्षा में प्रयत्न' (Education of Effort) को प्रमुखता दी गई थी। यह समझा गया था कि 'प्रयत्न' द्वारा ही शिक्षा प्राप्त की जा सकती है। पाठ्य-क्रम में उन्हीं विषयों को स्थान दिया गया था जिनके सीखने में अधिक प्रयत्न करना पड़ता था। मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति ने इस धारणा को बदल दिया। इस प्रवृत्ति ने 'शिक्षा में 'प्रयत्न' (Effort) के स्थान पर 'रुचि' (Interest) को महत्त्वपूर्ण माना। इसके फलस्वरूप बालक में *रुचियों का उत्पन्न करना आवश्यक* समझा गया। हरबार्ट ने 'बहुमुखी रुचि' उत्पन्न करने का सुझाव रखा। परन्तु आज की शिक्षा में 'प्रयत्न' तथा 'रुचि' दोनों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसलिए आधुनिक शिक्षा में इन दोनों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। बालक की शिक्षा में

जितनी रुचियों की आवश्यकता है उतनी ही प्रयत्नों की। केवल रुचि रखने मात्र से ही शिक्षा प्राप्त नहीं की जा सकती।

आधुनिक शिक्षा में अनुशासन और स्वतन्त्रता की समस्या का समाधान भी समाहारक प्रवृत्ति के नियमानुसार ही किया गया है। आधुनिक शिक्षा में अनुशासन और स्वतन्त्रता का सामञ्जस्य है। स्वतन्त्रता की विशेषता अनुशासन है। बालक को उतनी ही स्वतन्त्रता दी जाती है जितनी उसके लिये आवश्यक है। बालकों को अब कठोर अनुशासन में नहीं रखा जाता वरन् उन्हें स्वानुशासन की शिक्षा दी जाती है। अब उनमें आत्म-नियन्त्रण की शक्ति को जागृत करना शिक्षा का ध्येय है। आत्म-नियन्त्रण की शक्ति को बालक आत्म-निग्रह, आत्म-प्रबन्ध तथा आत्म-शिक्षा द्वारा प्राप्त करता है। बालक को इतनी स्वतन्त्रता दी जाती है कि वह अपने लिए काम कर सकता है, चीजों की खोज कर सकता है और वस्तुओं का निरीक्षण कर सकता है। आधुनिक शिक्षा-पद्धतियाँ बालक को केवल ऐसी ही स्वतन्त्रता देने के पक्ष में हैं।

आधुनिक शिक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

समाहारक प्रवृत्ति के प्रभाव के फलस्वरूप वर्तमान शिक्षा में प्रगतिशील विचारों तथा सिद्धान्तों को महत्त्व का स्थान दिया गया है। ये विचार तथा सिद्धान्त निम्नांकित है :—

(१) आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को इस प्रकार तैयार करना है कि वह आज के जटिल समाज में सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत कर सके।

(२) आजकल शिक्षा का पाठ्य-क्रम लचकदार (Flexible) बनाया जाता है। पाठ्य-क्रम के विषयों का निर्वाचन सामाजिक आवश्यकताओं तथा उद्देश्यों पर आधारित किया जाता है।

(३) शिक्षण-पद्धति को अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है जिससे वह सभी स्थानों तथा अवस्थाओं में प्रयोग में लाई जा सके। इसके अतिरिक्त शिक्षा-पद्धति को मनोविज्ञान तथा बालक के विकास के नियमों पर आधारित किया जा रहा है। अब बालकों को स्वयं सीखने तथा अनुभव करने का अधिक से अधिक अवसर दिया जाता है।

(४) शिक्षकों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया जा रहा है। सभी प्रकार की कक्षाओं के शिक्षकों के लिये शिक्षण-संस्थाएं खोली जा रहीं हैं।

(५) विभिन्न विषयों के समन्वय पर अधिक बल दिया जाता हैं।

(६) शिक्षण कार्य के लिये विषय- विशेषज्ञ बनाने पर भी बल दिया जा रहा है। इस कारण ट्रेनिंग कॉलिजों में अध्यापकों को किसी एक विषय में विशेषज्ञ बनाने की व्यवस्था की जाती है।

(७) अब शिक्षण कार्य को व्यवसाय (Profession) के रूप में स्वीकार किया जाता है।

(८) शिक्षा धार्मिक बन्धनों से मुक्त कर दी गई है। अब शिक्षा ने लौकिक (Secular) स्वरूप धारण कर लिया है। इससे अब एक नई समस्या उत्पन्न हो गई है कि बालकों को धर्म की शिक्षा किस प्रकार दी जावे।

(९) शिक्षा मे उद्योग-धन्धों को भी स्थान दिया गया है।

(१०) पाठशालाओं के कार्य का विस्तार दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है अब पाठशालाओं का कार्य केवल कुछ विषयों की शिक्षा देना नहीं है वरन् उन सभी बातों की शिक्षा देना है जिनसे बालक समाज का एक उपयोगी अङ्ग बन सके। दूसरे शब्दों में पाठशालाओं मे उन सभी कार्यों का समावेश किया जा रहा है जिनसे वर्तमान समाज की मागें पूरी हो सकें।

(११) आधुनिक शिक्षा में शिक्षकों के पदों, कर्तव्यों और अधिकारों मे भी पर्याप्त परिवर्तन कर दिया गया है। उन्हें उच्च आसन से नीचे उतार दिया गया है। उन्हें अब मित्र तथा पथ-प्रदर्शक के रूप मे स्वीकार किया जाता है। अब शिक्षकों का यह कर्तव्य है कि वे बालक की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों, रुचियों तथा भिन्नताओं के आधार पर उनके विकास के लिये उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करें। अब उससे यह आशा की जाती है कि वह केवल शिक्षा प्रदान ही न करे वरन् बालक की समस्त शक्तियों के विकास का भी प्रयत्न करे।

(१२) शिक्षा का भार अब राज्य के ऊपर है। अब राज्यों को बाध्य किया जा रहा है कि वे बालक के लिये निःशुल्क तथा अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करें। बहुत से देशों में तो राज्यों ने अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था कर भी दी है। भारतवर्ष ने भी इस ओर अपना कदम उठाया है। आशा है शीघ्र ही भारतवर्ष में भी कोई बालक निरक्षर न रहेगा। अन्धे, बहरे तथा गूंगों की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया जा रहा है। राज्य ने इस सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व को स्वीकार कर लिया है और प्रजातन्त्र शासन के उद्देश्य के अनुकूल अब सभी व्यक्तियों को शिक्षित करने की व्यवस्था की जा रही है।

(१३) आधुनिक काल मे वह पाठन-प्रणाली उत्तम मानी जाती है जिसमें यह न मालूम हो सके कि शिक्षक किस प्रणाली का प्रयोग कर रहा है। शिक्षक को अपने कार्य में इतना चतुर होना चाहिए कि वह स्वयं भी यह अनुभव न कर सके कि वह किस प्रणाली का प्रयोग कर रहा है। इस प्रकार वही प्रणाली उत्तम है जिसमें सब कार्य उचित रूप से हो जाय। स्पष्ट है कि आज की पाठन-प्रणाली सभी वादों को अपनाकर चल रही है।

उक्त प्रवृत्तियों के अध्ययन से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान
ि स्वरूप में जो जो बातें मुख्य हैं वे शिक्षा की विभिन्न प्रवृत्तियों अर्थात् मनोवैज्ञ
ानिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित है
शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जिन बातों पर प्रमुख शिक्षा शास्त्रियों ने ब
; उनको आधुनिक शिक्षा-प्रणाली ने सहर्ष अपनाया है। यद्यपि ये सब प्र
विभिन्न स्रोतों से निकल कर एकरूप हो कर बह रही हैं तथापि इनकी एव
ं इनकी व्यक्तिगत विशेषताओं के प्रमाण विद्यमान हैं।

———

प्रश्न

(१) शिक्षा में आधुनिक प्रवृत्तियों की परीक्षा कीजिए और यह बतलाइ
ाक्षा की आधुनिक प्रवृत्ति किस प्रकार एक समाहारक प्रवृत्ति है।

चौदहवां अध्याय

प्रयोजनवाद या प्रयोगवाद

(Philosophy of Pragmatism)

ऐतिहासिक भूमिका— प्रयोजनवाद सबसे नवीन दार्शनिक विचारधारा है। आधुनिक काल की विचारधाराओं में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसके जन्मदाता सुप्रसिद्ध दार्शनिक विलियम जेम्स (William James) थे। अमरीका में 'जान ड्यूवी' (John Dewey) और इंगलैण्ड में डाक्टर 'शिलर' (Schiller) इसके प्रमुख प्रतिनिधि हुये हैं। 'बेकन' (Bacon) और 'लाक' (Locke) इसके पूर्वगामी विचारक हैं। 'लाक' का कथन है, "हमें सब वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना उतना आवश्यक नहीं जितना उन वस्तुओं का जिनका हमारे जीवन से सम्बन्ध हो।" शिक्षा के क्षेत्र में इसका प्रयोग अमेरिका के प्रसिद्ध दार्शनिक तथा शिक्षा-शास्त्री जान ड्यूवी (John Dewey) ने किया। आधुनिक युग में यह विचारधारा अमरीकी लोगों के रहन-सहन तथा विचार-प्रक्रिया के फलस्वरूप प्रस्फुटित हुई है। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी के धार्मिक आन्दोलन व असहिष्णुता, उपद्रव तथा विद्रोहों के कारण योरुपीय देशों के और विशेषतः इङ्गलैंड के बहुत से प्यूरिटन्स (Puritans अमेरिका में जाकर बस गये। इनको वहां अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। नित्य नई-नई समस्याएं उपस्थित हुईं। इन समस्याओं के समाधान में निश्चित 'सत्य' और 'आदर्श' व्यर्थ सिद्ध हुए। इनके समाधान के लिये उन्हें एक नये आदर्श की आवश्यकता पड़ी। अतः उन्होंने एक ऐसी नई विचारधारा को जन्म दिया जिसके अनुसरण से वे नई तथा कठोर परिस्थितियों का सामना कर सके, नई-नई समस्याओं को नए ढंग से हल कर सके और अपने जीवन में उन्नति कर सके। दूसरे शब्दों में कुछ पूर्वनिश्चित सिद्धान्तों के अनुसार वहां के जीवन की रूप-रेखा नहीं बदली वरन् जीवन की वास्तविकता तथा परिस्थितियों ने नए जीवन-दर्शन अथवा विचारधारा को जन्म दिया। इस प्रकार दर्शन के आधार पर जीवन नहीं बदला प्रत्युत जीवन के आधार पर दर्शन बदल गया। यह नई विचारधारा प्रयोजनवाद (Pragmatism के नाम से प्रसिद्ध हुई। अंग्रेजी का 'प्रैग्मैटिज्म' शब्द ग्रीक शब्द 'प्रैग्मेटिकोस' से निकला है जिसका अर्थ है 'व्यावहारिक' अथवा 'व्यवहार्य'।* प्रैग्मैटिज्म (Pragmatism) की विचारधारा का आशय यह है कि यदि किसी कार्य अथवा सिद्धान्त की कोई व्यावहारिकता अथवा उपयोगिता है तो वह उत्तम है अन्यथा नहीं। प्रैग्मैटिज्म को हम हिन्दी भाषा में 'प्रयोजनवाद' अथवा 'फलवाद' कह सकते हैं क्योंकि हमारे अनुभव में सबसे मुख्य चीज हमारे कार्य का फल अथवा परिणाम ही है। किसी भी

* Bharatiya Shiksha Ke Siddhant by Dr, Adayal, Ch. III p. 3

कार्य का मूल्य उसके फल के अनुसार आँका जाता है। इस प्रकार यह विचारधारा कोरी सैद्धान्तिक नहीं वरन् व्यवहारिक है। वास्तव में यह विचारधारा जीवन की व्यावहारिक क्रियाओं से उत्पन्न होती है। (It arises out of actual living.) चूंकि इस विचारधारा का मनुष्य और उसके जीवन से सम्बन्ध है इसलिए यह अधिक मानवीय कही जा सकती है।

प्रयोजनवाद के मुख्य सिद्धान्त

(१) प्रयोजनवाद किसी निश्चित तथा शाश्वत 'सत्य' अथवा सिद्धान्त की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार जीवन के प्रत्येक सत्य, सिद्धान्त तथा दर्शन की कसौटी मनुष्य का ऐहिक जीवन है। जो सत्य जीवन में प्रयुक्त न हो सके उसका कोई मूल्य नहीं। जो 'सत्य' आज ठीक है वह कल भी ठीक होगा ऐसा सोचना एक बड़ी भूल है क्योंकि परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं और उन्हीं के अनुसार सत्य को भी बदलना चाहिए। अतः प्रयोजनवादियों के अनुसार 'सत्य' परिवर्तनशील है। यह देश, काल तथा परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। जेम्स का कथन है, "सत्य कोई पूर्ण, निश्चित एवं अनन्त सिद्धान्त नहीं प्रत्युत वह सदा निर्माण की अवस्था में रहता है।" कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक युग का सत्य भिन्न होता है। यदि 'सत्य' को निश्चित तथा अपरिवर्तनीय मान लें तो विश्व गति-हीन सिद्ध होगा और हमारा विकास रुक जायगा।

(२) प्रयोजनवाद उपयोगिता के सिद्धान्त पर बल देता है। किसी भी सिद्धान्त अथवा विश्वास की कसौटी उपयोगिता है। यदि कोई सिद्धान्त हमारे लिये उपयोगी है, हमारे उद्देश्यों को पूरा करता है, हमारी समस्याओं को हल करता है तब तो वह ठीक है, अन्यथा नहीं। यदि वह उपयोगी सिद्ध होता है तो हम उसे ग्रहण कर सकते हैं। प्रत्येक वस्तु का अच्छा या बुरा होना उसके फल पर निर्भर है; जिस समय उससे अच्छा फल प्राप्त होता है वह अच्छी है, जब बुरा हो तो बुरी। अतः किसी विचार, विश्वास, वस्तु तथा कार्य की अच्छाई अथवा बुराई उसके फल से आँकी जाती है। इस प्रकार किसी भी विश्वास अथवा सिद्धान्त को हम सब परिस्थितियों के लिये निश्चित रूप से अच्छा नहीं कह सकते। सत्य सिद्धान्त वही है जिससे हमें जीवन में सुख और सन्तोष प्राप्त हो। ईसा से पूर्व चौथी-पाँचवीं शताब्दी में सोफिस्टों का भी यही दृष्टिकोण था। वे भी शाश्वत सत्य तथा आदर्शों को स्वीकार नहीं करते थे। उनके जीवन में उपयोगिता का सिद्धान्त प्रधान था और वे जनता को उन कलाओं की ट्रेनिंग देते थे जो जीवन में लाभ पहुँचाने वाली हों।

(३) प्रयोजनवाद जीवन के निश्चित लक्ष्य तथा चिरन्तन आदर्श की सत्ता को नहीं मानता। इस वाद के अनुसार जीवन के मूल्य और लक्ष्य परिवर्तनशील हैं। वे सदैव के लिये निश्चित नहीं किये जा सकते। देश, काल तथा परिस्थितियों के

अनुसार समय-समय पर नवीन आदर्शों की रचना होती रहती है; परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर उनमें पुनः परिवर्तन करना होता है। इस प्रकार ये बदलते रहते हैं। जीवन स्वयं एक प्रयोगशाला है जिसमें नए-नए मूल्य और लक्ष्य अपने आप हमारे सम्मुख आ जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति जीवन के प्रयोग व क्रियात्मकता द्वारा स्वयं नवीन आदर्शों तथा मूल्यों की खोज और प्रतिष्ठा करता है।

(४) प्रयोजनवाद व्यक्ति की उस शक्ति पर बल देता है जिससे वह परिस्थितियों को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार बदल देता है; अपनी समस्याओं का समाधान करके अपने लिये एक अच्छा वातावरण तैयार करता है।

(५) प्रयोजनवाद रूढ़ियों, बन्धनों तथा परम्पराओं को नहीं मानता। यह अन्ध-विश्वासों तथा मान्यताओं मे विश्वास नहीं करता। यह जीवन की वास्तविकता मे तथा जीवन की विभिन्न क्रियाओं मे विश्वास करता है। यह विचारों की अपेक्षा क्रिया को प्रधानता देता है। पहले क्रिया होती है फिर विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यह विचारधारा ज्ञान को क्रिया का परिणाम मानती है। इसके अनुसार क्रिया को सुचारु बनाने के लिये ज्ञान की आवश्यकता होती है। अत: क्रिया की अपेक्षा ज्ञान गौण है। शिक्षा के क्षेत्र में क्रिया द्वारा सीखने का सिद्धान्त इसी पर आधारित है।

(६) प्रयोजनवाद व्यक्ति के सामाजिक जीवन पर बल देता है। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहकर ही अपने जीवन को सफल बनाता है। दूसरे शब्दों में उसका जीवन समाज मे ही विकसित हो सकता है। शिक्षा का कार्य उसके सामाजिक जीवन को सफल बनाना है। अतः सामाजिक दृष्टिकोण से ही उसे शिक्षा देनी चाहिए। इसके लिये यह शिक्षा मे सामाजिक कुशलता (Social Efficiency) के उद्देश्य को प्रस्तुत करता है।

प्रयोजनवाद के रूप

इस विचारधारा के मुख्य रूप तीन हैं। ये इस प्रकार हैं :—

(१) मानवीय प्रयोजनवाद (Humanistic Pragmatism)

(२) प्रयोगात्मक प्रयोजनवाद (Experimental Pragmatism)

(३) जीव-शास्त्रीय प्रयोजनवाद (Biological Pragmatism)

मानवीय प्रयोजनवाद के अनुसार वही सत्य है जिसके द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं की पूर्ति हो सके। प्रायोगिक प्रयोजनवाद केवल उसी वस्तु को सत्य मानता है जो प्रयोग द्वारा सिद्ध की जा सके। जीव-शास्त्रीय प्रयोजनवाद मनुष्य की शक्ति पर बल देता है जिसके द्वारा वह अपने आपको वातावरण के अनुकूल बना लेता है अथवा अपनी आवश्यकतानुसार अपने वातावरण को बदल देता है।

प्रयोजनवाद और मनोविज्ञान

प्रयोजनवादी 'सामर्थ्य मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) का विरोध करते हैं क्योंकि यह मनोविज्ञान मन के केन्द्रीय तत्त्व की उपेक्षा करता है। बालक में समस्त कार्यों तथा विचारों के पीछे मन की एक ऐसी प्रेरक शक्ति होती है, जो समस्त क्रियाओं में एकता स्थापित करती है। प्रयोजनवादी मन की इस प्रेरक शक्ति में विश्वास करते हैं। उनका कथन है कि यही केन्द्रीय शक्ति प्रत्येक क्रिया के लिए शक्ति और लक्ष्य प्रदान करती है। प्रयोजनवाद इस बात पर विशेष बल देता है कि कोई भी क्रिया निष्काम (Disinterested) अथवा कोई भी ज्ञान निर्विषयक (Objective) नहीं हुआ करता। सब क्रियाओं तथा सब ज्ञान पर भावनाओं का रंग चढ़ा रहता है। स्पष्ट है कि प्रयोजनवाद बुद्धि की अपेक्षा भावनाओं को अधिक प्रधान मानता है। यद्यपि यह सत्य है कि प्रयोजनवाद 'प्रक्रियाशील मनोविज्ञान' (Dynamic Psychology) से अधिक प्रभावित हुआ है तथापि यह 'व्यवहारवादी मनोविज्ञान' (Behaviouristic Psychology) की नितान्त उपेक्षा नहीं करता। व्यवहारवादी मनोविज्ञान की भाँति प्रयोजनवाद भी विचारों की अपेक्षा क्रिया को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। इस प्रकार प्रयोजनवाद में मनोविज्ञान की उपर्युक्त विचारधाराओं के गुणों का समावेश है।

प्राचीन मनोविज्ञान के अनुसार बालक को एक छोटा प्रौढ़ समझा जाता था और इसी धारणानुकूल उसकी शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। प्रयोजनवादी बालक और उसके मन के सम्बन्ध में विकासवादी दृष्टिकोण का पूर्ण रूप से समर्थन करते हैं। वे इस बात से सहमत हैं कि 'बालक एक छोटा सा प्रौढ़ नहीं है बल्कि भविष्य में होने वाला मनुष्य है।' (Child is not a man in miniature but a man in the making.) वयस्कों की शक्तियों, आवश्यकताओं विचारों इत्यादि में और बालकों की शक्तियों आवश्यकताओं विचारों इत्यादि में महान् अन्तर है। यही धारणा प्रयोजनवादियों की है और इसी दृष्टिकोण के अनुसार प्रयोजनवादियों ने शिक्षा के क्षेत्र में अपने शिक्षा के उद्देश्य, पाठन-विधि तथा पाठ्य क्रम को निर्धारित किया है।

प्रयोजनवाद और शिक्षा

प्रयोजनवाद ने शिक्षा को अत्यन्त ही प्रभावित किया है। यदि यह कहा जाय कि शिक्षा के क्षेत्र में आधुनिक युग प्रयोजनवाद का है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। अमरीका के प्रसिद्ध दार्शनिक एवं शिक्षा-शास्त्री जान ड्यूवी (John Dewey) ने प्रयोजनवाद की विचारधारा का प्रयोग शिक्षा के क्षेत्र में किया। ड्यूवी के अनुसार वस्तु की मानव-कल्याण के लिए उपयोगिता ही सच्ची उपयोगिता है। शिक्षा में वह इस बात पर बल देता है कि शिक्षा का ध्येय और संगठन तथा शिक्षा का कम और

पाठ्यक्रम सबका सम्बन्ध मानव कल्याण से हो और वास्तविक जीवन को दृष्टिकोण में रखकर इनको निश्चित किया जाय। वास्तविक जीवन के प्रतिकूल तथा मानव हित से उदासीन होने पर उनका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इसलिये प्रयोजनवाद के अनुसार संसार में कोई ऐसी वस्तु अथवा कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं जो हमेशा के लिये सत्य हो क्योंकि संसार परिवर्तनशील है और जीवन की आवश्यकताएँ बदलती रहती हैं। प्रत्येक बात में हमें यह देखना है कि वस्तु वास्तविक जीवन तथा मानव हित के लिये कितनी उपयोगी है। यदि वह उपयोगी है तो ठीक है अन्यथा व्यर्थ है। यही नियम शिक्षा-संस्थाओं पर लागू होता है। यदि आज वे उपयोगी नहीं हैं तो उन्हें बदल देना चाहिए।

हमारा वातावरण हमेशा बदलता रहता है और उसकी जटिलता दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है इसलिये हमें शिक्षा में उन सिद्धान्तों और वस्तुओं को स्थान देना चाहिए जो उसकी जटिलता को सुलझाने में और उसे हमारे अनुकूल बनाने में हमारी सहायक हों। अतः सबसे महत्त्व की बात हमारा वातावरण है और उसी को समझने तथा उससे लाभ उठाने में हमारा कल्याण है।

प्रयोजनवादी शिक्षा के विभिन्न रूपों (बौद्धिक, नैतिक, कलात्मक, धार्मिक तथा शारीरिक) को भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाएँ मानते हैं। इन क्रियाओं के द्वारा ही बालक अपने लिये मूल्यों तथा आदर्शों की रचना करता है और उनके अनुसरण से अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है।

प्रयोजनवाद ने शिक्षा में एक नई चेतना उत्पन्न कर दी है। इसने रूढ़िवादिता, कूपमंडूकता, अन्ध-विश्वास, परम्पराओं तथा प्राचीन आदर्शों के महत्त्व का अन्त कर दिया है। शिक्षा के क्षेत्र में अब इनका कोई स्थान नहीं है। अब प्राचीन आदर्श बालक पर बलपूर्वक नहीं लादे जाते। इस विचारधारा ने बालक को अन्वेषक बना दिया है। अब वह सत्यों, मूल्यों और आदर्शों की खोज करता है और उन्हीं आदर्शों तथा मान्यताओं को स्वीकार करता है जो प्रयोग और अनुभव द्वारा सिद्ध किए जा सकें। यह विचारधारा निगमन विधि (Inductive Method) द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के सिद्धान्त पर अधिक बल देती है। प्रयोजनवाद 'सांस्कृतिक युग सिद्धान्त' (Culture Epoch Theory) अथवा 'पुनरावृत्ति के सिद्धान्त' को स्वीकार करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार बालक अपनी बाल्यावस्था के कुछ वर्षों में अपने पूर्वजों की उन सब महत्त्वपूर्ण क्रियाओं को दोहराता है जिन्होंने आदि काल से लेकर अब तक सभ्यता के विकास में योग प्रदान किया है। प्रयोजनवादी इस कथन से पूर्ण रूप में सहमत हैं। इसलिए उन्होंने शिक्षा में बुनियादी शिल्पों (Basic Crafts) को अधिक महत्त्व दिया है क्योंकि उनका विकास समाज की मुख्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हुआ था।

साधारणतया जिस प्रकार का जीवन-दर्शन होता है उसी प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था भी होती है अर्थात् शिक्षा दर्शन का गत्यात्मक पहलू है। प्रयोजनवादी इस विचार का समर्थन नहीं करते। वे शिक्षा को दर्शन का गत्यात्मक पहलू नहीं मानते। उनका कथन है कि दर्शन-शास्त्र स्वयं शिक्षा की उपज है। दर्शन आदर्श शिक्षा का रूप निश्चित नहीं करते वरन् शिक्षा द्वारा उनका निर्माण होता है। दर्शन-शास्त्र शिक्षा के प्रयोग तथा व्यवहार में उत्पन्न होता है। इसलिए ड्यूवी शिक्षा सिद्धान्त को ही दर्शन मानता है। (Philosophy is the Theory of Education in its most general phases)

प्रयोजनवाद और शिक्षा के उद्देश्य

जीवन के किसी निश्चित मूल्य तथा आदर्श में विश्वास न करने के कारण प्रयोजनवादी शिक्षा का कोई विशिष्ट उद्देश्य प्रस्तावित नहीं करते हैं। वे प्राचीन उद्देश्यों को बालक पर लादने का विरोध करते हैं। पूर्वनिर्धारित लक्ष्य, मूल्य तथा उद्देश्य की दृष्टि से यह विचारधारा आदर्शवाद से भिन्न है। इस विचारधारा के अनुसार बालक स्वयं अपने लिये मूल्य तथा आदर्श उत्पन्न करते हैं। प्रयोजनवादी शिक्षक बालक को ऐसी परिस्थिति में रखना चाहते हैं जिसमें वह स्वयं अपने लिये मूल्यों की रचना कर सके। अतः शिक्षा का यदि कोई उद्देश्य हो सकता है तो यही कि बालक स्वयं अपने लिये मूल्य उत्पन्न कर लेने में समर्थ हो जाय। प्रयोजनवादी प्रकृतिवादियों की भांति बाह्य शक्ति, लक्ष्य तथा स्तर का विरोध करते हैं और बालक की रुचियों तथा आवश्यकताओं को उच्च मानते हैं। एक प्रयोजनवादी शिक्षक का कर्तव्य बालक के आवेगों (Impulses), रुचियों तथा प्रवृत्तियों को ठीक मार्ग पर लाना है। परन्तु इस पथ-प्रदर्शन का तात्पर्य बालक को पूर्वनिर्धारित मूल्य प्राप्त कराने से नहीं वरन् उसकी समस्याओं को सुलझाने और आवश्यकताओं की पूर्ति करने से है। इसका कोई अन्य दूरस्थ कारण नहीं है। प्रयोजनवादी शिक्षा द्वारा एक ऐसे क्रियमाण तथा साधनसम्पन्न मस्तिष्क की रचना करना चाहते हैं जो गतिशील रहे और विभिन्न परिस्थितियों में अनुकूलता उपलब्ध कर सके। ऐसा मस्तिष्क भविष्य में स्वतः ही मूल्य उत्पन्न कर सकेगा। ऐसे मनुष्य समाज का ऐसा पुनर्निर्माण कर सकेंगे जहां सामाजिक कार्यों द्वारा मनुष्य की आकांक्षाएं पूरी हो सकें।

प्रयोजनवाद और पाठ्य-क्रम

प्रयोजनवादियों ने पाठ्य-क्रम के संगठन के कई नियम प्रस्तुत किये हैं। उनका पहला नियम उपयोगिता है। इस नियम के अनुसार पाठ्य-क्रम में उन्हीं विषयों को स्थान देना चाहिए जो बालक के भावी जीवन में काम आने वाले अनुभवों से पूर्ण हों, जो उसे ज्ञान तथा सफल जीवन-यापन की क्षमता प्रदान कर सकें। इस दृष्टि से ... में भाषा, स्वास्थ्य-विज्ञान, शारीरिक प्रशिक्षण, इतिहास, भूगोल, गणित,

होना आवश्यक है। सच्ची शिक्षा वही है जो बालक क
मिलती है। इस प्रकार प्रयोजनवादी विचार की अपेक्षा
उनका विश्वास है कि बालक पुस्तकों से उतना न
क्रियाओं और अनुभवों से सीखता है। अतः "करके
सीखना" प्रयोजनवादी विधि का दूसरा सिद्धान्त है
नहीं है कि शिक्षा के साधनों में केवल व्यावहारिक
इसका तात्पर्य यह भी है कि बालक को जीवन की धार
उसे वास्तविक समस्याओं के समाधान के प्रयत्नों द्वारा
'विभिन्नता में एकता' के सिद्धान्त के पक्षपाती हैं।
विधि ऐसी होनी चाहिये जो विषयों में एकता स्थापित
विषय को दूसरे से जोड़कर पढ़ाना ही पढ़ाने की स
ज्ञान और कौशल के पाठों मे एकता स्थापित करना
इकाई है, अतः सम्पूर्ण मन की शिक्षा होनी च
(Integration) प्रयोजनवादी शिक्षा-विधि का तीसर

उक्त सिद्धान्तो के आधार पर ड्यूवी के शि
महोदय ने बालकों के शिक्षण की एक नई पद्धति
पद्धति को 'योजना-पद्धति' (Project Method) क
को शिक्षा समस्याओं के समाधान करने के प्रयास के

सार्वभौमिक अथवा निर्विषयक नहीं मानता। प्रयोजनवादी जेम्स का कहना है कि नियमों का सृजन स्थान तथा काल के अनुसार होता है और सभी का सृजन तिक प्रवृत्तियों के सन्तोष के लिए होता है, इसलिए वे शुद्ध रूप से निर्विषयक हो सकते।

(२) प्रयोजनवाद मनुष्यों की अनुभूतियों, भावनाओं तथा प्रवृत्तियों पर अधिक देता है। यह विचारधारा मनुष्य-जीवन से पूर्णरूप से सम्बन्धित है, अस्तु यह एक वीय विचारधारा है। इसके विपरीत प्रकृतिवाद का दृष्टिकोण यान्त्रिक तथा यक्तिक है। पीछे कहा जा चुका है कि प्रकृतिवाद ने व्यवहारवाद को जन्म ता है।

(३) प्रकृतिवाद मान्यताओं एवं आदर्शों को पूर्णतया अस्वीकार करता है। इसके परीत प्रयोजनवाद मान्यताओं एवं आदर्शों को स्वीकार करता है। किन्तु उनको श्वत नहीं मानता। ड्यूवी पूर्व-निश्चित मान्यताओं को भी स्वीकार करने के लिए ार है यदि वे प्रयोग और अनुभव के द्वारा सिद्ध की जा सकें।

(४) यद्यपि प्रयोजनवाद ने शिक्षा के उत्तम उद्देश्य प्रतिपादित नहीं किए तथापि विचारधारा ने शिक्षा की एक उत्तम विधि को जन्म दिया है। यह विचार कृतिवाद के सम्बन्ध में भी सत्य है। इस अर्थ में प्रयोजनवाद और प्रकृतिवाद में प्ति अनुरूपता है।

(५) प्रयोजनवाद एक सकारात्मक विचारधारा है और प्रकृतिवाद नकारात्मक। क्षा के क्षेत्र में इसी प्रकृतिवाद से रूसो की नकारात्मक शिक्षा का प्रतिपादन या है।

प्रयोजनवाद और आदर्शवाद—(१) प्रयोजनवाद आदर्शवाद का विरोधी है। दर्शवाद के अनुसार प्रकृति, मनुष्य और ईश्वर तीनों ही एक आध्यात्मिक तत्व के तिरूप हैं। प्रयोजनवाद किसी भी प्रकार के आध्यात्मिक तत्व को नहीं मानता। ह किसी भी तत्व की शाश्वत सत्ता में विश्वास नहीं करता। आदर्शवाद मनुष्य की ाध्यात्मिक चेतना पर बल देता है किन्तु प्रयोजनवाद मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना ी उपेक्षा करता है और वैयक्तिक चेतना पर बल देता है।

(२) आदर्शवाद जीवन के कुछ पूर्व-निश्चित 'सत्यों' 'मूल्यों' तथा 'आदर्शों' की सत्ता तथा अपरिवर्तनशीलता में विश्वास करता है। यह ऐसी मान्यताओं तथा ादर्शों को भी स्वीकार करता है जिनका परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध न हो। सके अनुसार बहुत सी बातों का जन्म मानसिक जगत में होता है और वास्तविक जगत में केवल उनका समाधान हुआ करता है। प्रयोजनवाद उक्त बातों का समर्थन नहीं करता। यह किसी भी पूर्वनिश्चित 'सत्य' तथा 'मूल्य' को शाश्वत सत्ता को स्वीकार नहीं करता। यह उनकी परिवर्तनशीलता में विश्वास करता है। प्रयोजनवाद

यह मानने के लिये तैयार नहीं कि जो आदर्श आज ठीक है वह सर्वदा ठीक रहेगा।
प्रयोजनवादी नए आदर्श तथा नई मान्यताओं का निरन्तर निर्माण करते हैं।

(३) प्रयोजनवाद बुद्धि को नैतिक आदर्शों तथा सांस्कृतिक कृतियों का आधार नहीं मानता। यह परिस्थितियों तथा भावनाओं को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। किन्तु आदर्शवादी बुद्धि पर अधिक बल देते हैं। उनका विचार है कि मनुष्य बुद्धि के द्वारा ही अपने भविष्य का निर्माण करता है और परमात्मा के प्रकाश का आनन्द प्राप्त करता है।

(४) प्रयोजनवाद शिक्षा के उच्च तथा उत्तम उद्देश्य प्रस्तुत नहीं करता। यह शिक्षा-विधि तथा साधनों पर अधिक बल देता है। इसके विपरीत आदर्शवाद शिक्षा के उत्तम तथा आदर्श उद्देश्य प्रस्तुत करता है। आदर्शवाद आध्यात्मिक गुणों पर बल देता है और प्रयोजनवाद मानवीय गुणों पर।

(५) प्रयोजनवाद विचार की अपेक्षा क्रिया पर अधिक बल देता है किन्तु आदर्शवाद के अनुसार 'विचार' ही सत्य तथा वास्तविक हैं। यह भौतिक तथा प्रत्यक्ष जगत् को तिरस्कार तथा उपेक्षा की दृष्टि से देखता है किन्तु प्रयोजनवाद ऐहिक जीवन की वास्तविकता पर जोर देता है। यह उसी वस्तु को सत्य मानता है जिसके द्वारा मनुष्यों के उद्देश्यों एवं आकांक्षाओं की पूर्ति होती है।

(६) चूंकि आदर्शवाद मनुष्य के लिए कोई नया दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं करता इसलिए कुछ व्यक्तियों के अनुसार आदर्शवाद एक स्थिरवादी विचार धारा है और प्रयोजनवाद एक प्रगतिशील एवं विकासवादी। 'रास' (Ross) का कथन है कि 'यदि आदर्शवादी अपने को प्रगतिशील रक्खें तो प्रयोजनवाद और आदर्शवाद के बीच का अन्तर कम हो जाता है।' (Pragmatism is within measurable distance of a dynamic idealism.)* 'रस्क' (Rusk) के अनुसार "प्रयोजनवाद उस नये आदर्शवाद के विकास का एक चरण है जो आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक मान्यताओं में सामंजस्य उत्पन्न कर सकेगा।" (It is merely a stage in the development of a new idealism—an idealism that will do full justice to reality, reconcile the practical and the spiritual values, and result in a culture which is the flower of efficiency and not the negation of it. †

निष्कर्ष—प्रयोजन वाद के मुख्य प्रवंतक जेम्स महोदय ने प्रयोजनवाद को आदर्शवाद तथा प्रकृतिवाद के मध्यावस्था (Via-media) की संज्ञा दी है। (Pragma-

* Ross: Groundwork of Educational Theory, page 139.
† Rusk: The philosophical Bases of Education, page 33.

ism is described as a via-media between Idealism and Naturalism.) जहाँ तक मनुष्य द्वारा निर्मित मूल्यों का सम्बन्ध है वहां प्रयोजनवाद प्रगतिशील आदर्शवाद के समान है, और जहां तक बालक तथा उसकी प्रकृति के अध्ययन का महत्त्व है वहाँ यह विचारधारा प्रकृतिवाद से मिलती-जुलती है। प्रकृतिवाद की भाति प्रयोजनवाद भी बालक की रचनात्मक प्रवृत्तियों तथा क्रियात्मक शक्तियों में विश्वास करता है और उन्हें प्रकृति-प्रदत्त मानता है।

प्रयोजनवाद की आलोचना

(१) प्रयोजनवाद पूर्वनिश्चित आदर्शों एवं मान्यताओं को स्वीकार नहीं करता। अतः इसमें उद्देश्य की कमी रहती है। उद्देश्यरहित कार्य में किसी का मन नहीं लगता। बिना उद्देश्य के शिक्षण-कार्य का संचालन ठीक-ठीक नहीं हो पाता।

(२) प्रयोजनवाद का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह जीवन के शाश्वत सत्यों तथा आदर्शों को बिल्कुल नहीं मानता। यह आध्यात्मिक जगत् को तिरस्कार तथा उपेक्षा की दृष्टि से देखता। यह एक बड़ी भूल है। सत्य का रूप काल, स्थान तथा उपयोगिता की सीमाओं से निर्मित नहीं होता। सदैव उपयोगिता एवं परिणाम के आधार पर सत्य तथा मान्यताओं को निर्मित करना ठीक नहीं।

(३) भावनाओं तथा प्राकृतिक प्रवृत्तियों की सुविधा के अनुसार बुद्धि का प्रयोग करना मनुष्य को पशु जीवन के निकट ले जाना है। बुद्धि मन की प्रवृत्तियों की दासी नहीं वरन् उन पर नियन्त्रण रखने के लिये मनुष्य को प्राप्त हुई है।

(४) प्रयोजनवाद ऐहिक जीवन की वास्तविकता पर बल देता है। इससे अर्थकरी शिक्षा को अधिक प्रोत्साहन मिलता है। फलतः सांस्कृतिक आदर्शों की उपेक्षा की जाती है।

अन्य विचारधाराओं की भाति प्रयोजनवाद में भी कुछ गुण हैं। इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि इसने शिक्षा के केन्द्र बिन्दु को पुस्तकीय ज्ञान से हटाकर बालक के व्यक्तित्व पर स्थापित करने में बड़ा योग दिया है। इसकी दूसरी महत्त्वपूर्ण देन 'प्रोजेक्ट मेथड' है। इस विधि में बालक को अपनी रचनात्मक प्रवृत्तियों के विकास का अवसर मिलता है। इसकी तीसरी विशेषता यह है कि यह विचार की अपेक्षा क्रिया को अधिक महत्त्व देता है। रस्क (Rusk) महोदय का कहना है कि प्रयोजनवाद का वह रूप जिसने अपना सबसे अधिक प्रभाव डाला है यह है कि उसने शिक्षा के क्षेत्र में विचारों को व्यवहार के अधीन कर दिया। प्रयोजनवाद ने सामाजिक, जनतान्त्रिक तथा प्रायोगिक शिक्षा पर बल दिया है। यह इसकी चौथी विशेषता है। इस विचार ने लगभग सभी देशों की शिक्षा-व्यवस्था को प्रभावित किया है। उक्त

रण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रयोजनवाद के अनेक गुण हैं। यदि प्रयोजनवाद में
वत आदर्शों की उपेक्षा न की जाय तो उसका भविष्य उज्ज्वल है।

प्रश्न

(१) प्रयोगवाद के सिद्धान्तों की स्पष्टता से व्याख्या कीजिए।

(२) प्रयोगवाद की अन्य वादों से तुलना कीजिए।

(३) शिक्षा में आदर्शवाद तथा प्रयोगवाद का क्या अर्थ है ? किस प्रकार एक
ा दूसरे को उत्तम शिक्षा-प्रणाली का आधार बनाया जा सकता है ?

(४) स्कूल के कार्य तथा उसका समाज से क्या सम्बन्ध है ? इस प्रसंग में
ंवादियों तथा प्रयोगवादियों के विचारों की तुलना करके उनके अन्तर को स्पष्ट
ए।

(५) स्कूल और पाठ्य-क्रम के कार्य के प्रसंग में सीखने की विधि पर प्रयोग-
यों की विचारधारा की विवेचना कीजिए।

(६) शिक्षा में 'प्रयोगवाद' और 'आदर्शवाद' में क्या अन्तर है ? स्पष्ट कीजिए।
म्बन्ध में अपने निजी विचारों की भी रूपरेखा दीजिए।

(७) कौन सा शिक्षा-दर्शन आपको अधिक रुचिकर है और क्यों ? इस दर्शन के
र शिक्षा के उद्देश्य और विधियाँ किस प्रकार निर्धारित होती हैं ?

पन्द्रहवाँ अध्याय

जॉन ड्यूवी (John Dewey)

(१८५६–१९५२)

जीवन तथा कार्य— पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि प्रयोजनवाद की विचारधारा के मूल प्रवर्तक विलियम जेम्स थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् जान ड्यूवी (John Dewey) ने प्रयोजनवाद के आन्दोलन का नेतृत्व स्वीकार करके अमरीकी जीवन के विभिन्न अङ्गों को इस विचारधारा से अत्यन्त ही प्रभावित किया है। ड्यूवी १८५६ ईसवी में पैदा हुए और उन्नीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'वर्मोंट यूनिवर्सिटी' (University of Vermont) से बी. ए. की डिग्री प्राप्त की। इस परीक्षा में उन्होंने सबसे अधिक अंक दर्शन-शास्त्र के विषय में प्राप्त किये। उन्होंने अपना जीवन अध्यापन कार्य से प्रारम्भ किया। मिनसोटा, मिशीगन तथा शिकागो विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर के पद पर काम किया। शिकागो में दर्शन-शास्त्र के साथ-साथ शिक्षा-शास्त्र भी पढ़ाया। तभी से शिक्षा में उनकी रुचि उत्पन्न हो गई। बालकों की शिक्षा के लिये शिकागो में एक स्कूल खोला, जिसे 'प्रोग्रेसिव स्कूल' (Progressive School) कहा। इस स्कूल में उन्होंने 'करके सीखने' (Learning by Doing) के सिद्धान्त का प्रयोग किया। इस स्कूल में किए गये प्रयोगों के आधार पर उन्होंने प्रयोजनवादी विचारों का प्रतिपादन किया। शिकागो से वे कोलम्बिया यूनिवर्सिटी गए। यहां पर उन्होंने शिक्षा सम्बन्धी अनेक प्रयोग किए और शिक्षा के अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या की। यहां पर उन्होंने अपने अवकाश-प्राप्ति अर्थात् सन् १९३० तक कार्य किया। सन् १९३३ में उन्होंने कई सामाजिक, शैक्षिक तथा मनोवैज्ञानिक संस्थाओं का सभापतित्व किया। अब ड्यूवी एक महान् दार्शनिक समझा जाने लगा और देश विदेश में उसे बड़ा मान मिला। उन्हें डाक्टर की उपाधि से विभूषित किया गया। उनके ६ बच्चे थे। उनकी जीवनगाथा के लेखक का कहना है कि ड्यूवी ने दर्शन तथा शिक्षा की समस्त समस्याओं के हल अपने बच्चों के साथ खेलते-खेलते प्राप्त किये हैं। ड्यूवी ने अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचारों से शिक्षा के व्यावहारिक अंग को अत्यन्त ही प्रभावित किया है। यह प्रभाव केवल अमरीकी शिक्षा तक ही सीमित नहीं रहा वरन् अन्य देशों की शिक्षा पर भी पड़ा है। रूस, टर्की, चायना आदि देशों ने उनके शिक्षा सम्बन्धी विचारों के अनुसार अपनी-अपनी शिक्षा-व्यवस्था में सुधार किए हैं। सन् १९५२ में यह महान् दार्शनिक तथा शिक्षा-शास्त्री परलोक सिधार गया। ड्यूवी के शिक्षा सिद्धान्तों ने आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में एक प्रकार की क्रान्ति मचा दी है। आज संसार का ऐसा कोई सभ्य देश नहीं है जहां उसके शिक्षा सिद्धान्तों की चर्चा न हो और उसके सिद्धान्तों को अपनाने का प्रयत्न न किया जा रहा हो। ड्यूवी

ने अपने दार्शनिक विचार तथा शिक्षा-सिद्धान्त निम्नांकित पुस्तकों में व्यक्त किये हैं:-

(१) दि स्कूल एण्ड दि सोसाइटी (The School and the Society).
(२) दि स्कूल एण्ड दि चाइल्ड (The School and the Child).
(३) स्कूल्स आफ टूमारो (Schools of Tomorrow).
(४) डेमोक्रेसी एण्ड एजुकेशन (Democracy and Education).
(५) रीकन्सट्रक्शन इन फिलासफी (Reconstruction in Philosophy)
(६) फ्रीडम एण्ड कल्चर (Freedom and Culture).
(७) हाऊ वी थिंक (How we think).

ड्यूवी की दार्शनिक विचारधारा

जॉन ड्यूवी प्रयोजनवादी तथा अनुभववादी माने जाते हैं। वे प्रत्येक विश्वास, विचार तथा सिद्धान्त की सत्यता को उसके फल से आंकते हैं। इस प्रकार वे विचार तथा विश्वास की व्यावहारिकता को सत्य मानते हैं। उनका कथन है कि दर्शन निरा निष्क्रिय विचार नहीं; वह तो ऐसा ज्ञान है जिससे जीवन की वास्तविक समस्याओं को हल किया जा सकता है और जीवन को नया रूप दिया जा सकता है। वे पूर्व-निर्धारित निरपेक्ष 'सत्यों तथा मूल्यों' के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते हैं। उनके अनुसार मानव को अपनी बुद्धि तथा रचनात्मक शक्ति की सहायता से अपने जीवन के मूल्यों की रचना करनी होती है और ये मूल्य काल, व्यक्ति तथा स्थान के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं।

ड्यूवी स्वानुभव पर बल देते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति वस्तु, पदार्थ तथा सामाजिक वातावरण के सम्पर्क में आकर जो अनुभव प्राप्त करता है वही सत्य है। अनुभव के द्वारा ही हमें सच्चा ज्ञान मिलता है और आचरण में परिवर्तन होता है।

ड्यूवी निस्समाज व्यक्ति की कल्पना नहीं करते हैं। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी और एक नागरिक है जो अन्य मनुष्यों के साथ रहकर तथा काम करके बढ़ता है। इस प्रकार ड्यूवी की दार्शनिक विचारधारा में सामाजिक पुट है। वे दर्शन-शास्त्र को सामाजिक न्याय का साधन मानते हैं। इसलिये वे अपने दर्शन द्वारा लोगों के विचारों में स्पष्टता लाना चाहते हैं जिससे वे अपने समय की सामाजिक तथा नैतिक गुत्थियाँ सुलझा सकें। वे दर्शन-शास्त्र और शिक्षा में कोई अन्तर नहीं मानते। उनका कथन है कि 'अपनी साधारण अवस्थाओं में शिक्षा-सिद्धान्त ही दर्शन कहलाता है।' (Philosophy may even be defined as the theory of Education in its most general phases).

ड्यूवी की शैक्षिक विचारधारा

ड्यूवी की दार्शनिक विचारधारा ने शिक्षा को अत्यन्त ही प्रभावित किया है।

उनके विचारों ने शिक्षा के क्षेत्र मे एक क्रान्ति मचा दी है। शिक्षा के पुनर्संगठन के लिये उन्होने लोगो का ध्यान प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के दोषों की ओर आकर्षित किया। उन्होंने बतलाया कि प्रचलित शिक्षा मनुष्य को जीवन की नवीन परिस्थितियो का सामना करने के लिए तैयार नहीं करती। प्रचलित शिक्षा की सबसे बड़ी कमी यही है कि वह व्यवसायिक क्रान्ति द्वारा समाज मे लाये हुए असाधारण परिवर्तन के साथ अपनी गति नहीं मिला सकी है। इस क्रान्ति के कारण प्राचीन कौटुम्बिक जीवन तथा समाज का अन्त हो गया है। अब बालक बनी बनाई वस्तुओं के मध्य मे रहता है और उसे यह नही मालूम होता कि वस्तुए किस प्रकार बनाई जाती हैं और उनका उद्गम क्या है। इससे तो पहले का ग्राम जीवन ही अधिक उत्तम तथा महत्वपूर्ण था। बालक घर के काम मे हाथ बटाकर व्यवसाय की मुख्य-मुख्य बातें जान लेता था। वह वस्तुओं के बनाने की क्रिया तथा उनके उत्पादन के साधन से परिचित हो जाता था। कार्यों को करने से उसके मस्तिष्क तथा चरित्र का विकास होता था। परन्तु आधुनिक जीवन मे बालको को इस तरह की शिक्षा प्राप्त करने का कोई अवसर नही मिलता है। शिक्षा प्रणाली भी दूषित है। शिक्षा से केवल थोड़े से व्यक्तियों को लाभ होता है। पुस्तकीय शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाता है। कक्षाओं में निष्क्रिय बैठकर बालक अध्यापक का प्रवचन सुनते हैं। डैस्क, बेंच तथा कुर्सियो के प्रबन्ध से यही ज्ञात होता है। इस प्रकार के प्रबन्ध मे बालक को करके सीखने का अवसर नहीं मिलता है। अतः बालकों को प्रचलित शिक्षा से कोई लाभ नहीं होता है। यह उनकी बौद्धिक पुरोगामिता (Initiative) को नष्ट कर देती है। इस प्रकार ड्यूवी ने परम्परा, परम्परागत शिक्षा, उसकी व्यवस्था तथा कार्यक्रम का विरोध किया।

सुधार के लिए ड्यूवी ने शिकागो मे एक प्रगतिशील शिक्षालय खोला जिसमे चार से लेकर तेरह वर्ष तक के विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। इसी शिक्षालय के अनुभवों के आधार पर उन्होने नवीन शिक्षा सिद्धान्तो की रचना की और शिक्षा का एक नया स्वरूप निश्चित किया। यह स्वरूप 'प्रोग्रेसिव एजुकेशन' (Progressive Education) के नाम से प्रसिद्ध हुआ और इसी को योरुप में 'न्यू एजुकेशन' (New Education) कहा गया है। 'प्रोग्रेसिव एजुकेशन' का आन्दोलन 'रूसो' और 'फ्रोबेल' के विचारों के फलस्वरूप आरम्भ हुआ था। इस आन्दोलन के दो लक्ष्य थे: १—शिक्षा द्वारा बालक के व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए, और २—शिक्षा द्वारा जनतन्त्र की स्थापना तथा सामाजिक न्याय की रक्षा होनी चाहिये। उक्त विचारों के परिणामस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में कई नई-नई विचारधाराएं उत्पन्न हुई। परन्तु इन सब विचारों को सैद्धान्तिक स्वरूप देने का कार्य ड्यूवी ने किया।

(१) शिक्षा और जीवन—ड्यूवी ने अपने ग्रन्थ 'डेमोक्रेसी एण्ड एजुकेशन' के प्रथम अध्याय में बतलाया है कि शिक्षा जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि

बिना शिक्षा के जीवन की प्रगति नहीं हो सकती। अभी तक जितने भी शि
सास्त्री हुए हैं सब का यह सिद्धान्त रहा है कि शिक्षा व्यक्ति को भावी जीवन के
तैयार करती है। ड्यूवी ने इस सिद्धान्त का खंडन किया और यह बतलाया कि
स्वयं ही जीवन है, यह जीवन के लिये तैयारी नहीं है। (The school should
life and not a preparation for living.) इसका तात्पर्य यह है कि ब
की शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो उनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की आवश्यकताओं
पूर्ति करे। इस दृष्टि से ड्यूवी ने अपने 'प्रयोगात्मक शिक्षालय' (Labora
School) में उन सभी कार्यों को स्थान दिया जिनकी जीवन में आवश्यकता
है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि ड्यूवी जब जीवन का उ
करता है तो उसका तात्पर्य वैयक्तिक जीवन से नहीं वरन् सामाजिक जीवन है।

(२) शिक्षा के अंग:- (क) मनोवैज्ञानिक— ड्यूवी महोदय शिक्षा-प्र
के दो अङ्ग मानते हैं:— एक मनोवैज्ञानिक और दूसरा सामाजिक। मनोवैज्ञ
अङ्ग शिक्षा का आधार है। इस अङ्ग का तात्पर्य यह है कि बालक की मूल प्रवृ
तथा शक्तियों के आधार पर ही शिक्षा का स्वरूप निश्चित होना चाहिये। दूसरे
में बालक की शिक्षा उसकी रुचियों के अनुसार होनी चाहिए। बालक की र
तथा कार्यों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करके उनके अनुरूप शिक्षा की योजना
करनी चाहिए। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा शक्तियों के अध्ययन से हमें
सामग्री का ज्ञान हो जायगा और वहीं से हम शिक्षा प्रारम्भ कर सकते हैं।
सार्वभौमिक सिद्धान्त का मानने वाला है। वह प्रत्येक व्यक्ति को उसके विक
लिये उसकी योग्यता और रुचि के अनुसार समान अवसर देना चाहता है।

ख) सामाजिक— ड्यूवी ने शिक्षा-प्रक्रिया के दूसरे अङ्ग अर्थात् साम
अङ्ग को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उनका कथन है कि 'जातीय सामाजिक
में क्रियाशील रहते हुए ही मनुष्य शिक्षा प्राप्त करता है।' ('All educa
proceeds by the participation of the individual in the So
Consciousness of the race.') अतः शिक्षा का उद्देश्य ऐसा वातावरण
करना है जिसमें बालक सक्रिय रह कर मानव जाति की 'सामाजिक जागृ
सफलतापूर्वक भाग ले सके। सामाजिक जागृति में भाग लेने से बालक के आच
सुधार होता है और उसकी शक्तियों तथा व्यक्तित्व का विकास होता है। चूंकि
एक सामाजिक प्राणी है और उसे समाज में ही रहना है, इसलिये सामाजिक
द्वारा उसकी शक्तियों को उत्तेजित करना तथा बढ़ाना ही सच्ची शिक्षा है।

समाज और शिक्षा— समाज की उन्नति तथा स्थायित्व व्यक्ति के विक
निर्भर होता है। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की सुविधा का ध्यान र
... करता चले तो समाज स्वयं उन्नत हो जायगा। व्यक्ति जो कुछ भी

है उसका सामाजिक महत्त्व होता है। उसके कार्य का महत्व उसकी सामाजिक उपयोगिता से आँका जा सकता है। यदि उसके सामाजिक कार्यों से आवश्यकताओं की पूर्ति होती है तो कार्य उत्तम है अन्यथा नहीं। समाज व्यक्ति के लिये ऐसे वातावरण का निर्माण करता है जिसमें रह कर वह कार्य करने की योग्यता प्राप्त कर सके क्योंकि बिना योग्यता के वह कार्य न कर सकेगा। समाज व्यक्ति की योग्यताओं और शक्तियों के विकास के लिये शिक्षा की व्यवस्था करता है। इस प्रकार समाज और शिक्षा को पृथक् नहीं किया जा सकता। शिक्षा समाज के लिये है, बालक को रस्म-रिवाज, विचार, परम्परा आदि जो एक जाति के आवश्यक गुण हैं प्रदान करने के लिये शिक्षा की आवश्यकता होती है। अतः समाज के अनुकूल ही शिक्षा का रूप होना चाहिए। चूंकि उस समय की शिक्षा समाज की गति के अनुकूल नहीं थी इसलिये ड्यूवी ने बालक को सामाजिक कार्यों में क्रियाशील रखकर शिक्षा देने के सिद्धान्त पर बल दिया। उसने बतलाया कि पाठशाला को समाज का लघु रूप होना चाहिए जिससे बालक पाठशाला-समाज में सामाजिक जीवन की शिक्षा ग्रहण कर सके। इस प्रकार ड्यूवी के अनुसार शिक्षा व्यक्ति को सामाजिक बनाने की एक क्रिया है।

ड्यूवी का विचार है कि मस्तिष्क का विकास समाज-हित के कार्यों में सामूहिक रूप से भाग लेने से होता है। दूसरे शब्दों में जब तक बालक सामूहिक जीवन का अनुभव प्राप्त नहीं कर लेता तब तक उसकी बुद्धि का विकास नहीं हो पाता। अतः अनुभव ही बुद्धि के विकास के साधन हैं। अपनी क्रियाओं द्वारा हमारा अनुभव प्रतिक्षण प्रतिदिन बदलता रहता है। और नये-नये अनुभवों द्वारा पूर्व अनुभव परिवर्तित तथा संशोधित होता रहता है। अनुभव के स्वरूप को समझ कर हम हितकर आचरण करने की क्षमता तथा विवेकशीलता ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार हमारे ज्ञान के भण्डार में वृद्धि होती है। ड्यूवी ने अनुभव को शिक्षा का आधार माना है। वे कहते हैं कि "हमारे अनुभव के परिवर्तित तथा संशोधित होने का नाम ही शिक्षा है और इस परिवर्तन तथा संशोधन के साथ ही वह अनुभव सामाजिक गुणों से सम्पन्न हो जाता है और इन गुणों को अपने में प्रविष्ट कराने के लिये यह व्यक्तिगत कुशलता पर बल देता है।" ड्यूवी का यह भी कथन है कि शिक्षक जो कुछ कहे उसे सत्य समझ ले, उसकी आज्ञा मानकर चलने या डर कर जैसा वह कहे वैसा करने से बालक के व्यक्तित्व का सामाजिक विकास नहीं हो सकता है। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा क्रियाशीलता को कार्य रूप में परिणत करना ही शिक्षा का सच्चा स्वरूप है। इससे बालक में आत्मविश्वास तथा आत्म-निर्भरता जैसे गुणों का विकास होता है।

जनतन्त्र और शिक्षा—ड्यूवी के अनुसार प्रजातन्त्रीय युग में शिक्षा द्वारा ऐसे समाज का निर्माण करना चाहिए जो जनतान्त्रिक हो। ऐसे समाज में व्यक्ति और व्यक्ति के बीच कोई भेद नहीं होता है। समाज के सभी सदस्य एक दूसरे का ध्यान

रखते हुए सहयोग के साथ कार्य करते हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपनी व्यक्ति
प्रवृत्तियों के अनुसार अपने स्वतन्त्र विकास का तथा अपनी इच्छाओं तथा आकां
को तृप्त करने का अवसर मिलता है। सभी मनुष्यों को समान अधिकार प्राप्त
है। किन्तु जो कुछ कार्य किया जाता है उसमें समाज के हित का पूरा ध्यान
जाता है। ऐसे समाज का निर्माण तभी हो सकता है जब व्यक्ति-हित तथा स
हित में कोई अन्तर न रहे। अतः शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो जनतांत्रिक सम
अनुकूल हो अथवा जो व्यक्ति-हित तथा समाज-हित में समजस्य स्थापित करे औ
व्यक्तियों में पारस्परिक सम्पर्क तथा सहयोग की भावना उत्पन्न करे। यह त
सकता है जबकि पाठशाला को जनतांत्रिक समाज का एक लघु रूप मान लिय
और जिसमें सब बालक मिल कर परस्पर सहयोग और सद्भाव के साथ कार्य
इस प्रकार ड्यूवी के कथनानुसार जनतांत्रिक समाज को अच्छे गुणों के साथ पा
में प्रतिष्ठ कर देना चाहिये जिससे बालक अपने आपको उस समाज का एक अं
और उसके विकास में सक्रिय सहयोग दे। आत्म-स्फूर्ति तथा क्रियाशीलता से
विकास होता है। नैतिकता भी सभ्यता तथा संस्कृति के विकास में सहायक हो
इससे कुशल, चरित्रवान् तथा गुणवान व्यक्ति तैयार होते हैं जो आगे चल कर
का नेतृत्व करते हैं। अतः ऐसे व्यक्तियों का जो समाज का नेतृत्व कर सकें पर
कर उनके विकास का समुचित प्रबन्ध करना शिक्षा का उद्देश्य है। ऐसे व्यक्ति
पाठशाला के प्रजातन्त्रीय समाज में दायित्वपूर्ण पदों पर कार्य करने का अवस
समाज में कार्य करने की ट्रेनिंग मिलनी चाहिए तभी वे समाज का हित
सफल हो सकेंगे। किन्तु यह ध्यान रहे कि शिक्षा के क्षेत्र में सभी बालक
बालिकाओं को समान अवसर मिलने चाहियें और उनकी योग्यतानुसार शि
प्रबन्ध होना चाहिये।

ड्यूवी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य

ड्यूवी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक की समस्त शक्तियों को
अवसर देना है। किस बालक की शक्तियां किस ओर विकसित होंगी, यह
नहीं कहा जा सकता, अतएव शिक्षा का ध्येय भी पहले से निश्चित नहीं कि
सकता। बालकों की रुचियों तथा योग्यताओं में भिन्नता होती है। यदि ह
का ध्येय पहले से ही निर्धारित कर लें और उसी ओर सभी बालकों को ले
हम उनका लाभ न कर के हानि ही करेंगे। अतएव शिक्षा ऐसी होनी चाहिए
बालक की उन शक्तियों और योग्यताओं का पूर्ण विकास हो सके जो उस
उपयोगी हों। अर्थात् जो उसकी व्यावहारिक समस्याओं को हल करने में का
इसके अतिरिक्त शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो बालक में सहयोग से कार्य
धारण करे और जो उसके दृष्टिकोण के विस्तार में सहायक हो। इस प्र

शिक्षा न केवल व्यक्तियों के लिये लाभदायक होती है वरन् समाज के लिये भी हितकर होती है क्योंकि उन्नतिशील व्यक्तियों के द्वारा ही योग्य समाज का निर्माण होता है। शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध में उक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए ड्यूवी महोदय आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य ऐसा वातावरण तैयार करना मानते हैं जिसमें प्रत्येक बालक को संपूर्ण मानव जाति की 'सामाजिक जागृति' में सक्रिय रहकर योगदान करने का अवसर मिले। शिक्षा ऐसी हो कि बालक अपने पिछले तथा आगे आने वाले अनुभवों को ठीक-ठीक समझ सके; अपनी स्वाभाविक शक्तियों का विकास कर सके और सामाजिक परिस्थितियों का सफलतापूर्वक सामना कर सके। संक्षेप में ड्यूवी की शिक्षा का उद्देश्य हमें व्यावहारिक कुशलता व सामाजिक जीवन में दक्षता प्राप्त कराना है। दूसरे शब्दों में इसे सामाजिक कुशलता (Social efficiency) का उद्देश्य कहते हैं।

शिक्षा का पाठ्य-क्रम

ड्यूवी ने पाठ्यक्रम के संगठन के लिये कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि आदर्श पाठ्यक्रम बालक के सामाजिक जीवन तथा सामाजिक क्रियाओं पर आधारित होना चाहिए: अर्थात् जिन वस्तुओं और विषयों में बालक की रुचि हो और जिनकी कुछ उपयोगिता हो उन्हीं के आधार पर पाठ्यक्रम बनाना चाहिए।

दूसरे, पाठ्यक्रम बालक की रुचियों और अवस्थाओं के अनुसार बदलता रहना चाहिए। पाठ्यक्रम अनियमित, लचकदार तथा क्रियात्मक होना चाहिए। प्रारम्भिक कक्षाओं का पाठ्यक्रम बालक को चार प्रकार की रुचियों पर निर्भर रहना चाहिए—१. बातचीत तथा विचारों का आदान-प्रदान (Conversation and Communication) २. खोज की रुचि (Enquiry), ३. रचना की रुचि (Construction), तथा ४. कलात्मक अभिव्यक्ति की रुचि (Artistic Expression)। इन रुचियों के आधार पर उसने पाठ्यक्रम में उन विषयों को स्थान दिया है जिनके द्वारा बालक पढ़ने, लिखने, गिनने, हस्तकला, प्रकृति विज्ञान, कला, संगीत आदि का ज्ञान प्राप्त कर सके। ड्यूवी कहता है कि यह आवश्यक नहीं कि सब विषय एक साथ पढ़ाये जायें किन्तु जैसे-जैसे उनकी आवश्यकता पड़ती जाय वैसे-वैसे वे पढ़ाये जाने चाहिएं।

तीसरे, पाठ्यक्रम का स्वरूप बालक के वर्तमान अनुभव तथा क्रियाओं के आधार पर निश्चित किया जाना चाहिए। क्रियाओं को समस्याओं के रूप में प्रस्तुत करने से पूर्वसंचित अनुभवों के भण्डार तथा पूर्वार्जित ज्ञान में वृद्धि होती है। ड्यूवी का कहना है कि अनुभव रचनात्मक होते हैं। उनके द्वारा बालक नए-नए अनुभवों को ग्रहण करता है और पुराने अनुभवों का पुनर्निर्माण करता है।

चौथे, पाठ्यक्रम में उन्हीं वस्तुओं और विषयों का समावेश होना चाहिए जिनका बालक के वास्तविक जीवन से सम्बन्ध हो। यह तभी सम्भव हो सकता है जब वर्तमान जीवन में काम आने वाली वस्तुओं को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाए। विषयों को इस प्रकार पढ़ाना चाहिए कि उनकी वर्तमान जीवन के लिये उपयोगिता स्पष्ट हो जाय। यदि समस्त विषय बालक के वर्तमान जीवन से सम्बन्धित होंगे तो उनमें स्वतः ही एकता होगी। इस प्रकार विभिन्नता में एकता आ सकती है। दूसरे शब्दों में शिक्षा के विभिन्न विषयों में अर्थात् भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल आदि मे समन्वय स्थापित हो सकेगा। ड्यूवी का कथन है कि वर्तमान पाठ्यक्रम जिसके अनुसार ज्ञान को विभिन्न विषयों मे बाटा गया है मनोविज्ञान की दृष्टि से निर्मूल है। ज्ञान एक है, उसकी शाखाओं को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वह विभिन्न विषयों में समन्वय का पक्षपाती है और बालक को ही समन्वय का आधार बनाना चाहता है।

ड्यूवी की शिक्षण पद्धति

ड्यूवी ने शिक्षण-पद्धति के सम्बन्ध में अपने विचार "हाऊ वी थिंक" (How we think) और "इन्ट्रेस्ट एण्ड एफर्ट इन एजुकेशन" (Interest and Effort in Education) नामक ग्रन्थों में व्यक्त किये हैं। उसके अनुसार शिक्षा की वही पद्धति सबसे श्रेष्ठ है जो 'करके सीखने' के सिद्धान्त पर आधारित हो। उसका कथन है कि शिक्षा पद्धति ऐसी होनी चाहिए जो बालक के जीवन, क्रियाओं तथा विषयों में एकता स्थापित करे। उक्त बातों में समन्वय स्थापित करने के लिये ड्यूवी ने क्रियाओं को केन्द्र बना कर शिक्षा देने का सुझाव रखा है। सब विषय क्रियाओं के चारों ओर इस प्रकार बांध दिए जायें कि बालक क्रिया द्वारा ही विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सके। उदाहरण के लिये यदि बालक रुई कातने का काम करते हैं तो वे यह भी जान जावेंगे कि कपास कितने प्रकार का होता है, कहां-कहां पैदा होता है और इसके लिये किस प्रकार की जलवायु की आवश्यकता होती है। इस प्रकार उन्हें भूगोल सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त हो जावेगा। अतः ड्यूवी ने क्रियाओं पर बल दिया है। ड्यूवी का कथन है कि ये क्रियाएं शिक्षक द्वारा पहले से ही निर्धारित न की जायें। अध्यापक का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक बालक की स्वाभाविक रुचियों को समझे और उनके अनुसार प्रत्येक बालक के लिये उपयोगी कार्य की व्यवस्था करे। बालकों को इस बात का अवसर दे कि वे स्वयं अपने कार्य का प्रस्ताव करें। उक्त बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्कूल का कार्य-क्रम पहले से निर्धारित न होगा। वह प्रति-दिन बदलता रहेगा और बालकों के प्रस्ताव के अनुकूल होगा। इस प्रकार शिक्षक बालकों को इच्छानुकूल कार्य करने का अवसर देगा और उनके कार्य का निरीक्षण करेगा। कोई दबाव अथवा डर दिखलाकर बालकों से कार्य न कराया जायगा।

जो कार्य निश्चित किये जायें वे ऐसे होने चाहिए जिनके द्वारा बालक के मन में वांछित भावनाओं का विकास हो सके। इन कार्यों द्वारा बालकों को उन्हीं विषयों का ज्ञान कराना चाहिये जो कार्य से सम्बन्धित हो और जो व्यावहारिक समस्याओं का हल करने के लिये आवश्यक हों। इन कार्यों का अभिप्राय बालक के अनुभवों में वृद्धि करना है। इसके अतिरिक्त कार्यों की यह भी विशेषता होनी चाहिये कि वे बालक की रुचि के अनुसार हों और उसे उनके परिणाम का ज्ञान हो। इस प्रकार 'रुचि' और 'आत्म-क्रिया' ड्यूवी की शिक्षण-पद्धति की मुख्य विशेषताएं हैं। उक्त सिद्धान्तों के आधार पर ही प्रयोगात्मक स्कूल में कार्य किया जाता है। यह पद्धति आगे चल कर योजना पद्धति (Project Method) के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस पद्धति के अनुकूल कार्य करने से बालकों में स्फूर्ति, आत्म-विश्वास, आत्म-निर्भरता तथा मौलिकता का विकास होता है। कार्य सामूहिक रूप में भी किये जाते हैं। सामूहिक कार्यों से बालक में सामाजिकता तथा सहकारिता की भावना का विकास होता है। परन्तु इस पद्धति से बालकों को प्रत्येक विषय का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता। उनका ज्ञान अव्यवस्थित रहता है। इस कमी का ड्यूवी ने स्वयं भी अनुभव किया। उसने अपने "अनुभव और शिक्षा" नामक ग्रन्थ में इस पद्धति की अपूर्णता को स्वीकार किया है।

ड्यूवी के स्कूल सम्बन्धी विचार

शिक्षा के संगठन की दृष्टि से ड्यूवी के स्कूल सम्बन्धी विचार अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हैं। ड्यूवी ने अपने समय के स्कूलों को दोषपूर्ण बतलाया और सक्रिय स्कूलों (Activity Schools) का सूत्रपात किया। उन्होंने कहा कि पाठशालाओं की सबसे बड़ी कमी यही है कि वे समय के परिवर्तन के प्रति निरपेक्ष हैं। उनमें पूर्व परम्परा का बोलबाला है। पुस्तकीय शिक्षा पर बल दिया जाता है। छात्रों को काम करके सीखने का अवसर नहीं मिलता। वे कक्षाओं में निष्क्रिय श्रोता बनकर शिक्षक का भाषण सुनते रहते हैं इन भाषणों से कोई लाभ नहीं होता। बालकों का न तो बौद्धिक विकास होता है और न नैतिक। ड्यूवी के अनुसार बिना क्रिया के मस्तिष्क तथा चरित्र का विकास असम्भव है। स्कूल का घर तथा समाज से कोई सम्बन्ध नहीं है। बालक स्कूल में पहुँचकर अपने को अजनबी अनुभव करता है। स्कूल में उसे सामूहिक रूप में कार्य करने का अवसर नहीं मिलता। उसे सामाजिक बनाने की चेष्टा नहीं की जाती।

सुधार के लिये ड्यूवी ने अपनी विचारधारा के आधार पर सन् १८९६ में शिकागो में एक स्कूल खोला और उसे 'प्रयोगात्मक विद्यालय' (Laboratory School) का नाम दिया। इस विद्यालय में उसने प्राचीन परम्परा को छोड़कर प्रत्येक वस्तु और विधि की प्रयोगों द्वारा परीक्षा की और अपने प्रयोगों के परिणामों के आधार

पर नवीन विधियाँ और विधियों की रचना की। इस विद्यालय में उसने उद्योगों के माध्यम से शिक्षा देने का प्रबन्ध किया। उसका विचार है कि जीवन से सम्बन्धित उद्योगों जैसे बढ़ई की दुकान, लोहार की दुकान, खाना बनाना, सीना आदि के माध्यम द्वारा समस्त विषय सरलता से पढ़ाये जा सकते हैं। इस धारणा के आधार पर उसने 'प्रयोगात्मक विद्यालय' का कार्य-क्रम विभिन्न प्रकार की क्रियाओं जैसे वस्तुओं का निर्माण करना, खेलना, वस्तुओं और यन्त्रों का प्रयोग करना, प्रकृति से सम्पर्क स्थापित करना, शारीरिक कार्य करना आदि पर आधारित किया।

ड्यूवी के अनुसार स्कूल एक मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक आवश्यकता है। मनोवैज्ञानिक इसलिये कि वह गृह-जीवन के विकास के क्रम को अक्षुण्ण रखता है। और सामाजिक इसलिये कि वह बालक को सामाजिक जीवन की शिक्षा देने का प्रबन्ध करता है। ड्यूवी स्कूल को समाज का एक लघु रूप मानता है। उसके कथनानुसार स्कूल में समाज की वे सब क्रियायें लघु रूप में केन्द्रीभूत होनी चाहिए जो स्कूल से बाहर दीर्घरूप में दृष्टिगोचर होती हैं और जिनमें बालक को स्कूल छोड़ने पर प्रवेश करना पड़ता है। इन क्रियाओं के द्वारा बालक के मस्तिष्क तथा चरित्र का विकास होता है और साथ ही साथ उसमें समाज की वृहत् क्रियाओं को करने की क्षमता उत्पन्न होती है। जो क्रियायें सामाजिक नहीं हैं अथवा जिनकी समाज के लिये कोई उपयोगिता नहीं है उन क्रियाओं को पाठशाला में कोई महत्त्व नहीं देना चाहिए। स्कूल का उद्देश्य समाज तथा उपयोगी विचारों को स्पष्ट कर बालक को उपयोगी अनुभव देना है। ड्यूवी कहता है कि स्कूल का उद्देश्य व्यक्ति को भावी जीवन के लिये तैयार करना नहीं है। "स्कूल तो स्वयं जीवन है।" यहां ड्यूवी स्पेन्सर का विरोधी प्रतीत होता है।

ड्यूवी का कथन है कि स्कूल एक सार्वजनिक संस्था है और शिक्षा एक सामाजिक व्यवस्था होने के नाते स्कूल सामाजिक जीवन का वह रूप है जिसमें वे सब क्रियायें केन्द्रित हैं जो बालक ने मानव-जाति से पैतृक सम्पत्ति के रूप में पाई हैं और जिसमें वह स्वयं अपना भाग जोड़कर समाज का हित करता है।

आधुनिक जगत की क्रियायें इतनी जटिल और पेचीदी हैं कि बालक उन्हें सरलता से ग्रहण नहीं कर सकता। अतः स्कूल में जीवन की सभी लाभदायक क्रियाओं को सरल शुद्ध और सतुलित रूप में प्रस्तुत करना चाहिए जिससे बालक उन्हें समझ ले और भविष्य के लिये अपना आधार बना ले।

स्कूल जीवन का कोई पृथक् भाग नहीं है, अतः स्कूल-जीवन और गृह-जीवन में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। इन दोनों में सामंजस्य होना चाहिए। स्कूल को एक विकसित गृह की भांति होना चाहिए। स्कूल में घर के खेलों और कार्यों का बनाये रखना चाहिए। इससे स्कूल में बालक अपने आपको अजनबी अनुभव

नहीं करता और जिन व्यवसायों को घर पर अव्यवस्थित रूप से सीखता है वही स्कूल मे व्यवस्थित रूप में सीख जाता है। संक्षेप मे स्कूल का काम घर और समाज के बीच का नाता जोड़ना है और उन क्रियाओं को हाथ में लेना है जो घर से प्रारम्भ होती हैं। इस प्रकार बालक को घर और स्कूल में कोई अन्तर न मालूम होगा और उसे स्कूल जाने तथा भिन्न-भिन्न कार्य करने में उतने ही आनन्द की प्राप्ति होगी जो घर पर कार्य करने मे होती है।

ड्यूवी ने इस बात पर बल दिया है कि पाठशालाओं में बालकों को किसी न किसी व्यवसाय की शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिये। ये व्यवसाय समाज के कार्यों के अनुरूप होने चाहिएं। व्यवसायों का तात्पर्य केवल व्यापार की अथवा रोजगार की शिक्षा देने से नहीं है। इनकी तो वैयक्तिक तथा सामाजिक उपयोगिता है। इनसे व्यक्ति के क्रियात्मक तथा बौद्धिक अनुभवों का संतुलन होता है। उसकी अन्वेषण-शक्ति तथा वैज्ञानिक और रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। उसमें ऐसी चेतना और स्फूर्ति पैदा होती है जिससे वह समाजहित के कार्यों में लीन रहता है और उसमे सामूहिक रूप से कार्य करने की आदत पड़ती है।

ड्यूवी का कथन है कि पाठशालाओं को समाज का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। उनका स्वरूप समाज की आवश्यकताओं के अनुसार बदलते रहना चाहिए। तभी वे समाज की आवश्यकताओं तथा मांगों की पूर्ति कर सकती हैं। ड्यूवी ने अपने ग्रन्थ "डेमोक्रेसी और शिक्षा" में निश्चय किया कि शिक्षा का मुख्य आदर्श प्रजातन्त्र का विकास एवं समर्थन करना है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब व्यक्तियों को प्रजातन्त्रीय शासन-पद्धति में ट्रेनिंग प्राप्त करने का अवसर मिल सके। यह ट्रेनिंग पाठशालाओं द्वारा बड़ी सरलता से दी जा सकती है। इसलिये ड्यूवी ने पाठशालाओं में एक आदर्श प्रजातन्त्र राज्य का प्रतिबिम्ब उपस्थित करने का सुझाव रखा है। उसका कथन है कि पाठशालाओं में प्रजातन्त्र का ऐसा सजीव वातावरण उपस्थित करना चाहिए जो व्यक्तियों में नागरिकता की भावना उत्पन्न कर सके और देश के लिये योग्य शासकों और नेताओं को तैयार कर सके।

शिक्षक का स्थान

आदर्श स्कूल में शिक्षक का क्या स्थान है? इस प्रश्न का उत्तर ड्यूवी ने अपने ढंग से दिया है। रूसो के प्रतिकूल ड्यूवी ने अपनी शिक्षा योजना में शिक्षक को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है। ड्यूवी शिक्षक को समाज का सेवक मानता है। उसका कर्तव्य सुन्दर सामाजिक जीवन की नींव डालना बतलाता है। अतः स्कूल मे उसे ऐसा सामाजिक वातावरण निर्माण करना है जिसमें बालक के सामाजिक व्यक्तित्व का विकास हो सके। इस प्रकार उचित व्यवस्था स्थापित कर समाज का उसे विकास

करते रहना है। समाज हित की दृष्टि से ड्यूवी शिक्षक को ईश्वर का प्रतिनिधि मानता है।

उक्त बातों के साथ-साथ उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि अब शिक्षक अपने आप को बालक से बड़ा न समझे। उसे आज्ञाएं और उपदेश न दे। अपने व्यक्तित्व को उस पर न लादे। अब शिक्षक निरीक्षक मात्र है। अब उसका काम यही रह गया है कि वह चुप-चाप बैठकर बालकों की गति विधि का निरीक्षण करे और उनकी स्वभाविक रुचियों और योग्यताओं को देख-समझ कर उनके अनुरूप उन्हें उत्साहित करके ऐसे कार्यों में प्रवृत करे जो उनके लिए हितकर हों। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह बालकों की परस्पर भिन्नता को समझ कर उनके अनुरूप प्रत्येक बालक के लिए अलग-अलग कार्य की व्यवस्था करे। यदि स्कूल का कार्य छात्रों की स्वाभाविक रुचियों के अनुसार होगा तो 'अनुशासन' की समस्या उत्पन्न न होगी। शिक्षक का काम है कि वह क्रियाओं को इस प्रकार उपस्थित करे कि बालकों की विचार-शक्ति जागृत हो जाय।

अनुशासन सम्बन्धी विचार

ड्यूवी ने अपने समय के अनुशासन सम्बन्धी विचारों को अत्यन्त दोष-पूर्ण बतलाया है। उसने कहा कि ये विचार एक ओर तो बालक के आचरण को सुधारने और उसमें अच्छी-अच्छी आदतें डालने तथा उससे नियमानुसार व्यवहार कराने का और दूसरी ओर उसकी स्वाभाविक शक्तियों को बिना किसी दबाव के विकसित करने का प्रयत्न करते हैं। इन दोनों पहलुओं में बालक के वैयक्तिक पक्ष पर बल दिया जाता है और उसके सामाजिक पक्ष की अवहेलना की जाती है। इसके विपरीत ड्यूवी सामाजिक अनुशासन पर बल देता है। उसका विचार है कि सामाजिक जीवन के आधार पर अनुशासन उत्पन्न होता है। स्कूल के सामूहिक कार्यों में भाग लेने से बालक के प्राकृतिक आवेगों (Impulses) का सुधार होता है। स्कूल के सामाजिक वातावरण में उपयोगी कार्यों को सहयोग के साथ करने पर एक अपने ही प्रकार का अनुशासन उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि अनुशासन सामाजिक जीवन और सहयोग से उत्पन्न होता है। इस प्रकार ड्यूवी के अनुसार बालक के समस्त बौद्धिक, सामाजिक, नैतिक तथा शारीरिक कार्य सोद्देश्य हों और एक दूसरे के सहयोग में किये जायं तो उनका प्रभाव संयामक (Disciplinary) होता है। यही अनुशासन बालकों के चरित्र-निर्माण में सहायक होता है और नियमित रूप से कार्य करने की आदत डालता है। अतएव शिक्षक को चाहिए कि वह ऐसे वातावरण का निर्माण करे जिससे बालक को अपने अनुभवों को सुधारने का तथा एक दूसरे के साथ मिलकर कार्य करने का अवसर मिल सके। इससे बालक में सामाजिक चेतना, रुचि ... का विकास होगा और वह पूर्ण रूप से सामाजिक प्राणी बन जायगा।

ड्यूवी कक्षा मे बालकों के शान्तिपूर्वक सुव्यवस्थित रूप मे बैठे-बैठे कार्य करने के महत्त्व को कम नहीं करता। उसके कथनानुसार कक्षा मे ऐसे वातावरण की आवश्यकता होती है। बिना इसके कक्षा का कार्य सुचारू रूप से नहीं चल सकता। किन्तु वह इसको साध्य मानकर चलने का विरोध करता है। उसका कहना है कि इस प्रकार का वातावरण कार्य के फलस्वरूप स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है। उसको विश्वास है कि यदि स्कूल का सारा कार्य बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियो के अनुसार ही हुआ तो अनुशासन की समस्या ही उत्पन्न न होगी। उनमे अनुशासन की भावना स्वतः ही उत्पन्न हो जायगी और उनका नैतिक विकास स्वतः हो जायगा।

ड्यूवी के शिक्षा सिद्धान्तों की समालोचना

ड्यूवी एक चतुर दार्शनिक थे। उन्होने जिन शिक्षा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वे हमारे लिये बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। परन्तु उनके सिद्धान्त दोष-रहित नहीं है। उनका यह कहना बड़ा विचित्र मालूम होता है कि कोई सिद्धान्त हमेशा सत्य नहीं होता। यदि यह ठीक है तो उनका दर्शन भी सत्य नही हो सकता। वे कहते हैं कि जो उपयोगी है वही सत्य है। उनका यह विचार भी ठीक नही जंचता क्योंकि संसार में बहुत सी ऐसी वस्तुएं हैं जो सत्य हैं, किन्तु उपयोगी नही है। सत्य का स्वरूप शाश्वत है, स्थायी है, उसका मूल्य क्षणभंगुर नहीं।

ड्यूवी की विचारधारा अमरीकी भौतिकवाद का समर्थन करती है और आदर्श-वाद का विरोध करती है। आदर्शवाद के अनादर से ही आज संसार मे कलह, द्वेष, *ईर्षा, निर्दयता, नृशंसता, प्रतिद्वन्दिता तथा संकीर्ण राष्ट्रीयता का बोलबाला है।* उनके सिद्धान्त हमे पदार्थवाद से ऊपर नही उठने देते। यदि पदार्थवाद ही सब कुछ है तो पदार्थवाद पर आधारित सभ्यता को जांचने का क्या मापदण्ड होगा। इस प्रकार उसकी शिक्षा में सांसारिक सफलता पर ही ध्यान दिया जाता है और व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति की कोई परवाह नहीं की जाती।

ड्यूवी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक को भावी जीवन के लिये तैयार करना नहीं है, वह तो स्वयं जीवन है। उसके अनुसार शिक्षा का कोई पूर्व-निर्धारित उद्देश्य नहीं हो सकता। परन्तु उसके विरोधी इस बात को नहीं मानते। उनका विचार है कि शिक्षा का कोई न कोई लक्ष्य अवश्य होना चाहिए क्योंकि लक्ष्य को सामने रखकर ही शिक्षा का कार्य सुचारू रूप से चलता है। लक्ष्य ही व्यक्तियो को कार्य करने के लिये उत्साहित करता है। इसके अतिरिक्त यदि उसका उक्त सिद्धांत सत्य मान लिया जाय तो व्यक्ति को जीवन भर पढ़ना पड़ेगा और उसके जीवन को भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। उसका यह कथन भी कि 'स्कूल जीवन है' ठीक नहीं मालूम होता। स्कूल वाह्य जीवन का चाहे कितना ही प्रतिनिधि क्यों न हो फिर भी वह एक पृथक् संस्था है। शिक्षक जो इस सिद्धान्त

में विश्वास करते हैं कि 'स्कूल ही जीवन है' वे भी स्कूल में एक विशेष प्रकार का वातावरण प्रस्तुत करना चाहते हैं जो सरल, शुद्ध और सुन्दर हो। इस प्रकार स्कूल एक विशेष प्रकार का वातावरण है।

ड्यूवी का यह विचार भी सर्वमान्य नहीं है कि प्रत्येक बालक की स्वाभाविक रुचि और योग्यता के अनुसार उसके लिए शिक्षा योजना तैयार की जाय। उनकी रुचियों और योग्यताओं में इतनी अधिक भिन्नता होती है कि प्रत्येक बालक के लिए शिक्षा-योजना तैयार करना अत्यन्त ही कठिन है। इसके अतिरिक्त रुचियों के आधार पर निर्धारित पाठ्य-क्रम द्वारा जटिल विषयों तथा कौशल की शिक्षा नहीं दी जा सकती। उसका 'स्वानुभव द्वारा सीखने' का सिद्धान्त अत्यन्त ही उत्तम है। परन्तु जब हम दूसरों के अनुभवों से लाभ उठा सकते हैं तो उन्हें क्यों न स्वीकार किया जाय।

उक्त दोषों के होते हुए भी ड्यूवी के सिद्धान्त अत्यन्त ही महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली हैं। आधुनिक शिक्षा में उनका अत्यधिक प्रचलन है। उन्होंने हमारे सामने 'विवेक के बल पर चलने' और 'वैज्ञानिक प्रवृत्ति को अपनाने' का सुझाव रखा है। उन्होंने सर्व-साधारण की शिक्षा पर बल दिया है। बालक की शिक्षा के लिए उसकी रुचियों और योग्यताओं का अध्ययन आवश्यक बतलाया है। उन्होंने मानव जीवन और सामाजिक जीवन में सम्बन्ध स्थापित करके मानव जीवन का सामाजिक दृष्टि से महत्व बतलाया है। उनका यह कथन सत्य है कि समाज में कोई विशेष पद केवल योग्यता के कारण ही मिलना चाहिए। व्यक्तियों की योग्यताओं को विकसित करने के लिए उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति के विकास के लिए उसको योग्यतानुसार समान अवसर मिलना चाहिए। उन्होंने सामाजिक तथा सामूहिक कार्यों की उपयोगिता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने हमें परस्पर सहनशीलता, सहानुभूति, सहयोगिता तथा आदर का पाठ सिखाया और समाज की उन्नति का मार्ग प्रदर्शित किया। शिक्षा में स्वतन्त्रता, स्वशासन तथा स्व-व्यवस्था की भावना उत्पन्न करने का श्रेय उन्हीं को दिया जाता है। उनकी शिक्षा-प्रणाली ने विद्यालयों का रूप बदल दिया है और बालकों में नई चेतना भर दी है। अब तक जितने भी शिक्षा-सिद्धान्तों का प्रचलन था उन सब का सार ड्यूवी के सिद्धान्तों में पाया जाता है। इस दृष्टि से ड्यूवी सब का प्रतिनिधि है। ड्यूवी ने शिक्षा को पूर्ण रूप से वैज्ञानिक और सार्वभौमिक बना दिया है। यही उनकी सबसे बड़ी देन है।

ड्यूवी का प्रभाव

ड्यूवी की विचारधारा का शिक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसके विचारों ने [illegible] का अन्त कर दिया और शिक्षा का स्वरूप बदल दिया। शिक्षा में [illegible] आरम्भ हुआ जिसके अनुसार [illegible] कार्य करते हैं। [illegible] स्कूल (Activity School) के नाम से प्रसिद्ध हुए।

ड्यूवी कक्षा में बालकों के शान्तिपूर्वक सुव्यवस्थित रूप में बैठे-बैठे कार्य करने के महत्त्व को कम नहीं करता। उसके कथनानुसार कक्षा में ऐसे वातावरण की आवश्यकता होती है। बिना इसके कक्षा का कार्य सुचारू रूप से नहीं चल सकता। किन्तु वह इनको साध्य मानकर चलने का विरोध करता है। उसका कहना है कि इस प्रकार का वातावरण कार्य के फलस्वरूप स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है। उसको विश्वास है कि यदि स्कूल का सारा कार्य बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार ही हुआ तो अनुशासन की समस्या ही उत्पन्न न होगी। उनमें अनुशासन की भावना स्वतः ही उत्पन्न हो जायगी और उनका नैतिक विकास स्वतः हो जायगा।

ड्यूवी के शिक्षा सिद्धान्तों की समालोचना

ड्यूवी एक चतुर दार्शनिक थे। उन्होंने जिन शिक्षा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वे हमारे लिये बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। परन्तु उनके सिद्धान्त दोष-रहित नहीं हैं। उनका यह कहना बड़ा विचित्र मालूम होता है कि कोई सिद्धान्त हमेशा सत्य नहीं होता। यदि यह ठीक है तो उनका दर्शन भी सत्य नहीं हो सकता। वे कहते हैं कि जो उपयोगी है वही सत्य है। उनका यह विचार भी ठीक नहीं जंचता क्योंकि संसार में बहुत सी ऐसी वस्तुएं हैं जो सत्य हैं, किन्तु उपयोगी नहीं हैं। सत्य का स्वरूप शाश्वत है, स्थायी है, उसका मूल्य क्षणभंगुर नहीं।

ड्यूवी की विचारधारा अमरीकी भौतिकवाद का समर्थन करती है और आदर्शवाद का विरोध करती है। आदर्शवाद के अनादर से ही आज संसार में कलह, द्वेष, ईर्षा, निर्दयता, नृशंसता, प्रतिद्वन्दिता तथा संकीर्ण राष्ट्रीयता का बोलबाला है। उनके सिद्धान्त हमे पदार्थवाद से ऊपर नहीं उठने देते। यदि पदार्थवाद ही सब कुछ है तो पदार्थवाद पर आधारित सभ्यता को जांचने का क्या मापदण्ड होगा। इस प्रकार उसकी शिक्षा में सांसारिक सफलता पर ही ध्यान दिया जाता है और व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति की कोई परवाह नहीं की जाती।

ड्यूवी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक को भावी जीवन के लिये तैयार करना नहीं है, वह तो स्वयं जीवन है। उसके अनुसार शिक्षा का कोई पूर्व-निर्धारित उद्देश्य नहीं हो सकता। परन्तु उसके विरोधी इस बात को नहीं मानते। उनका विचार है कि शिक्षा का कोई न कोई लक्ष्य अवश्य होना चाहिए क्योंकि लक्ष्य को सामने रखकर ही शिक्षा का कार्य सुचारू रूप से चलता है। लक्ष्य ही व्यक्तियों को कार्य करने के लिये उत्साहित करता है। इसके अतिरिक्त यदि उसका उक्त सिद्धांत सत्य मान लिया जाय तो व्यक्ति को जीवन भर पढ़ना पड़ेगा और उसके जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। उसका यह कथन भी कि 'स्कूल जीवन है' ठीक नहीं मालूम होता। स्कूल बाह्य जीवन का चाहे कितना ही प्रतिनिधि क्यों न हो फिर भी वह एक पृथक् संस्था है। शिक्षक को इन सिद्धान्त

में विश्वास करते हैं कि 'स्कूल ही जीवन है' वे भी स्कूल में एक विशेष प्रकार का वातावरण प्रस्तुत करना चाहते हैं जो सरल, शुद्ध और सुन्दर हो। इस प्रकार स्कूल एक विशेष प्रकार का वातावरण है।

ड्यूवी का यह विचार भी सर्वमान्य नहीं है कि प्रत्येक बालक की स्वाभाविक रुचि और योग्यता के अनुसार उसके लिए शिक्षा योजना तैयार की जाय। उनकी रुचियों और योग्यताओं में इतनी अधिक भिन्नता होती है कि प्रत्येक बालक के लिए शिक्षा-योजना तैयार करना अत्यन्त ही कठिन है। इसके अतिरिक्त रुचियों के आधार पर निर्धारित पाठ्य-क्रम द्वारा जटिल विषयों तथा कौशल की शिक्षा नहीं दी जा सकती। उसका 'स्वानुभव द्वारा सीखने' का सिद्धान्त अत्यन्त ही उत्तम है। परन्तु जब हम दूसरों के अनुभवों से लाभ उठा सकते हैं तो उन्हें क्यों न स्वीकार किया जाय।

उक्त दोषों के होते हुए भी ड्यूवी के सिद्धान्त अत्यन्त ही महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली हैं। आधुनिक शिक्षा में उनका अत्यधिक प्रचलन है। उन्होंने हमारे सामने 'विवेक के बल पर चलने' और 'वैज्ञानिक प्रवृत्ति को अपनाने' का सुझाव रक्खा है। उन्होंने सर्व-साधारण की शिक्षा पर बल दिया है। बालक की शिक्षा के लिए उसकी रुचियों और योग्यताओं का अध्ययन आवश्यक बतलाया है। उन्होंने मानव जीवन और सामाजिक जीवन में सम्बन्ध स्थापित करके मानव जीवन का सामाजिक दृष्टि से महत्व बतलाया है। उनका यह कथन सत्य है कि समाज में कोई विशेष पद केवल योग्यता के कारण ही मिलना चाहिए। व्यक्तियों की योग्यताओं को विकसित करने के लिए उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति के विकास के लिए उसकी योग्यतानुसार समान अवसर मिलना चाहिए। उन्होंने सामाजिक तथा सामूहिक कार्यों की उपयोगिता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने हमें परस्पर सहनशीलता, सहानुभूति, सहयोगिता तथा आदर का पाठ सिखाया और समाज की उन्नति का मार्ग प्रदर्शित किया। शिक्षा में स्वतन्त्रता, स्वशासन तथा स्व-व्यवस्था की भावना उत्पन्न करने का श्रेय उन्हीं को दिया गया है। उनकी शिक्षा-प्रणाली ने विद्यालयों का रूप बदल दिया है और बालकों में नई चेतना भर दी है। अब तक जितने भी शिक्षा-सिद्धान्तों का प्रचलन था उन सब का सार ड्यूवी के सिद्धान्तों में पाया जाता है। इस दृष्टि से ड्यूवी सब का प्रतिनिधि है। ड्यूवी ने शिक्षा को पूर्ण रूप से वैज्ञानिक और सामाजिक बना दिया है। यही उनकी सबसे बड़ी देन है।

ड्यूवी का प्रभाव

ड्यूवी की विचारधारा का शिक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसके विचारों ने प्राचीन परम्पराओं का अन्त कर दिया और शिक्षा का स्वरूप बदल दिया। शिक्षा में सक्रियवाद का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसके अनुसार नए-नए स्कूल खोले गये हैं। ये स्कूल 'ऐक्टीविटी स्कूल' (Activity School) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन

स्कूलों ने योजना पद्धति को अपनाया है।' 'योजना-पद्धति' ने बालकों में नई स्फूर्ति तथा चेतना उत्पन्न कर दी है। आज संसार के सभी सभ्य देश ड्यूवी के शिक्षा सिद्धान्तों का अनुकरण कर रहे हैं। उसके सिद्धान्तों के आधार पर शिक्षा का पुनर्संगठन हो रहा है। उसके विचारों का समाज तथा शासन पर भी प्रभाव पड़ा है। प्रजातंत्र का विकास करने के लिये सर्व-साधारण की शिक्षा आवश्यक समझी जाने लगी है। उसके विचारों के ही परिणामस्वरूप स्कूल स्वशासन तथा स्व-व्यवस्था की शिक्षा देने के केन्द्र बन गये हैं। आधुनिक शिक्षा में ड्यूवी के निम्नांकित सिद्धान्तों को स्थान दिया गया है:—

(१) स्कूल समाज का लघु रूप है।

(२) सामाजिक कुशलता शिक्षा का उद्देश्य है।

(३) समाज का विकास व्यक्ति के विकास पर होता है।

(४) शिक्षा जीवन की तैयारी नहीं अपितु स्वयं जीवन है।

(५) शिक्षा के आधार स्वानुभव हैं।

(६) बालक की शिक्षा व्यक्तिगत रुचियों तथा योग्यताओं के अनुसार होनी चाहिए।

(७) शिक्षा का सक्रिय होना आवश्यक है।

(८) क्रियाशीलता से नैतिक विकास सम्भव है।

(९) खेल, रचना, वस्तुओं तथा औजारों का प्रयोग, प्रकृति निरीक्षण आदि शिक्षा के साधन हैं।

(१०) शिक्षा-केन्द्र में हस्तकला सम्बन्धी विषयों को प्रधानता होनी चाहिये।

(११) शिक्षा एक सामाजिक आवश्यकता है। इसके द्वारा व्यक्ति में सामाजिक भावनाओं का विकास होता है।

(१२) स्कूल का कार्य बालक को सामाजिक तथा जनतांत्रिक जीवन के योग्य बनाना है।

(१३) शिक्षा का कार्य ऐसे वातावरण का आयोजन करना है जिसमें बालक सक्रिय रहकर मानव-जाति की सामाजिक जागृति में भाग ले सके।

(१४) शिक्षा का अभिप्राय प्रजातन्त्र शासन के लिये कुशल तथा योग्य नागरिक तैयार करना है।

ड्यूवी और अन्य शिक्षा-शास्त्री— यद्यपि ड्यूवी हरबार्ट तथा फ्रोबेल के विचारों से अत्यन्त ही प्रभावित हुआ किन्तु वह उनका अनुयायी न था। उनके विचारों तथा ड्यूवी के विचारों में अन्तर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। हरबार्ट और

ड्यूवी दोनों ही शिक्षा देने के पहले बालक की रुचियों तथा शक्तियों के अध्ययन की आवश्यकता पर बल देते हैं। परन्तु उन्होंने रुचि के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए हैं। हरबार्ट ने केवल बौद्धिक रुचि पर बल दिया है। इसके विपरीत ड्यूवी सामाजिक, साहित्यिक तथा बौद्धिक रुचि की चर्चा करता है। इस प्रकार हरबार्ट 'रुचि' शब्द का संकुचित अर्थ लगाता है और ड्यूवी व्यापक। ड्यूवी हरबार्ट की पंच-पद-प्रणाली का विरोध करता है। उसके विचार से इस प्रणाली में बालक की आत्म-क्रिया (Self-activity) को अवसर नहीं मिलता। ड्यूवी अध्यापक को केवल निरीक्षक मानता है। इसमें ड्यूवी रूसो तथा पेस्टालाजी का अनुगामी है। परन्तु ड्यूवी इन दोनों से अधिक व्यावहारिक है।

ड्यूवी और फ्रोबेल के विचारों में बड़ी समानता दिखलाई पड़ती है। फ्रोबेल की भांति ड्यूवी ने भी 'करके सीखने', 'स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार शिक्षा देने', 'सहयोग से कार्य करने' आदि शिक्षा के सिद्धान्तों पर बल दिया है। ड्यूवी और फ्रोबेल दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि 'शिक्षा ही विकास' है। परन्तु ड्यूवी शिक्षा का कोई दूरवर्ती उद्देश्य नहीं मानता। वह फ्रोबेल के अध्यात्मवाद में विश्वास नहीं करता। वह स्थिरवादी नहीं है। वह यह नहीं मानता कि शिक्षा का कोई विशिष्ट उद्देश्य है।

ड्यूवी और स्पेन्सर के विचारों में भी पर्याप्त अन्तर है। स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को भावी जीवन के लिए तैयार करना है। स्पेन्सर की इस धारणा का ड्यूवी विरोध करता है। उसके अनुसार शिक्षा स्वयं ही जीवन है, वह जीवन के लिए तैयारी नहीं। इस प्रकार ड्यूवी स्पेन्सर का विरोधी प्रतीत होता है। किन्तु उनके विचारों में कहीं-कहीं समानता भी दिखलाई पड़ती है। दोनों ही शिक्षा द्वारा सामाजिक कुशलता प्राप्त करने पर बल देते हैं।

प्रश्न

(१) शिक्षा में अनुशासन और रुचि के सम्बन्ध में ड्यूवी के क्या विचार हैं? इन विचारों से आप कहाँ तक सहमत हैं?

(२) प्रजातन्त्रीय समाज में स्कूल का क्या स्थान है। इस सम्बन्ध में ड्यूवी के विचारों की विवेचना कीजिए।

(३) ड्यूवी के स्वानुभव के सिद्धान्त (Theory of Experience) की समालोचना कीजिए और यह बतलाइये कि किस प्रकार वह इसे अपनी शिक्षा-प्रणाली का आधार बनाना चाहता है।

(४) सक्रिय पाठशाला का क्या अर्थ है ? ड्यूवी सक्रिय पाठशाला का किस प्रकार संगठन करना चाहता है ?

(५) आधुनिक शिक्षा को ड्यूवी की देन का मूल्यांकन करो ।

(६) शिक्षा की कुछ आधुनिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व ड्यूवी किस प्रकार करते हैं ? समझाइये ।

(७) 'सामाजिक कुशलता' (Social efficiency) के उद्देश्य का शिक्षा में क्या महत्त्व है ? प्रस्तुत शिक्षा प्रणाली किस सीमा तक इस उद्देश्य को सम्पन्न करने में सफल है ?

सोलहवाँ अध्याय

प्रोजेक्ट पद्धति (Project Method)

भूमिका— 'प्रयोजनवाद' के अध्याय में यह बतलाया जा चुका है कि 'योजना पद्धति' (Project Method) के *जन्मदाता श्री डब्लू. एच. किलपैट्रिक* (W. H. Kilpatrick) हैं। आप अमरीका के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री हैं और 'कोलम्बिया विश्वविद्यालय' (Columbia University) के अध्यापकों के कालेज में शिक्षा-शास्त्र के प्रोफेसर हैं। आप ड्यूवी के शिष्य हैं और आपने ड्यूवी के प्रयोजनवाद (Pragmatism) के सिद्धान्तों के आधार पर ही 'योजना पद्धति' (Project Method) का निर्माण किया है। इस पद्धति की विशेषताओं को जानने के पहले *हमारे लिये यह अपेक्षित है कि हम इस पद्धति की आवश्यकताओं तथा योजना शब्द के अर्थ से परिचित हो लें।*

आवश्यकता— (१) बालकों की शिक्षा जीवन और वास्तविकता से बहुत दूर है। विद्यालयों में कोरी सूचनात्मक (Informative) शिक्षा दी जाती है। इसका *दैनिक जीवन में कोई मूल्य नहीं होता।*

(२) विद्यालयों का वातावरण नीरस होता है। विद्यार्थी निष्क्रिय श्रोता बनकर *केवल सूचनायें ग्रहण करते हैं। इन सूचनाओं को बालक ज्यों का त्यों मान लेते हैं। इन विद्यालयों में बालकों को सोचने तथा कार्य करने का अवसर नहीं दिया जाता है।*

(३) विद्यालयों के पाठ्य-क्रम तथा अध्यापन विधियों का बालक की रुचियों, प्रवृत्तियों तथा आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः स्कूल के कार्य में बालक की रुचि नहीं होती।

(४) शिक्षा में बालक के वर्तमान तथा भविष्य का कोई ध्यान नहीं रक्खा *जाता। उसे बलपूर्वक कुछ विषयों का अध्ययन कराया जाता है।*

(५) शिक्षा में सामाजिक दृष्टिकोण का पूर्ण अभाव है।

ऐसी परिस्थितियों में किसी ऐसे शिक्षा विधान की आवश्यकता थी जिसमें बालक स्वयं सक्रिय रह कर रुचिपूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सके और उसे व्यवहार में भी ला सके। फलतः योजना पद्धति का निर्माण हुआ।

योजना (Project) शब्द की परिभाषा— अनेक व्यक्तियों ने 'प्रोजेक्ट' शब्द की परिभाषा की है। इनमें से कुछ परिभाषाएं निम्नलिखित हैं :—

(१) श्री किलपैट्रिक (Kilpatrick) ने 'प्रोजेक्ट' की परिभाषा इस प्रकार की है: "प्रोजेक्ट वह सहृदय उद्देश्यपूर्ण कार्य है जो पूर्ण संलग्नता से सामाजिक

वातावरण में किया जाय।" (A project is a whole-hearted purposeful activity proceeding in a social environment.)

(२) टॉमस और लैंग (Thomas and Lang) महोदय के अनुसार, "प्रोजेक्ट इच्छानुकूल ऐसा कार्य है जिसमें रचनात्मक प्रयास अथवा विचार हो और जिसका कुछ साकार परिणाम हो।"*

(३) प्रोफेसर स्टीवेन्सन (Prof. Stevenson) के अनुसार "प्रोजेक्ट एक समस्यामूलक कार्य है जो अपनी स्वाभाविक परिस्थितियों के अन्तर्गत पूर्णता को प्राप्त करता है।" (A project is a problematic act carried to completion in its natural setting.)

तीसरी परिभाषा अधिक मान्य है। एक उदाहरण से इसका आशय और भी स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए आपको एक कुआं बनवाना है। यदि आपने पहले कभी कुआं नहीं बनवाया है तो आपके सम्मुख यह एक समस्या है। समस्या उत्पन्न होने पर आपको कितने ही कार्य करने पड़ेंगे। सर्वप्रथम आपको यह विचार करना होगा कि कुआं किस स्थान पर बनवाना चाहिए। तत्पश्चात् उसके खर्च का हिसाब लगाना होगा। फिर कुआं खोदने वालों को इकट्ठा करना होगा। इसके साथ ही म्युनिसिपल बोर्ड से कुआं खुदवाने की स्वीकृति लेनी होगी। इसके लिए आपको एक प्रार्थना-पत्र भेजना होगा। ऐसे ही कार्य अथवा समस्या को जिसके हल करने के लिए व्यक्ति स्वाभाविक रूप से इच्छुक रहता है और जिसका निष्कर्ष वह अपने परिश्रम द्वारा निकालता है 'प्रोजेक्ट' (Project) अथवा 'योजना' कहते हैं। अतः प्रोजेक्ट एक जीवन अनुभव है, जो एक प्रबल इच्छा से प्रेरित होता है और इस इच्छा का प्रयोग ही 'प्रोजेक्ट पद्धति' (Project Method) का आधार है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रोजेक्ट पद्धति' में कार्य की एक योजना होती है। उस कार्य का कोई एक उद्देश्य होता है; उसकी कार्य-प्रणाली कार्य करते समय स्पष्ट होती है। और उस कार्य को करने में स्वाभाविक रुचि होती है। बालकों के सम्मुख एक समस्या प्रस्तुत कर दी जाती है और वे उस समस्या को सुलझाने में प्रयत्नशील रहते हैं। समस्या का समाधान करने के लिए बालकों को विभिन्न विषयों के ज्ञान की भी आवश्यकता पड़ती है। इसलिए विद्यार्थियों को अपनी रुचि और इच्छानुसार विषयों का ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिलता है। वे रुचि-पूर्वक विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

प्रोजेक्ट दो प्रकार के होते हैं— (१) व्यक्तिगत, और (२) सामाजिक। प्रयोजनवाद सामाजिक प्रोजेक्ट पर अधिक बल देता है। सामाजिक प्रोजेक्ट में सब बालक समान रूप से भाग लेते हैं। इनके द्वारा बालकों को समाज-सम्बन्धी अनेक

† History of Western Education by Jayaswal, page 615.

उपयोगी बातों की शिक्षा मिलती है। इसके अतिरिक्त बालकों में सामाजिकता तथा नागरिकता के गुणों का विकास होता है।

प्रोजेक्ट अथवा योजना की विशेषताएं

'प्रोजेक्ट' की विशेषताओं से परिचित होना अपेक्षित है। अतः इनका यहां पर विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा। ये विशेषताएं निम्नांकित हैं :—

(१) उद्देश्य अथवा प्रयोजन (Purpose)।
(२) क्रियाशीलता (Activity)।
(३) वास्तविकता (Reality)।
(४) उपयोगिता (Utility)।
(५) स्वतन्त्रता (Freedom)।

(१) उद्देश्य (Purpose) — यह 'प्रोजेक्ट' की प्रथम विशेषता है। एक कार्य बालकों के समक्ष समस्या के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है और उसे पूरा करने का कोई एक प्रयोजन अथवा उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य के बिना प्रोजेक्ट अथवा योजना निरर्थक हो जाती है, क्योंकि उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही कार्य किया जाता है। उद्देश्य से बालक उत्तेजित होता है और उसे प्राप्त करने लिये मन लगा कर काम करता है। उद्देश्य होने पर बालक बड़ी तत्परता से काम करते हैं और थोड़े ही समय में बहुत अधिक सीख लेते हैं। काम के समाप्त होने पर उन्हें लाभकारी ज्ञान तथा सन्तोष मिलता है। उद्देश्य जीवन और क्रिया को मिला देता है। समस्त बालकों के सामने एक ही उद्देश्य होना चाहिए। जो कुछ भी वे करें वह उद्देश्य के अनुकूल होना चाहिये।

(२) क्रियाशीलता (Activity)— क्रिया 'प्रोजेक्ट' की दूसरी विशेषता है। 'प्रोजेक्ट पद्धति में क्रिया को प्रधानता इसलिये दी गई है कि शिक्षा जो किसी कार्य के द्वारा प्राप्त की जाती है अधिक स्थायी और उपयोगी होती है। बालक जो कुछ भी सीखता है क्रिया द्वारा सीखता है। अत: प्रोजेक्ट विधि के अनुसार बालकों को क्रिया द्वारा शिक्षा के लिए उत्साहित करना चाहिए। इसलिए जहां तक सम्भव हो बालकों को व्यावहारिक क्रिया के आधार पर ही शिक्षा देनी चाहिए। कार्य ऐसा होना चाहिए जिससे बालकों की बुद्धि, विचार-शक्ति, तर्क-शक्ति, के प्रयोग तथा परिवर्तन करने का अवसर मिले।

(३) वास्तविकता (Reality)— वास्तविकता 'प्रोजेक्ट' की तीसरी विशेषता है। बालकों से जो कार्य कराया जाय वह वास्तविक होना चाहिए और वह स्वाभाविक रूप से वास्तविक परिस्थिति में ही पूरा होना चाहिए। वास्तविक परिस्थिति में कार्य करने से बालक ज्ञान के सब तत्वों को समझ लेते हैं। स्वाभाविक ढंग से कार्य

परिस्थितियों मे काम करने से जीवन और कार्य मे सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यदि अप्राकृतिक साधनों द्वारा अप्राकृतिक परिस्थितियो में कार्य किया जावेगा तो जीवन का कार्य से कोई सम्बन्ध स्थापित न हो सकेगा और उस कार्य की जीवन के लिये कोई उपयोगिता न होगी। यहाँ पर हमें वास्तविक परिस्थिति का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। वास्तविक परिस्थिति से यह तात्पर्य है कि जो परिस्थिति शिक्षालय के बाहर हो वही स्कूल के अन्दर होनी चाहिए। वातावरण में जिन बातो की सुविधा हो उन्हीं की सहायता से काम पूरा किया जाय। प्रतिकूल वातावरण में कृत्रिम अथवा अस्वाभाविक साधनों द्वारा कोई कार्य नहीं करना चाहिये। यदि कार्य जीवन से सम्बन्धित होता है तो बालक अधिक सचेष्ट तथा सक्रिय होकर कार्य करते हैं।

उपयोगिता (Utility)— उपयोगिता प्रोजेक्ट की चौथी विशेषता है। जिस प्रकार प्रौढ़ व्यक्ति उन्हीं व्यापारों तथा कार्यों को पूरा करने में अधिक प्रयत्नशील रहता है जिनका सम्बन्ध उसकी मानसिक, हार्दिक तथा लौकिक आवश्यकताओं से होता है अर्थात् जिनकी कुछ उपयोगिता होती है; उसी प्रकार बालक का मन भी ऐसे ही कार्यों में विशेष रूप से लगा रहता है जो उसकी तत्कालीन आवश्यकताओं से सम्बन्धित होते हैं अथवा जिनकी उसके जीवन मे कुछ उपयोगिता होती है। उपयोगी कार्यों में बालक की रुचि होती है और वह रुचिपूर्वक कार्य को सम्पादित कर लेता है। रुचि ही प्रोजेक्ट पद्धति का मनोवैज्ञानिक तत्त्व है। बालक ऐसी समस्याओं का समाधान करने मे कोई रुचि नहीं रखता जो उसकी तात्कालिक आवश्यकताओ से सम्बन्धित नही होती।

(५) स्वतन्त्रता (Freedom)— यह प्रोजेक्ट की पाँचवीं विशेषता है। बालको को कार्य चुनने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उन्हें इतना उत्साहित करना चाहिए कि वे कार्य का प्रस्ताव स्वयं रक्खें। स्कूल का समस्त कार्य-क्रम उनके प्रस्ताव के अनुकूल ही होना चाहिए। शिक्षक को अपनी ओर से बालकों के ऊपर कोई कार्य नहीं थोपना चाहिए। किसी भी काम को करने के लिये उन्हें बाध्य नही करना चाहिये। उनको रुचि और कार्य में समय-सारिणी का बन्धन भी नही होना चाहिये।

प्रोजेक्ट पद्धति के प्रयोग की अवस्थाएँ

एक प्रोजेक्ट को विधिपूर्वक पूर्ण करने के लिये प्रोजेक्ट की विभिन्न अवस्थाओं पर ध्यान देना आवश्यक है। इन अवस्थाओं के अनुसार चलने पर प्रोजेक्ट सफलतापूर्वक पूरा किया जा सकता है। ये अवस्थाएँ निम्नलिखित है:—

(१) परिस्थिति उत्पन्न करना (*Creating the Situation*)।
(२) योजना अथवा प्रोजेक्ट चुनना (Choosing the Project)।
(३) प्रोजेक्ट पूर्ण करने का कार्यक्रम बनाना (*Planning*)।

(४) कार्यक्रम को क्रियान्वित करना (Execution of the programme)

(५) कार्य का निर्णय (Judging)।

(६) कार्य का लेखा (Recording)।

(१) परिस्थिति उत्पन्न करना— यह पहले बताया जा चुका है कि जहाँ तक सम्भव हो बालकों को स्वयं प्रोजेक्ट चुनने का अवसर देना चाहिये। इस कार्य में शिक्षक सहायक हो सकता है। प्रोजेक्ट चुनने के पहिले अध्यापक को चाहिए कि वह बालकों के समक्ष कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दे जिसमें बालकों की रुचि उत्पन्न हो जाय और उनका ध्यान उसमें निहित समस्या की ओर आकर्षित हो जाय। समस्या में रुचि उत्पन्न होने पर बालक उस समस्या को हल करने के लिये स्वयं योजनायें बनाने लगेंगे। इस प्रकार बालक स्वयं योजनाओं को प्रस्तावित करेंगे। प्रत्येक बालक अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ न कुछ योजना शिक्षक के समक्ष अवश्य प्रस्तुत करेगा। बालकों को अपने विचारों को प्रकट करने तथा आपस में और शिक्षक से विचार-विमर्श की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

(२) योजना चुनना— शिक्षक को अपनी ओर से कोई भी योजना बालकों पर नहीं थोपनी चाहिए। यदि शिक्षक ऐसा करेगा तो प्रोजेक्ट का महत्त्व घट जायगा। अतएव शिक्षक के लिये यह भी अपेक्षित है कि वह बालकों को अपने प्रोजेक्ट स्वयं सोचने तथा चुनने के लिए उत्साहित करे। ऊपर कहा गया है कि बालक अपनी ओर से योजनाओं के प्रस्ताव प्रस्तुत करेंगे किन्तु प्रत्येक बालक का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया जा सकता। योजना का वही प्रस्ताव स्वीकार किया जा सकता है जो सब को मान्य हो, जिसमें किसी वस्तु को वास्तव में ढूंढना अथवा बनाना हो और जो उनकी वास्तविक आवश्यकताओं को पूरा करे। अतएव प्रत्येक योजना के मूल्य को वाद-विवाद द्वारा निश्चित करने का प्रयत्न करना चाहिए। शिक्षक को चाहिए कि वह कक्षा में वाद-विवाद उत्तेजित करे और योजनाओं के गुण और दोषों की ओर बालकों का ध्यान आकर्षित करे। जो बातें बालक नहीं समझ सके हैं उन्हें स्पष्ट करे। दूसरे शब्दों में शिक्षक को चाहिए कि वह बालकों का प्रोजेक्ट चुनने के सम्बन्ध में पथ-प्रदर्शन करे और तत्पश्चात् बालकों के मत लेकर वही प्रोजेक्ट स्वीकार करे जिसका शिक्षण-मूल्य सबसे अधिक हो।

(३) कार्यक्रम बनाना— योजना चुन लेने के पश्चात् उसे पूर्ण करने के लिए कार्यक्रम बनाना होता है। कार्यक्रम ऐसा होना चाहिए जो स्वाभाविक परिस्थितियों में [illegible] किया जा सके। इस सम्बन्ध में भी सब बालकों को अपना-अपना मत देने का अवसर सुझाव रखने का अवसर मिलना चाहिये। वाद-विवाद के उपरान्त ही कोई कार्यक्रम [illegible] ये स्वीकार किया जा सकता है। कार्यक्रम को कई भागों में बाँट देना

चाहिए और प्रत्येक बालक को कुछ न कुछ कार्य अवश्य देना चाहिए। परन्तु प्रत्येक बालक को उसकी योग्यता के अनुसार ही कार्य मिलना चाहिए। इस प्रकार प्रोजेक्ट का सम्पूर्ण कार्य कक्षा के प्रत्येक छात्र द्वारा पूरा नहीं होता किन्तु सब मिलकर उसे पूरा करते हैं।

कार्य-क्रम क्रियान्वित करना— कार्य-क्रम निर्धारित होने के पश्चात् बालक अपने-अपने कार्य को सहर्ष ग्रहण करते है और उसे पूर्ण करने मे लग जाते हैं। प्रत्येक छात्र अपना कार्य स्वयं करता है। इस प्रकार वह 'क्रिया द्वारा सीखता' है। 'क्रिया द्वारा सीखना' (Learning by doing) इस पद्धति का प्रमुख सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तानुसार कार्य करने मे बालक को अधिक प्रयत्न करना पड़ता है और कार्य पूरा करने में अधिक समय लगता है। कार्य पूर्ण करने के लिये बालक को कभी-कभी अनेक काम करने पड़ते है। जैसे लिखना, पढ़ना, हिसाब लगाना, निरीक्षण करना, घूमना, वस्तुओं को एकत्रित करना, विचार-विमर्श तथा निर्माण करना। कहने का तात्पर्य यह है कि बालक एक प्रोजेक्ट को पूर्ण करने के लिये अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त करता है। उक्त बातों के करने तथा सीखने मे अधिक समय लगता है। अधिक समय लगने पर घबराना नही चाहिए। कार्य को पूर्ण करने में जितना अधिक समय लगेगा उतना ही अधिक बालक सीखेंगे। इसके अतिरिक्त आत्म-क्रिया द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान अधिक स्थायी होता है। इसलिए शिक्षक को चाहिए कि वह बालकों को अपनी गति से कार्य करने दे और कार्य को शीघ्र समाप्त करने का प्रयत्न न करे। शिक्षक को स्वयं प्रोजेक्ट का कोई कार्य नहीं करना चाहिए। किन्तु कार्य पूर्ण कराने के लिये वह बालकों की हर प्रकार की सहायता करेगा। वह उनके कार्य का निरीक्षण करेगा, प्रोत्साहन देगा और आवश्यकता पड़ने पर आदेश भी देगा। और यदि प्रोजेक्ट में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता है तो उसकी ओर भी बालकों का ध्यान आकर्षित करेगा।

(५) कार्य का निर्णय— प्रोजेक्ट पूर्ण होने के पश्चात् शिक्षक तथा छात्र यह निर्णय करते है कि प्रोजेक्ट कहा तक सफल हुआ है अर्थात् जिस प्रयोजन को लेकर उन्होंने कार्य प्रारम्भ किया था वह पूर्ण हुआ अथवा नहीं। प्रत्येक बालक को अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है और वह अपना निर्णय शिक्षक के सामने रखता है। फिर सामूहिक तौर पर विचार किया जाता है और निष्कर्ष निकाल लिया जाता है। इस अवसर पर बालक अपने-अपने कार्य पर पुनः विचार करते हैं, अपनी त्रुटियों का अनुभव करते हैं और उपयोगी ज्ञान की पुनरावृत्ति करते हैं। इस प्रकार वे अपने कार्य की आलोचना स्वयं करते हैं। इस आत्म-आलोचना से उन्हें बड़ा लाभ होता है।

(६) कार्य का लेखा— बालकों को अपने कार्य का एक लेखा (record) रखना होता है। प्रारम्भ से अन्त तक जो कुछ भी वे करते हैं अपनी प्रोजेक्ट पुस्तक मे

लिख लेते हैं। शिक्षक के लिये यह आवश्यक है कि वह जो कुछ कार्य बालकों को दे उसे लिखा दे ताकि वे लेखानुसार अपना कार्य करते रहें। जितना कार्य समाप्त हो जाय उसका भी लेखा रखना चाहिए जिससे यह मालूम पड़ता रहे कि कितना कार्य समाप्त हो गया है और कितना शेष है। योजना के सम्बन्ध में बालक जो कार्य करते हैं अथवा जिन विषयों का अध्ययन करते हैं उनका भी लेखा होना चाहिए और अन्त में अपने कार्य की आलोचना भी लिखनी चाहिए।

प्रोजेक्ट पद्धति के उदाहरण

उदाहरण द्वारा इस पद्धति के सिद्धान्त तथा कार्य-प्रणाली का ज्ञान बड़ी सरलता से प्राप्त किया जा सकता है अतः यहाँ पर प्रोजेक्ट के उदाहरण देना आवश्यक है। प्रोजेक्ट दो प्रकार के होते हैं :— (१) सरल (Simple), और (२) बहुमुखी (Complex)। सरल प्रोजेक्ट वह प्रोजेक्ट है जिसमें एक ही काम होता है जैसे रोटी पकाना, बाजार से कुछ सामान लाना, इत्यादि। ये गृह-विज्ञान के प्रोजेक्ट के सरल उदाहरण हैं। किन्तु सीमेन्ट की दीवार बनाना, स्कूल में पानी का प्रबन्ध करना, नाटक करना इत्यादि बहुमुखी (Complex) प्रोजेक्ट के उदाहरण हैं। इन उदाहरणों से बालकों को एक साथ कई विषयों का ज्ञान मिल जाता है।

स्टोन (C.W. Stone) महोदय ने पार्सल भेजने के एक बहुमुखी (Complex) प्रोजेक्ट का उल्लेख किया है जिसके द्वारा पाठ्य-क्रम के कई विषयों की शिक्षा दी गई है। इनके उदाहरण से आप भली-भाँति समझ जायेंगे कि इस पद्धति द्वारा किस प्रकार बालक सीखते हैं। इस प्रोजेक्ट के अनुसार चौथी कक्षा के विद्यार्थी अपने दूरवर्ती मित्रों तथा रिश्तेदारों को पार्सल भेजने का निश्चय करते हैं। इस पार्सल को डाक द्वारा भेजने के कार्य में बालक विभिन्न विषयों का ज्ञान निम्नलिखित तरीके से प्राप्त करते हैं :—

वार्तालाप— पार्सल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के विषय में वार्तालाप आरम्भ होता है। इस वार्तालाप के द्वारा बालक डाक-सम्बन्धी अनेक बातों तथा भिन्न-भिन्न स्थानों के विषय में जानकारी प्राप्त करते हैं। साथ ही साथ वे बोलना, सोचना, तथा तर्क करना सीख जाते हैं।

इतिहास— इतिहास के घण्टे में यही विषय चलता है और बालक भिन्न-भिन्न काल के डाक भेजने के साधनों से परिचय प्राप्त करते हैं। इस सम्बन्ध में उन्हें टिकटों के बारे में भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है और टिकटों के द्वारा विभिन्न देशों के निवासियों का बोध होता है।

हाथ का कार्य— हस्तकार्य के घण्टे में बालक स्वयं पार्सल बनाते हैं और उसे कागज में लपेटते हैं। इससे उन्हें कागज के मोड़ने, काटने तथा उचित रूप से प्रयोग

मे लाने का ज्ञान हो जाता है। साथ हो साथ वे यह भी जान जाते हैं कि कागज किस प्रकार बनाया जाता है। कागज कितने प्रकार का होता है। पार्सल को लपेटने के लिये किस प्रकार का कागज प्रयोग मे लाना चाहिये ।

भाषा— भाषा के घण्टे में विद्यार्थी पार्सलों पर पते लिखते है। पार्सल पर पता लिखने के पश्चात अपने मित्रों तथा रिश्तेदारो को पत्र लिखते है । इस प्रकार वे लिखना तथा पत्र व्यवहार करना सीख जाते है। पत्र लिखने के उपरान्त वे इस बात का ज्ञान प्राप्त करते हैं कि पत्र किस प्रकार पोस्ट किये जाते हैं पत्र भेजने तथा पार्सल भेजने के क्या क्या नियम है और पत्रो को निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचने में कितना समय लगता है।

भूगोल— भूगोल के अध्ययन के समय विद्यार्थी उन स्थानो के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे जहाँ वे पार्सल भेजना चाहते है। उन स्थानो की स्थिति को वे मानचित्र पर मालूम करेंगे। इस समय उन्हें यह भी ज्ञात हो जायगा कि वे स्थान उनके निवास स्थान से कितनी दूरी पर है और वहाँ पहुंचने के क्या क्या साधन हैं । कौन कौनसी रेलवे लाइनें जाती है और वे किस- किस प्रदेश से निकल कर निर्दिष्ट स्थान पर पहुचती हैं। इसके अतिरिक्त वे इस बात का भी ज्ञान प्राप्त करेंगे कि उन स्थानों पर पार्सल किस प्रकार पहुँचेगी जहाँ रेलवे लाइन नहीं पहुँचती है।

भ्रमण— उपर्युक्त ज्ञानप्राप्ति के पश्चात बालक को यह जानना शेष रह जाता है कि पार्सल किस प्रकार भेजी जाय अथवा पार्सल भेजने के लिये उसे और क्या करना है। दूसरे शब्दो में बालक डाकखाने का कार्य जानने को उत्सुक हो जाते हैं । इस कार्य का ज्ञान कराने के लिये यह उत्तम है कि शिक्षक उन्हें डाकखाने ले जाय । अत: शिक्षक उन्हें डाकखाने ले जाते है और वहाँ पर विद्यार्थी डाकखाने के अनेकानेक कार्यों का ज्ञान प्राप्त करते है और अपने प्रोजेक्ट के सम्बन्ध में यह मालूम करते हैं कि उन्हें अपनी पार्सलों को तोलना है वजन के हिसाब से टिकट लगाना है और तत्पश्चात पोस्ट आफिस मे रजिस्ट्री करानी है ।

अङ्कगणित— अङ्कगणित के घण्टे मे बालक अपनी- अपनी पार्सलों को तोलते है। वजन के हिसाब से उन पर टिकट लगाते है। इस सम्बन्ध मे वे जोड़ बाकी गुणा आदि का ज्ञान प्राप्त करते है। खर्च का हिसाब रखने की विधि का ज्ञान प्राप्त करते है। इस प्रकार वे यह जान जाते है कि पार्सल भेजने मे कुल कितना व्यय होता है ।

उपर्युक्त विवरण से यह पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है कि बालक भिन्न- भिन्न विषयों का ज्ञान एक प्रोजेक्ट के द्वारा किस प्रकार ग्रहण करते है। साथ ही साथ उन्हें जीवन मे काम आने वाले पोस्ट आफिस सम्बन्धी कार्य का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार यह पद्धति शिक्षा को जीवन की समस्याओ के साथ जोड़ कर व्यावहारिक बना देती है जिससे बालक उपयोगी तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते है ।

प्रोजेक्ट पद्धति के गुण

(१) इस पद्धति का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह बालकों को अपने अनुभव से सीखने का अवसर देती है। कोई ज्ञान बालकों के ऊपर थोपा नहीं जाता। वे स्वयं कार्य करके अपने अनुभव से सीखते हैं। अतः 'क्रिया द्वारा सीखो' इस पद्धति का केन्द्रीय सिद्धान्त है। इसमें बालकों को ऐसी परिस्थिति में रख दिया जाता है और उनके पास ऐसे साधन इकट्ठे कर दिये जाते हैं कि बालक समस्याओं को स्वयं कार्य करते हुए हल कर लेते हैं।

(२) यह पद्धति विद्यार्थियों को स्वतन्त्र रूप से सोचने, विचारने तथा कार्य करने का अवसर देती है। दूसरे शब्दों में यह पद्धति निष्क्रिय रहकर ज्ञान प्राप्त करने का विरोध करती है। बालक ज्ञान के तथ्यों तथा बातों को दूसरों के कहने मात्र से नहीं मान लेते वरन् उन्हें स्वयं खोज कर ग्रहण करते हैं। इस पद्धति द्वारा बालक की शिक्षा इस प्रकार होती है कि बालक उस ज्ञान और कौशल को स्वयं ही प्राप्त कर लेता है जिनकी वास्तविक जीवन के क्षेत्र में आवश्यकता पड़ती है। इस पद्धति में बालकों को निर्णय करने का अवसर मिलता है। अतः वे निर्णय करना सीख जाते हैं। इस प्रकार इस पद्धति के द्वारा बालक की अनेक शक्तियों का विकास होता है। चूंकि इस पद्धति में बालक अपने तरीके से अपनी योग्यतानुसार कार्य करता है। इसलिए यह पद्धति मनोवैज्ञानिक प्रतीत होती है।

(३) इस पद्धति में रटने की विधि का कोई स्थान नहीं है। रटने तथा स्मरण करने की क्रिया की अपेक्षा सोचने तथा कार्य करने की प्रवृत्ति पर बल दिया जाता है। कार्य करके जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह अधिक स्थायी होता है। रटने की विधि से प्राप्त किया हुआ ज्ञान अधिक स्थायी नहीं होता क्योंकि उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

(४) इसके अनुसार पाठ्य-विषयों का विभाजन और उनका पृथक् भाव से पढ़ाया जाना अवांछनीय है। अतः यह पद्धति पाठ्य-क्रम के विषयों में परस्पर तथा उनका जीवन से सम्बन्ध स्थापित करती है। पाठ्य-क्रम के समस्त विषय समन्वित रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। समन्वित शिक्षा का विचार कुछ नया नहीं है किन्तु क्रिया द्वारा समन्वय स्थापित करने का विचार इस पद्धति की ही विशेषता है। किसी प्रोजेक्ट समस्या के हल करने में बालक अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ... स्थान पर बालक को शिक्षा का केन्द्र माना जाता है और बालक की दृष्टि से ही उसे विषय पढ़ाये जाते हैं। इस प्रकार इस पद्धति में विषयों में विभाजित नहीं किया जाता। जीवन से सम्बन्धित हो ... इन विषयों में अधिक रुचि लेता है जो उसकी जीवन की ... पूरा करने में सहायक होते हैं।

(५) समस्याओं को सुलझाने के लिये प्रत्येक बालक को मानसिक तथा शारीरिक कार्य करने पड़ते हैं। शारीरिक कार्य करने के कारण उनके हृदय में श्रम के प्रति आदर का भाव उत्पन्न हो जाता है और वे हाथ से काम करने तथा चीजें बनाने में कोई हीनता नहीं समझते। इस प्रकार यह पद्धति श्रम की महानता को बढ़ाती है और श्रमियों के प्रति आदर-भाव रखना सिखाती है।

(६) इस पद्धति में वास्तविक प्रोजेक्ट को वास्तविक परिस्थितियों में स्वाभाविक रूप से पूर्ण किया जाता है। इससे जीवन तथा कार्य में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जीवन से सम्बन्धित हो जाने पर बालक की रुचि उस कार्य में जागृत हो जाती है और वह रुचिपूर्वक कार्य को पूरा कर लेता है। कार्य को पूरा करने में बालक जीवन में काम आने वाले अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इसके द्वारा काम करने से अभ्यास और चातुर्य को प्रोत्साहन मिलता है। बालक में विधिपूर्वक कार्य करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त उसमें धैर्य, सन्तोष तथा आत्म-तुष्टि के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। इन भावों के रहने पर बालक कठिनाइयों से नहीं घबराता और जीवन के अनेक कार्यों को सफलतापूर्वक पूर्ण कर लेता है।

(७) आज के प्रजातान्त्रिक युग में यह पद्धति अत्यन्त ही उपयोगी है क्योंकि इसका प्रयोग भी प्रजातान्त्रिक है। बालकों को अपनी रुचि के अनुसार काम करने, प्रोजेक्ट चुनने तथा प्रोजेक्ट का कार्य-क्रम बनाने का अधिकार है। उन्हें कार्य करने की स्वतन्त्रता है। इसके अतिरिक्त उन्हें दूसरों के सहयोग में कार्य करने का अवसर मिलता है। इससे उनमें सामाजिकता की भावना जागृत होती है। इस पद्धति के अनुसार कार्य करने से उनमें नागरिकता की भावना का विकास होता है। वे सभी गुण जो नागरिकता के विकास के लिये आवश्यक हैं बालकों में इस पद्धति के द्वारा उत्पन्न किये जा सकते हैं। बालक अपने उत्तरदायित्व को समझते हैं, सहयोग से कार्य करते हैं, कार्य करते समय दूसरों का ध्यान रखते हैं और स्वतन्त्र रूप से विचार करते हैं। उक्त विवरण से स्पष्ट है कि यह पद्धति प्रजातन्त्र के स्थापन तथा विकास के लिये अत्यधिक उपयोगी है।

प्रोजेक्ट पद्धति के दोष

(१) कुछ शिक्षकों ने इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह बतलाया है कि इस पद्धति के अपनाने में विभिन्न प्रकार की सामग्री, यंत्र, पुस्तकें आदि की आवश्यकता होती है जिनके प्रबन्ध में अधिक व्यय करना पड़ता है, अतः यह पद्धति सामान्य स्कूलों में प्रयोग में नहीं लाई जा सकती। यद्यपि यह कथन कुछ सीमा तक ठीक है परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि इस पद्धति का यह नियम है कि प्रोजेक्ट स्वाभाविक वातावरण में पूर्ण किया जाय। दूसरे शब्दों में उसी सामग्री तथा सामान का उपयोग किया जाय जो वास्तविक तथा स्थानीय वातावरण में उपलब्ध हो सके।

इसके अतिरिक्त बहुत से प्रोजेक्ट ऐसे भी हो सकते हैं जिनसे धन प्राप्त करना सम्भव है; किन्तु धन प्राप्त करना इस पद्धति का उद्देश्य नहीं है।

(२) इस पद्धति का दूसरा दोष यह है कि इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान शृंखला-बद्ध नहीं होता। सभी विषयों का ज्ञान अपूर्ण रहता है अर्थात् बालक किसी भी विषय के सभी अङ्गों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता। मान लीजिये अमुक प्रोजेक्ट के सम्बन्ध में बालक कुछ देशों के भूगोल का ज्ञान प्राप्त करता है, तत्पश्चात् किसी दूसरे प्रोजेक्ट के सम्बन्ध में वह कुछ और भौगोलिक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है किन्तु उसे सम्पूर्ण भूगोल के अध्ययन का अवसर नहीं मिलता। इस प्रकार उसका भूगोल सम्बन्धी ज्ञान विशृंखल तथा अपूर्ण रह जाता है। यही हाल दूसरे विषयों का भी होता है। गाडफ्रे टाम्सन का कथन है—"प्रासंगिक (Incidental) शिक्षा यद्यपि बड़ी महत्त्वपूर्ण है किन्तु पर्याप्त नहीं होती।" इस पद्धति की आलोचना करते हुए गेट्स लिखता है—"प्रासंगिक शिक्षा में समय का बड़ा अपव्यय होता है और बहुधा बालकों में पर्याप्त रुचि नहीं रहती। प्रत्येक विषय में कुछ न कुछ ऐसी बातें होती हैं जिनका क्रिया से अलग विशेष अध्ययन आवश्यक हो जाता है।" इसके अतिरिक्त इस पद्धति में अभ्यास का अभाव रहता है। बालक जो कुछ सीखते हैं उसका अभ्यास नहीं कर पाते। यद्यपि ये बातें सत्य हैं तथापि इन दोषों का निराकरण कठिन नहीं। यदि हम प्रोजेक्ट पद्धति तथा कक्षा-पाठन-विधि दोनों का प्रयोग करें तो उक्त दोष दूर किए जा सकते हैं।

(३) इस पद्धति में पाठन-विधि अव्यवस्थित तथा क्रमहीन हो जाती है। बालक के ज्ञान प्राप्त करने का क्रम उचित तथा मनोवैज्ञानिक नहीं हो पाता। सम्भव है कि किसी प्रोजेक्ट के सम्बन्ध में बालक को 'गुणा' की आवश्यकता जोड़ और बाकी से पहले पड़ जाय। यहाँ पर बालक बिना जोड़ और बाकी का ज्ञान प्राप्त किये गुणा सीखने का प्रयत्न करेगा और यहीं पर यह पद्धति अमनोवैज्ञानिक हो जाती है।

(४) लोगों का विचार है कि इस पद्धति द्वारा पाठ्य-क्रम पूरा नहीं हो सकता। वर्ष के अन्त तक विद्यार्थी सभी विषयों के निर्धारित पाठ्य-वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते। इस दोष को दूर करने का उपाय यही है कि कक्षा-पाठन-विधि तथा प्रोजेक्ट पद्धति दोनों को प्रयोग में लाया जाय और जो कुछ प्रोजेक्ट पद्धति द्वारा पूरा न हो सके वह अध्यापन विधि द्वारा पूरा कर दिया जाय।

(५) इस पद्धति में शिक्षक का कोई प्रमुख स्थान नहीं है। इसके अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करने पर शिक्षक का व्यक्तित्व और ज्ञान निरर्थक हो जाता है। यह कुछ ठीक नहीं जंचता क्योंकि इस पद्धति में शिक्षक का उत्तरदायित्व नहीं बढ़ जाता है। शिक्षक का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक अवसर पर बालकों का ... निरीक्षण करे। उनके कार्य को इस प्रकार

सचालित करे कि बालक समस्या का समाधान निश्चित समय के अन्दर सुविधा तथा सफलतापूर्वक कर सकें।

(६) कुछ लोगों की धारणा है कि उचित प्रोजेक्ट का निर्वाचन जिनका सामाजिक जीवन में कुछ मूल्य तथा महत्व हो कठिन है। कुछ प्रोजेक्ट तो अवश्य ऐसे हैं जिनको हम विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं। किन्तु विद्यालय के बहुसंख्यक विद्यार्थियों के लिए प्रोजेक्ट ढूंढ निकालना कठिन है। इसके अतिरिक्त यह पद्धति विद्यालयों का रूप बदल देती है। विद्यालय पुतलीघर का रूप धारण कर लेते हैं। जहां प्रतिक्षण कोलाहल मचा रहता है। इन दोषों को दूर करने का उपाय यह है कि कभी-कभी ही प्रोजेक्ट का आयोजन किया जाय।

(७) इस पद्धति में व्यक्तिगत रुचियों तथा प्रवृत्तियों का ध्यान नहीं रखा जाता। इसके अतिरिक्त यह मान लिया जाता है कि सभी बालकों के अन्दर वांछित रुचियां तथा इच्छाएं विद्यमान हैं। यह बड़ी भूल है। ज्ञान के सदृश रुचियों का भी विकास किया जा सकता है। इसके लिये उनकी रुचियों को किसी विशेष दिशा में लगाना चाहिये। सभी के लिये प्रोजेक्ट की व्यवस्था करना अनुचित है।

(८) इस विधि में बालकों के समक्ष अधिकतर प्रौढ़ जीवन की समस्याएं प्रस्तुत की जाती है। यह इस विधि का एक बड़ा दोष है। रेमन्ट का कथन है कि बालकों को पाठशाला में प्रौढ़ जीवन की समस्याओं को हल करने से पाठशाला की बुराइयां दूर नहीं हो सकतीं। बालकों के सम्मुख क्रिया से परे कोई समस्या उपस्थित कर देना अमनोवैज्ञानिक है।

निष्कर्ष— प्रोजेक्ट पद्धति के दोषों का वर्णन करते समय उनको दूर करने के उपायों पर भी प्रकाश डाला गया है और इस पद्धति के महत्त्व को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि अनेक अवगुणों के होते हुए भी इस पद्धति में अनेक मौलिक गुण हैं। प्रोजेक्ट के उचित निर्वाचन से और अध्यापन प्रणाली के सहयोग से इस पद्धति के लगभग सभी दोष दूर किये जा सकते हैं। इस पद्धति से बालक उचित शिक्षा प्राप्त करता है। सभी कार्य सोद्देश्य होते हैं, इसलिये बालक उनमें विशेष रुचि रखते हैं। कक्षा का यन्त्रवत् तथा नीरस वातावरण मनोरंजक हो जाता है। बालक अपने-अपने कार्यों को बड़े आनन्द तथा उल्लास से समाप्त करते हैं। विद्यालय के वातावरण में सजीवता आ जाती है। इस प्रकार यह पद्धति शिक्षा के लिये सबसे उत्तम वातावरण प्रस्तुत करती है। इस पद्धति के गुणों का विवरण पहले ही दिया जा चुका है, अतः उनकी पुनरावृत्ति व्यर्थ है। इस पद्धति की उपयोगिता को स्पष्ट करते हुए श्री सीताराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'शिक्षा प्रणालियाँ और उनके प्रवर्तक' में लिखा है, "इस प्रणाली में वर्तमान काल तक के शिक्षा शास्त्रियों के सभी सिद्धान्तों का समावेश किया गया है। वास्तविक परिस्थिति में काम करने की योजना

में रूसो का प्रकृतिवाद है ; काम पूरा करने की योजना में पेस्टालाजी, हरबार्ट तथा फोबेल का 'करो और सीखो' वाला सिद्धान्त है। समस्यात्मक कार्य में फोबेल की 'स्वयं शिक्षा' तथा मॉन्टेसोरी की 'स्वतः प्रवृत्ति और स्वतन्त्रता' का सिद्धान्त है तथा व्यापक रूप से इसमें स्वयं शिक्षा, प्रागिक समर्थता तथा 'करो और सीखो' का समावेश है।" हमारे देश की बेसिक शिक्षा-प्रणाली में क्रियात्मक तथा प्रोजेक्ट प्रणालियों के सिद्धान्त स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। छोटे बालकों की शिक्षा के लिये यह पद्धति सफलता पूर्वक प्रयोग में लाई जाती है। एक शिक्षा-विशेषज्ञ का कथन है कि "यद्यपि पूर्वबेसिक शिक्षा में प्रोजेक्ट के लिये कोई स्थान नहीं किन्तु प्राइमरी शिक्षा में प्रोजेक्ट द्वारा विशेष लाभ उठाया जा सकता है।" इसी पद्धति के आधार पर बड़े बालकों के लिये 'डाल्टन पद्धति' (Dalton Method) निर्मित की गई है। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

प्रश्न

(१) प्रोजेक्ट पद्धति के प्रमुख लक्षणों की रूप-रेखा को संक्षिप्त में समझाइये। भारत में उसे प्रारम्भ करने में आपको कौनसी कठिनाइयाँ दिखलाई पड़ती हैं।

(२) प्रोजेक्ट पद्धति के मनोवैज्ञानिक तथा रचनात्मक (Organisational) पहलू क्या-क्या हैं ?

(३) प्रोजेक्ट पद्धति क्या है ? किसी प्रोजेक्ट को लेकर शिक्षा के समस्त विषय आप चौथी कक्षा को किस प्रकार पढ़ावेंगे ? स्पष्ट कीजिए।

(३) प्रोजेक्ट पद्धति का वर्णन कीजिए। इसके सिद्धान्त क्या-क्या हैं ? इस पद्धति के व्यावहारिक रूप पर प्रकाश डालिए और संक्षेप में इसके गुण व दोष भी बतलाइए।

सत्रहवाँ अध्याय

मॉन्टेसोरी (Maria Montessori)

जीवन तथा कार्य— मेरिया मान्टेसोरी (Maria Montessori) का जन्म १८७० ई० में रोम के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। उन्होंने २४ वर्ष की अवस्था में रोम के विश्वविद्यालय से डाक्टरी परीक्षा पास की। शिक्षा के पश्चात् उन्होंने लूले, लंगड़े, बहरे तथा मन्द बुद्धि वाले बालकों की चिकित्सा का कार्य प्रारम्भ किया। इस कार्य को करते हुए डाक्टर मान्टेसोरी ने अनुभव किया कि यदि इस प्रकार के बालकों को नये ढंग से शिक्षा दी जाय तथा काम करने की स्फूर्ति दी जाय तो वे साधारण बालकों की तरह शीघ्र ही शिक्षित, कार्य-कुशल तथा सुसस्कृत बनाये जा सकते हैं। अतः वे मंद बुद्धि वाले बालकों के लिये उपयुक्त शिक्षण-पद्धति के निर्माण में लग गईं। इस समय मनोविज्ञान का काफ़ी विकास हो चुका था। उन्होंने प्रयोगात्मक मनोविज्ञान (Experimental Psychology) का अध्ययन किया और एक विशेष प्रकार की शिक्षण-पद्धति का प्रयोग किया जिसको 'मान्टेसोरी पद्धति' (Montessori Method) की संज्ञा दी गई है। इस कार्य में मान्टेसोरी को बड़ी सफलता मिली और उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि मन्द बुद्धि वाला बालक भी उचित शिक्षा द्वारा साधारण बुद्धि वाले बालक के स्तर को प्राप्त कर सकता है। अपनी शिक्षण-पद्धति के निर्माण में उन्हें 'एडवर्ड सेग्विन' (Edward Segvin) द्वारा लिखित 'शैक्षिक चिकित्सा' (Pedagogical Treatment) तथा 'सर्गी' (Sergi) द्वारा लिखित 'वैज्ञानिक शिक्षा-शास्त्र' (Scientific Pedagogy) नामक ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिली। उन्होंने इस सम्बन्ध में डाक्टर 'इटार्ड' (Itard) के साहित्य का भी अध्ययन किया। डाक्टर इटार्ड उस समय फ्रांस के मन्द बुद्धि वाले बालकों की शिक्षा के प्रबन्ध में संलग्न थे। डाक्टर मान्टेसोरी ने अपनी शिक्षण-पद्धति को इन्हीं लोगों के विचारों पर आधारित किया और इटार्ड की ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षण-पद्धति को अपनाया। 'मान्टेसोरी-पद्धति की उपयोगिता को देखकर इटेलियन सरकार ने डाक्टर मान्टेसोरी को 'चिल्ड्रेन्स हाउस' (Children's House) (बच्चों का घर) का अध्यक्ष बना दिया। इस संस्था में उन्होंने अपनी शिक्षण-पद्धति का वैज्ञानिक आधारों पर प्रयोग किया और प्रयोग द्वारा उसे स्पष्ट किया तथा परिपक्व बनाया। अपनी पद्धति की सफलता को देखकर उनके हृदय में यह प्रश्न उठा कि यदि साधारण बुद्धि वाले शिशुओं के लिये भी उनकी पद्धति का प्रयोग किया जाय तो सम्भव है कि उनका और भी अच्छा विकास हो। यह सोचकर उन्होंने अपनी पद्धति का प्रयोग साधारण बुद्धि वाले बालकों पर प्रारम्भ किया। अपने प्रयोगों से उन्होंने यह अनुभव किया कि ६ वर्ष का मन्द-बुद्धि बालक ३ वर्ष के साधारण बालक के समान होता है। अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुंची कि जो पद्धति ६ वर्ष के मन्द-बुद्धि बालक के लिये उपयोगी है वह

३ वर्ष के साधारण बालक की शिक्षा में उपयोगी होगी। इसलिये उन्होंने अपनी पद्धति का प्रयोग सीन भाग के बालकों की शिक्षा में किया। इस कार्य में उन्हें यो भी आश्चर्यजनक सफलता मिली। इसी समय से उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन शिशु शिक्षा के पवित्र कार्य में लगा दिया। उन्होंने ३ से ६ वर्ष तक के बच्चों की शिक्ष का प्रबन्ध किया और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मान्टेसोरी पद्धति' (Montessori Method) प्रकाशित कराई। वे शिक्षा क्षेत्र में बड़ी क्रियाशील रहीं। उन्होंने अपनी प्रणाली को क्रियात्मक रूप देने के लिये योरप के कई देशों का भ्रमण किया। व भारतवर्ष में भी आई थीं। थियोसाफिकल सोसाइटी के तत्त्वाधान में उन्होंने अपनी शिक्षण-पद्धति पर भाषण दिये थे और मद्रास में मॉन्टेसोरी संघ की एक शाखा भी स्थापित की थी। उनकी पद्धति को अनेक देशों ने अपनाया। अब हालैंड, इङ्गलैंड तथा अन्य कई देशों में मान्टेसोरी-प्रणाली अनिवार्य कर दी गई है। भारतवर्ष में भी कई स्थानों पर मान्टेसोरी स्कूल खुल गये हैं और आशा है कि निकट भविष्य में इस प्रकार के स्कूलों की कोई कमी नहीं रहेगी। इस पद्धति के लिये हम मान्टेसोरी के बड़े आभारी हैं। शिक्षा में बालकों के प्रति प्रेम व सहानुभूति उत्पन्न करने का श्रेय आपको ही दिया जा सकता है।

मॉन्टेसोरी के शिक्षा-सिद्धान्त

मान्टेसोरी की प्रारम्भ से ही धारणा थी कि शिक्षा और प्रकृति में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत. उन्होंने शिशुओं की प्रकृति के आधार पर अपने शिक्षा सिद्धान्तों का निर्माण किया। इस कार्य में उन्हें फ्रोबेल की 'किंडर-गार्टन पद्धति' से विशेष सहायता मिली। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों का कथन है कि मान्टेसोरी ने फ्रोबेल की 'किंडर-गार्टन पद्धति' को ही एक नवीन रूप दे दिया है। कुछ भी सही, मान्टेसोरी ने जो कुछ भी प्रस्तुत किया है उसका विशेष महत्त्व है। यद्यपि मान्टेसोरी ने अपने शिक्षा-सिद्धान्तों की कहीं भी विवेचना नहीं की, तथापि उनकी पद्धति का निरूपण करके हम उनके शिक्षा-सिद्धान्तों को सहज में जान सकते हैं। मान्टेसोरी पद्धति के मूल-सिद्धान्त निम्नांकित हैं:—

(१) व्यक्तित्व का विकास (Development of Individuality)— मान्टेसोरी शिक्षा को आन्तरिक विकास मानती है। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का विकास करना है। रूसो, पेस्टालाजी तथा फ्रोबेल ने भी इस बात पर बल दिया था। मान्टेसोरी ने बालक के स्वाभाविक विकास पर बल दिया है। उनका कथन है कि पेड़ के बीज की तरह बालक में सम्पूर्ण विकास की शक्ति निहित है। जो कुछ बालक को आगे जाकर बनना है वह उसमें जन्म से ही विद्यमान है। जिस प्रकार बीज अनुकूल वातावरण पाकर एक सम्पूर्ण वृक्ष बन जाता है, ठीक उसी प्रकार बालक भी अनुकूल वातावरण पाकर अपने व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास को प्राप्त

ता है। अतः शिक्षक को, बालक की देख-भाल उसी प्रकार करनी चाहिये जिस ार माली बगीचे की करता है ताकि बालक को स्वाभाविक विकास में सहायता ल सके। अतएव बालक को शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो उसकी व्यक्तिगत शक्तियों पूर्ण रूप से प्रकट कर सके। बालक की अन्तर्निहित शक्तियों का प्रकट होना ही का विकास है। इस सम्बन्ध में मान्टेसोरी ने कहा — "बालक एक शरीर है जो ता है तथा आत्मा है जो विकास प्राप्त करता है, ...विकास के इन दो रूपों हमें न कुरूप बनाना चाहिए, न दबाना चाहिए, किन्तु उस समय के लिये प्रतीक्षा नी चाहिए जब किसी शक्ति का क्रमानुसार प्रादुर्भाव हो।"

(२) स्वतन्त्रता (*Freedom*)—व्यक्तित्व का विकास तभी सम्भव है जब कि लक अपनी प्रवृत्ति तथा रुचि के अनुसार कार्य करे। दूसरे शब्दों में बालक को नी अन्तर्निहित शक्तियों को प्रकट करने के लिये स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए अर्थात् सकी शक्तियों को विकसित करने के लिये उसे अपनी रुचियों के अनुसार स्वतन्त्र तावरण में कार्य करने का अवसर देना चाहिये। स्वतन्त्रता के अभाव में बालक ी शक्तियों का स्वाभाविक विकास यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसलिये क्षा में स्वतन्त्रता आवश्यक है। शिक्षा में स्वतन्त्रता का आशय बालक को उसकी ल भूत प्राकृतिक शक्तियों तथा प्रवृत्तियों के अनुसार चलने देने से है। दूसरे शब्दों बालक की मूल तथा सामान्य प्रवृत्तियों को शिक्षा का माध्यम बनाना ही वास्तविक वतन्त्रता है यह स्वतन्त्रता प्रत्येक बालक को मिलनी चाहिए। इसमें वर्ग, आयु ौर लिङ्ग का विचार नहीं करना चाहिए। स्वतन्त्र वातावरण में की गई क्रियाओं ारा बालकों में आत्म-निर्भरता, आत्म-संयम तथा आत्म-नियन्त्रण आदि गुणों का वकास होता है। स्वतन्त्र वातावरण में कार्य करने से बालक सब कुछ अपने आप ीख सकता है तथा उसका विकास हो सकता है जिसके लिये वह पैदा हुआ है। ान्टेसोरी का विश्वास है कि सामूहिक शिक्षा में बालकों को इच्छानुकूल कार्य करने ी स्वतन्त्रता नहीं होती, इसलिये वहां पर उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास यदि सम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अतः मान्टेसोरी ने सामूहिक शिक्षा की अपेक्षा व्यक्तिगत शिक्षा पर विशेष बल दिया है।

(३) आत्म-शिक्षा (*Self-Education*)— 'आत्म-शिक्षा' मान्टेसोरी का तीसरा शिक्षा सिद्धांत है। 'आत्म-शिक्षा' का तात्पर्य अपने आप नये ज्ञान की खोज करने तथा नई-नई बातों के सीखने से है। आत्म-शिक्षा ही सीखने की सबसे उत्तम विधि है। इससे बालक अपने तरीके से अपनी ही गति के अनुसार सीखता है। वह अपनी शिक्षा के लिये अपने शिक्षक पर निर्भर नहीं रहता। अतएव मान्टेसोरी पद्धति के अनुसार शिक्षक बालक की क्रियाओं में हस्तक्षेप नहीं करते। वे बालकों के लिये न कोई कार्य निर्धारित करते है और न ही कोई आदेश देते हैं। वे बालकों को काम

करने के लिये बाध्य नहीं करते। इस प्रकार इस पद्धति में शिक्षक का कोई महत्त्वपू कार्य नहीं है। शिक्षक का कार्य केवल पथ-प्रदर्शन और निरीक्षण करना है। व बालक की चेष्टाओं का निरीक्षण करता रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उसक इच्छानुसार सहायता करता है। इस प्रकार मान्टेसोरी ने भी पेस्टालाजी तथा फ्रोबे की भांति शिक्षक को निरीक्षक का पद दिया है।

आत्म-शिक्षण के लिए मान्टेसोरी ने विशेष प्रकार के शिक्षा-यन्त्रों (Didacti Apparatus) का निर्माण किया है। ये शिक्षा-यन्त्र बालक के सामने रख दिये जाते हैं। बालक इनका अपने ढंग से प्रयोग करता है। ये यन्त्र इस प्रकार के बने होते हैं कि इनका प्रयोग एक ही प्रकार से किया जा सकता है। अतः बालक इनके प्रयोग में गलती करता है। दो चार बार त्रुटि करने पर वह अपनी त्रुटि अपने आप सुधार लेता है। गलती के सुधारने के लिये शिक्षक की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार शिक्षा-यन्त्रों में आत्म-संशोधन की विशेषता होती है। उदाहरणार्थ 'सिलेण्डर बक्स' (Cylinder Box) को लीजिए। यह एक ऐसा बक्स होता है जिसके भीतर के तख्ते पर भिन्न-भिन्न माप के छेद बने रहते हैं। इसी बक्स में भिन्न-भिन्न माप के गुटके भी होते हैं। एक गुटका एक ही छेद में ठीक-ठीक बैठ सकता है। बालक गुटकों को छेदों में बैठाने का प्रयत्न करता है और ऐसा करते समय वह गलती भी करता है। छोटे गुटके को बड़े छेद में डाल देता है। परन्तु गुटकों को ठीक प्रकार से बैठाने का बार-बार प्रयत्न करने पर वह अपनी गलती का सुधार कर लेता है और उन्हें ठीक-ठीक बैठाने में सफल हो जाता है। इस प्रकार बालक बिना शिक्षक की सहायता के अनेक बातें सीखता है अर्थात् वह आत्म-शिक्षण करता है। आत्म-शिक्षा से बालक में आत्म-विश्वास तथा आत्म-निर्भरता की वृद्धि होती है जो जीवन को सफल बनाने में सहायक होते हैं। अतः आत्म-शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है।

(४) खेल द्वारा शिक्षा (Education Through Play)— मान्टेसोरी के शिक्षण-सिद्धान्तों में 'खेल द्वारा शिक्षा' का सिद्धान्त अपना ही महत्त्व रखता है। मान्टेसोरी का कथन है कि बालकों में खेलने की प्रवृत्ति होती है, अतः उन्हें स्वतन्त्र रूप से खेल द्वारा शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया जाना चाहिए। उनके खेलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। उन्हें खेलने का अवसर देने के हेतु ही मान्टेसोरी ने शिक्षा-यन्त्रों का निर्माण किया है। ये शिक्षा-यन्त्र बालक के खिलौने के समान होते हैं। बालक अपनी इच्छानुसार इन यन्त्रों से खेलता है और इनसे खेलते-खेलते वह वर्णमाला, गणित, रेखागणित आदि विषय सीख जाता है और अपनी ज्ञानेन्द्रियों का विकास करता है। उसकी श्रवण-शक्ति, स्पर्श बोध, स्वाद और घ्राण बोध परिपक्व हो जाते हैं। इस प्रकार 'खेल' मानसिक विकास में सहायक होता है।

परन्तु मान्टेसोरी-पद्धति के खेल साधारण खेलों की भांति नहीं होते। इन खेलों

या साधारण खेलों में बड़ा भेद है। यह खेल नाम-मात्र के होते हैं और इनमें वास्त-
कता नहीं होती। ये खेल बालक की आत्म-स्फूर्ति के अन्तर्गत नहीं गिने जा सकते।
खेलों के बहाने बालकों से कार्य कराया जाता है। इन खेलों में बालक के मस्तिष्क
र बड़ा जोर पड़ता है। यह अमनोवैज्ञानिक तथा अनुचित है।

(५) पट्ठों तथा अङ्गों की शिक्षा (Muscular training)—मान्टेसोरी का
श्वास है कि बालक के पट्ठों तथा अङ्गों अर्थात मांसपेशियों को जब तक न साधा
।एगा तब तक बालक को काम करने में कठिनाई होगी और वह अपने अङ्गों का
चित प्रयोग न कर सकेगा। अतः यह आवश्यक है कि उसकी मांसपेशियों को साधने
ा प्रयत्न किया जाय। बालक की प्रारम्भिक शिक्षा में इस ओर विशेष ध्यान देना
ाहिए ताकि बालक भली-भाँति चलना, फिरना, दौड़ना, सीख जाय। वह अपना सब
ाम स्वयं कर सके। इससे उसमें आत्म-निर्भरता आ जाती है वह छोटी ही आयु
सब कुछ करना सीख जाता है।

(६) ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा (Sense Training)—मॉन्टेसोरी के अनुसार
शिक्षा में ज्ञानेन्द्रियों का महत्त्व अधिक है। उसके कथनानुसार ज्ञानेन्द्रियां ही ज्ञान के
ार हैं। उनके द्वारा ही हमें ज्ञान प्राप्त होता है और यदि वे निर्बल हुईं तो हमारा
ान अस्पष्ट तथा अपूर्ण रहता है। इसलिये वे इन्द्रियों की शिक्षा पर विशेष बल देती
हैं। मान्टेसोरी का कथन है कि बालक की इन्द्रियां तीन से सात वर्ष तक क्रियाशील
रहती हैं और इसी समय वह बहुत कुछ सीखता है। ज्ञानेन्द्रियां ही मानसिक विकास
की आधार है, अतः आरम्भ से ही बालक की ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षित करने अथवा
ाधने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे ऐसे अभ्यास कराने चाहियें जिससे वह ठीक-
ीक ज्ञान प्राप्त कर सके। ज्ञानेन्द्रियों के विकास के लिये ही मॉन्टेसोरी ने शिक्षा-
ंत्रों का निर्माण किया है।

मान्टेसोरी पद्धति

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर मॉन्टेसोरी की शिक्षा-पद्धति को तीन भागों में
विभक्त किया जा सकता है :—

(१) कर्मेन्द्रियों की शिक्षा (Motor Education)।
(२) ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा (Sensory Education)
(३) भाषा की शिक्षा (Language Teaching)

(१) कर्मेन्द्रियों की शिक्षा (Motor Education)—मॉन्टेसोरी विद्यालयों
प्रायः तीन से सात वर्ष के बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। 'बालघर'
सर्वप्रथम बालकों की कर्मेन्द्रियों को शिक्षित करने का प्रयत्न किया जाता है। उन्हें
पने कार्य स्वयं करने के लिए उत्साहित किया जाता है। 'बालघर में ऐसी परिस्थिति

उत्पन्न कर दी जाती है कि बालक चलने-फिरने के साधारण कार्य से लेकर सम्बन्धित अन्य सभी कार्यों को स्वयं कर लेता है। हाथ मुंह धोना, कपड़े उतारना, मेज तथा कुर्सी को ठीक स्थान पर रखना, कमरा सजाना, संभाल कर क्रम से रखना, भोजन बनाना भोजन परोसना बर्तन धोना आदि बालक स्वयं कर लेते हैं। शिक्षा उपकरणों में कई ऐसे फ्रेम होते हैं जिन पर के टुकड़े लगे रहते हैं और उनमें हुक लगे रहते हैं। बालक इन कपड़ों में हु का प्रयत्न करता है और इस अभ्यास द्वारा वह अपने कपड़ों में स्वयं बटन सीख जाता है। ऐसे कार्य करने में बालक आनन्द का अनुभव करता है और द्वारा वह अपने अंगों को साध लेता है और अनेकानेक बातें सीख जाता प्रकार बालक को दैनिक जीवन के सभी आवश्यक कार्यों की शिक्षा दी जा उसमें भावी जीवन के अनेक कार्यों को सुचारु रूप से करने की आदत यहीं प है। दूसरे शब्दों में बालक की कर्मेन्द्रियां विकसित हो जाती हैं और उसमें हारिक कुशलता आ जाती है। साथ ही साथ वह शिष्ट तथा सभ्य हो जा बातचीत करना सीख जाता है। व्यावहारिक कार्यों की शिक्षा मनोवैज्ञानिक दी जाती है। बालकों को उनकी रुचि, शक्ति तथा योग्यतानुसार कार्य दिये जा उनके स्वास्थ्य का भी ध्यान रखा जाता है। अवस्था तथा स्वास्थ्य के व्यायाम तथा शारीरिक कार्य कराये जाते हैं। व्यायाम तथा शारीरिक क्रियाओं मनोरंजक बनाने के लिये कभी-कभी संगीत के साथ उनका अभ्यास कराया जा मान्टेसोरी विद्यालयों में बालक चीजों को बिना तोड़े-फोड़े, बिना शोर मचाये कार्य बड़ी सभ्यता, शिष्टता तथा पटुता से करते हैं।

(२) ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा (Sensory Education)—मान्टेसोरी बालकों का सूक्ष्म अध्ययन किया और इसके परिणामस्वरूप उन्होंने निम्न निष्कर्ष निकाले :—

(अ) बालकों को प्रारम्भिक कक्षाओं में सूक्ष्म विचारों का देना व्य क्योंकि उनमें सूक्ष्म विचार समझने की क्षमता नहीं होती।

(ब) इन्द्रिय अनुभव ही बालक की शिक्षा का आधार है। अतः बालकों जितने अधिक इन्द्रिय-अनुभव कराये जा सकें कराये जायें। इस प्रकार उन्होंने इन्द्रि की शिक्षा पर विशेष बल दिया है।

इन्द्रियों की शिक्षा अथवा ज्ञानेन्द्रियों के विकास के लिये मान्टेसोरी ने विभि प्रकार के शिक्षा-यन्त्रों अथवा शिक्षोपकरणों (Didactic Apparatus) का निम किया। इन उपकरणों की विशेषता यह है कि एक उपकरण से केवल एक ही क हो सकता है। उपकरण से खेलते-खेलते बालक स्वयं समझ जाता है कि उसे क

करना है। शिक्षक को यह बताने की आवश्यकता नहीं होती कि बालक को क्या करना है और कैसे करना है।

विभिन्न इन्द्रियों की शिक्षा-दीक्षा निम्न प्रकार से होती है :—

(१) चक्षेन्द्रियों के विकास के लिये बालक को भिन्न-भिन्न रंगों की टिकियां दे दी जाती हैं। ये टिकियाँ आकार तथा अन्य बातों में एक सी होती हैं; केवल इनके रंगों में भिन्नता होती है। एक बार में एक ही रंग की टिकियां निकालने के लिये बालक से कहा जाता है— निकालते-निकालते बालक को रंगों की पहिचान हो जाती है और वह भूल नहीं करता है। इस प्रकार के प्रयोग से बालक की नेत्रेन्द्रियां सध जाती हैं।

(२) स्पर्शेन्द्रिय के विकास के लिये बालक को खेलने के लिये एक डिब्बा दिया जाता है जिसमें रुमाल रक्खे होते हैं। ये रुमाल एक ही रंग तथा आकार के होते हैं, किन्तु कोई चिकना, कोई खुरदरा कोई ऊनी तथा कोई मखमली होता है। बालक को एक विशेष प्रकार का रुमाल दिखाकर उसी प्रकार का रुमाल निकालने को कहा जाता है। चूंकि रुमाल अन्य बातों में एक से होते हैं इसलिये स्पर्श द्वारा बालक उसी प्रकार का रुमाल निकालने में सफल हो जाता है। रुमालों को स्पर्श करके बालक खुरदरेपन, चिकनाई तथा कोमलता का ज्ञान प्राप्त करता है। अभ्यास हो जाने पर बालक बिना देखे भी इस कार्य को सफलतापूर्वक कर सकता है।

(३) इसी प्रकार श्रवणेन्द्रिय, स्वादेन्द्रिय तथा घ्राणेन्द्रिय को साधने की व्यवस्था मान्टेसोरी ने की है। इनके लिये भी उसने शिक्षोपकरणों का निर्माण किया। नमक, चीनी, चाय आदि की शीशियां स्वादेन्द्रिय साधने के लिये होती हैं। श्रवणेन्द्रिय को साधने के लिये विभिन्न ध्वनियों की घंटियों का प्रयोग किया जाता है। घ्राणेन्द्रिय को साधने के लिये कुछ ऐसी बोतलें प्रयोग में लाई जाती हैं जिनमें गन्ध देने वाली वस्तुएं तथा द्रव भरे रहते हैं। इनके द्वारा बालकों को वस्तुओं तथा तरल पदार्थों की गन्ध से परिचित कराया जाता है।

उक्त विवरण से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि मान्टेसोरी ने समस्त ज्ञानेन्द्रियों के विकास पर बल दिया है। उसकी शिक्षा-योजना ज्ञानेन्द्रियों के विकास पर ही आधारित है। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर बल देते हुए मान्टेसोरी ने कहा है, "ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा-सम्बन्धी क्रियाओं का यह ध्येय नहीं है कि बालकों को विभिन्न वस्तुओं के रूप, वर्ण और गुण का ज्ञान हो जाय वरन् उनसे हम उनकी ज्ञानेन्द्रियों को परिष्कृत करना चाहते हैं। इनसे उनकी बुद्धि का विकास होता है " इनसे बुद्धि के विकास में वैसी ही सहायता मिलती है जैसी व्यायाम से शारीरिक विकास में। अतएव ज्ञानेन्द्रियों की साधना एक प्रकार का बौद्धिक व्यायाम है।

ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के लिए बालकों को वस्तुओं की तुलना करने तथा उनको क्रम से लगाने का अवसर दिया जाता है। इससे बालक वस्तुओं का भारीपन, हल्कापन, समानता, भिन्नता, बड़ापन तथा छोटापन मालूम करते हैं। इसी आधार पर वे वस्तुओं का वर्गीकरण भी करते हैं। शिक्षा-यन्त्रों से बालकों को विभिन्न आकारों का भी ज्ञान मिल जाता है।

शिक्षा-यन्त्र अथवा शिक्षोपकरण (Didactic Apparatus)—मान्टेसोरी ने ज्ञानेन्द्रियों के विकास के लिये जिन वस्तुओं का प्रयोग किया वे शिक्षोपकरण तथा मान्टेसोरी सामग्री के नाम से विख्यात है। इनमें कुछ निम्नांकित हैं :—

(१) छोटे बड़े बेलनाकार (Cylinder)— इनको बालक क्रमानुसार लगाने का प्रयत्न करता है।

(२) छोटे बड़े आकार के घन (Cubes)— इनसे बालक अपनी इच्छानुसार खेलता है और इन्हें अपनी इच्छानुकूल सजाता है।

(३) भिन्न-भिन्न माप के लकड़ी के गुटके तथा एक छेदों वाला तख्ता— बालक गुटकों को छेदों में बैठाने का प्रयत्न करता है।

(४) छोटे-बड़े लकड़ी के आयताकार टुकड़े— बालक इनसे सीढ़ी बनाता है।

(५) विविध प्रकार के रंगों की टिकिया— इनसे बालक रंगों को पहिचानता है।

(६) लकड़ी के अक्षर— इन अक्षरों पर हाथ फेर कर बालक अक्षर का ज्ञान प्राप्त करता है। अक्षरों को मिलाकर वाक्य बनाना सीखता है तथा लिखना पढ़ना सीखता है।

(७) विभिन्न चिकनी तथा खुरदरी वस्तुएँ, भिन्न-भिन्न भार की लकड़ियाँ तथा टिकियाँ— इनके स्पर्श से बालक को भार, चिकनापन तथा खुरदरापन का ज्ञान मिलता है।

शिक्षोपकरणों की कोई सीमा निश्चित नहीं है। अन्य कई प्रकार के शिक्षोपकरण बनाये जा सकते हैं और बालकों की सुविधा के अनुसार प्रयोग में लाये जा सकते हैं। किन्तु सबकी विशेषता यही होनी चाहिये कि एक समय में एक प्रकार का उपकरण केवल एक ही ज्ञानेन्द्रिय को सक्रिय करे। मान्टेसोरी का कथन है कि जब एक इन्द्रिय काम में आ रही हो तो दूसरी इन्द्रियों के प्रयोग से बालक को बचाना चाहिये।

(२) भाषा-शिक्षण (Language Teaching)— मान्टेसोरी का कथन है कि बालकों को पहले लिखना सिखाना चाहिए और लिखना सीखते-सीखते वे स्वयं पढ़ना सीख जावेंगे। उनका विचार है कि बालक के हाथ की मांसपेशियाँ शिक्षोपकरणों के खेलते-खेलते सध जाती हैं और वह कलम अथवा पेन्सिल पकड़ना

सीख जाता है अतः उसकी भाषा की शिक्षा लिखने से प्रारम्भ होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त पढ़ने से लिखना सरल है क्योंकि पढ़ने में शुद्ध उच्चारण तथा लय की आवश्यकता पड़ती है और प्रारम्भ में बालक शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता। लिखने में कोई ऐसी कठिनाई नहीं पड़ती। अतः बालक लिखना शीघ्र सीख जाता है। लिखना सिखाने के हेतु बालक को लकड़ी अथवा गत्ते के बने अक्षरों पर उंगली फेरने को कहा जाता है। उंगली फेरते-फेरते बालक की उंगलियां सध जाती हैं और वह अक्षर सरलता से लिख लेता है। अक्षर पर उंगली फेरने तथा अक्षर लिखने के समय शिक्षिका अक्षर का उच्चारण करती है। इस प्रकार बालक अक्षर की ध्वनि से परिचित हो जाता है और लिखने के कुछ अभ्यास के पश्चात् वह स्वयं ध्वनि का उच्चारण भी करने लगता है। इस प्रकार बालक बिना सिखाए पढ़ना सीख जाता है। लिखने-पढ़ने के साथ-साथ बालक को कुछ अंकगणित का भी ज्ञान कराया जाता है। यह कार्य भी बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से होता है। अंकगणित सिखाने के लिये कई शिक्षोपकरणों का प्रयोग किया जाता है। इनकी सहायता से बालक बड़ी आसानी से गिनना, जोड़ना, घटाना आदि सीख जाता है। स्वयं शिक्षा के सिद्धान्त के आधार पर वह अंकगणित का भी ज्ञान ग्रहण करता है।

मॉन्टेसोरी विद्यालय (Montessori School)

मॉन्टेसोरी पद्धति में बच्चों के लिये घर और विद्यालय एक समान होते हैं। इसलिये इस पद्धति में विद्यालय को 'बच्चों का घर' कहा जाता है। 'बाल घर' में बच्चों को खेलने-कूदने तथा अपने व्यक्तित्व को विकसित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। 'बाल-घर' में एक बड़ा कमरा और कई छोटे कमरे होते हैं। बड़ा कमरा अध्ययन के लिये और छोटे कमरे अन्य कार्यों के लिये प्रयोग में लाये जाते हैं जैसे खाना बनाना, व्यायाम करना, हाथ का काम करना इत्यादि। 'बाल घर' में एक उद्यान होता है जिसमें बच्चे खेलते तथा कार्य करते हैं। मॉन्टेसोरी ने बच्चों के स्कूल की सामग्री में एक आवश्यक सुधार किया। पहिले स्कूल में काम आने वाली प्रत्येक वस्तु बड़ों की सुविधा को ध्यान में रखकर एकत्रित की जाती थी। मॉन्टेसोरी ने इसका विरोध किया और 'बाल घर' में सब समान बच्चों के अनुकूल ही इकट्ठा किया। उनका कथन है कि जब संस्था बच्चों की है तो बच्चों की सुविधाओं को ध्यान में रखकर वस्तुएं एकत्रित करनी चाहियें। अतएव 'बाल घर' में मेज, कुर्सी, खिलौने आदि बच्चों की आयु के अनुरूप छोटे-छोटे होते हैं। इन्हें बच्चे आसानी से काम में लाते हैं, सजाते हैं तथा इधर उधर ले जाते हैं। अध्ययन के कमरे में छोटे-छोटे सन्दूक होते हैं जिनमें वे शिक्षोपकरण रखते हैं। श्याम-पट पर भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्र बनाते हैं।

'बाल-घर' में बच्चे सब काम अपने आप करते हैं। वे अपना हाथ मुंह स्वयं धो

लेते हैं, बालों में कंघी कर लेते हैं, कपड़े पहिनते हैं, झाड़ू लगाते हैं, भोजन परोसते हैं, तथा अन्य काम करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि बच्चों के सामने कोई ऐसा काम नहीं रहता जिसे वे स्वयं नहीं कर पाते या करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। इस प्रकार के कार्यों से बालकों में स्फूर्ति तथा क्रियाशीलता बढ़ती है और उनमें आत्म-निर्भरता तथा स्वावलम्बन के गुण पैदा होते हैं। उन्हें काम कराने के लिये बड़ों का मुँह नहीं ताकना पड़ता है।

मान्टेसोरी विद्यालय में बालकों को स्वतन्त्र रूप से खेलने तथा कार्य करने का अवसर दिया जाता है। शिक्षक अथवा शिक्षिका उनके कार्यों मे हस्तक्षेप नहीं करती। शिक्षिका का कार्य केवल पथ-प्रदर्शन और निरीक्षण करना है। बालकों के लिये न कोई कार्य पहले से निर्धारित किया जाता है और न ही कोई आदेश दिया जाता है। दूसरों के बताये हुए कार्यों को करने में बालक को कोई उत्साह नहीं मिलता। उन्हें अपनी चेष्टाओं के प्रदर्शन में ही आनन्द तथा सन्तोष मिलता है। "जब जब बालक और उसकी क्रियाशीलता के बीच में कोई वयस्क पुरुष आ जाता है और कार्य करने के लिये आदेश देने लगता है अथवा स्वयं कार्य करने लगता है, तब तब बालक के विकास में बाधा पहुँचती है।" 'बाल घर' में कोई बँधे हुए नियम नहीं होते। अनुशासन के लिये कोई दण्ड नहीं दिया जाता। यहां कोई समय-सारिणी नहीं होती। बालक पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला जाता। विनय और शिक्षा दोनों ही क्षेत्रों में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाती है।

मॉन्टेसोरी पद्धति के गुण

(१) मान्टेसोरी ने अपनी पद्धति को वैज्ञानिक बताया है। यह ठीक भी है, क्योंकि यह पद्धति अनुभव और परीक्षण पर बल देती है।

(२) यह पद्धति अल्पायु बालकों के लिये अत्यन्त ही उपयोगी है। छोटे-छोटे बालकों को शिक्षोपकरणों से खेलने में बड़ा आनन्द मिलता है और वस्तुओं के प्रयोग से उनकी ज्ञानेन्द्रियां सध जाती हैं।

(३) लेखन-कला सिखाने के लिये यह पद्धति अद्वितीय है। लिखना-पढ़ना तथा अङ्कगणित बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से सिखाया जाता है। लिखने और पढ़ने का अभ्यास साथ-साथ दिया जाता है, अतः बालक बिना सिखाये पढ़ना सीख जाता है।

(४) इस पद्धति की यह भी एक बड़ी विशेषता है कि बालक अपना सब काम स्वयं कर लेते हैं। अपनी रुचि के अनुसार कार्य करते हैं। अपनी गति से शिक्षा प्राप्त करते हैं और स्वच्छता आत्म-निर्भरता आदि गुणों को ग्रहण करते हैं। स्वयं-शिक्षा, आत्म-निर्भरता तथा आत्म-विश्वास उसके स्वाभाविक विकास में सहायक होते हैं।

(५) इस पद्धति के अनुसार स्वतन्त्र वातावरण में बालक के व्यक्तित्व का विकास होता है। व्यक्तित्व के विकास पर अत्यधिक बल देने के कारण इस पद्धति ने शिक्षा में

व्यक्तिवादी भावना को प्रबल किया है ।

(६) मान्टेसोरी पद्धति के प्रयोगिक कार्यों का सामाजिक महत्त्व है । व्यावहारिक क्रियाओं द्वारा बालकों में व्यावहारिकता तथा सामाजिकता के गुणों का विकास किया जाता है ।

मान्टेसोरी पद्धति के दोष

यद्यपि यह पद्धति साधारणतया लाभदायक है किन्तु दोषों से रहित नहीं है । कई शिक्षा-शास्त्रियों ने इसके दोषों की चर्चा की है । श्री किलपैट्रिक (Kilpatrick) महोदय ने अपनी पुस्तक 'मान्टेसोरी एक्जामिन्ड' (Montessori Examined) में इस पद्धति के दोषों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है । 'श्री विलियम स्टर्न' (William Stern) ने अपनी पुस्तक 'साइकोलाजी आफ अर्ली चाइल्डहुड' (Psychology of Early Childhood) में इस पद्धति को अमनोवैज्ञानिक बतलाया है । कुछ अन्य विद्वानों ने भी इस पद्धति के दोषों की चर्चा की है । इसके कुछ दोष निम्नलिखित हैं :—

(१) मान्टेसोरी पद्धति मे एक समय में केवल एक ही इन्द्रिय से अनुभव करना सिखाया जाता है । इसका तात्पर्य ज्ञानेंद्रियों को पृथक पृथक शिक्षित करने से है । वास्तविक जीवन मे ऐसा नहीं होता । समस्त ज्ञानेंद्रियां प्रतिक्षण एक साथ ही काम किया करती है । इसके अतिरिक्त ज्ञानेंद्रियों को पृथक्-पृथक् शिक्षित करने से 'सामर्थ्य मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) का समर्थन होता है जिसे आज का मनोविज्ञान अस्वीकार करता है । आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मन एक इकाई है वह सम्पूर्ण रूप में विकसित होता है । इन्द्रियों का विकास उसके साथ ही होता है । अतएव ज्ञानेन्द्रियों को पृथक्-पृथक् शिक्षित करना अमनोवैज्ञानिक है । दूसरे मान्टेसोरी का यह विश्वास कि तीन से सात वर्ष तक के बालक में उच्च-कोटि की मानसिक क्रियाओं का अभाव होता है और उसे केवल ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव होते हैं गलत प्रतीत होता है । परीक्षण से यह सिद्ध हो चुका है कि तीन वर्ष के बालक की भी मानसिक क्रियायें होती है । उसमे जिज्ञासा होती है, वह प्रत्येक वस्तु के बारे में जानना चाहता है और कल्पना शक्ति का प्रयोग करता है । अतः केवल ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर्याप्त नही ।

(२) लिखने और पढ़ने की दृष्टि से मान्टेसोरी-पद्धति वैज्ञानिक है, परन्तु मनोवैज्ञानिक नहीं । इस पद्धति के अनुसार अक्षर और शब्द से चलकर बालक वाक्य का ज्ञान प्राप्त करता है, परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान किसी वस्तु के भागों को पृथक पृथक करके ज्ञान देने में विश्वास नहीं करता । 'गेस्टाल्ट मनोविज्ञान' (Gestalt Psychology) के अनुसार बालक को सम्पूर्ण वस्तु का ही ज्ञान कराना चाहिए ।

(३) इस पद्धति में शिक्षोपकरणों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। स्टर्न महोदय ने शिक्षोपकरणों की कड़ी आलोचना की है। उनका कथन है कि शिक्षोपकरणों में बौद्धिक विकास एकांगी होता है। इनमें बालक की आत्माभिव्यक्ति का क्षेत्र बहुत कम है। इसके अतिरिक्त ये कुछ विशेष क्रियाओं को करने के लिये बाध्य करते हैं जिन का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। ये क्रियायें सामाजिक रुचियों से भी दूर होती है। सच्ची शिक्षा वही है जो यथार्थ जीवन को परिस्थितियों से परिचित करावे। पुनः शिक्षोपकरण इतने महगे होते हैं कि इनकी व्यवस्था प्रत्येक स्कूल में नहीं की जा सकती।

(४) इस पद्धति में बालक की स्वतन्त्रता सीमित होती है। उसे दिये हुए शिक्षोपकरणों से खेलने के लिये विवश किया जाता है। वह न तो किसी अन्य बालक से बातचीत कर सकता है और न ही किसी के साथ खेल सकता है। इसके अतिरिक्त अकेले चुपचाप काम करने का यह परिणाम होता है कि बालक स्वार्थी तथा अभिमानी हो जाता है।

(५) यह पद्धति सहकारिता तथा सामाजिकता की भावना की अवहेलना करती है। दूसरे शब्दों में इस पद्धति द्वारा बालक में सामाजिक तथा सामूहिक कार्य करने की भावना उत्पन्न नहीं होती। यह इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष है। आजकल जब कि सामाजिकता तथा सहकारिता पर इतना अधिक बल दिया जा रहा है तब यह पद्धति केवल 'वैयक्तिक विकास' का राग अलापती है। फिर इसका प्रयोग कैसे लाभकारी हो सकता है ?

(६) मान्टेसोरी-पद्धति में वास्तविक खेलों का सर्वथा अभाव है। इस पद्धति में कल्पनात्मक तथा क्रियात्मक खेलों का कोई स्थान नहीं है। मान्टेसोरी का कथन है कि बालक की कल्पना को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए। वे बालक को कथा, कहानी, नाटक तथा कलात्मक भावनाओं से दूर रखना चाहती हैं क्योंकि उनके विचार से व्यावहारिक जीवन की शिक्षा के लिये इनका कोई महत्त्व नहीं है। यह उनकी भूल है। कल्पना का बालक के विकास में बड़ा महत्त्व है। कल्पना के सहारे बालक अपनी अनेक मूल-प्रवृत्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति कर लेता है। इन इच्छाओं की पूर्ति के अभाव में बालक का विकास कुण्ठित हो जाता है। कल्पना के महत्त्व को देखते हुए मान्टेसोरी पद्धति दोषपूर्ण प्रतीत होती है।

(७) इस पद्धति में समय बहुत नष्ट होता है। जो ज्ञान बालक को सामान्यतया एक महीने में दिया जा सकता है इस पद्धति के द्वारा वह उसे एक साल में प्राप्त करता है। ज्ञानेन्द्रियों के अभ्यास मन्द-बुद्धि बालकों के लिये तो ठीक है किन्तु वे साधारण बालक के लिये निरर्थक हैं। साधारण बालक से ये अभ्यास कराना समय की हत्या करना है क्योंकि घर और बाहर की सैकड़ों वस्तुओं को देखकर अथवा ... करके उसकी इन्द्रियां पहले ही सध जाती हैं।

(८) इस पद्धति मे बालक से ऐसे कार्य कराये जाते हैं जो उसकी ग्रायु के ग्रनुकूल नहीं होते। बालकों को व्यस्कों के कार्य सिखाना ग्रमनोवैज्ञानिक है। इस पद्धति मे ग्रध्यापक का भी कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। शिक्षण पूर्ण रूप से शिक्षोपकरणों से बँधा रहता है। वह ग्रपनी कल्पना के सहारे न कोई यन्त्र बना सकता है ग्रौर न ही कोई दूसरी विधि प्रयोग में ला सकता है।

उक्त दोषों के होते हुए भी ग्रपनी विशेषताग्रो के कारण यह पद्धति ग्रत्यन्त ही सफल समझी जाती है ग्रौर पाश्चात्य देशों में इसका बड़ा प्रचार है। छोटे बच्चों को शिक्षा के लिये यह पद्धति ग्रद्वितीय है। इस पद्धति मे ग्रब तक के सभी शिक्षा-शास्त्रियो, जैसे रूसो, पेस्टालाजी, फ्रोबेल ग्रादि के शिक्षा-सिद्धान्तों का समावेश है। इस पद्धति ने सभी शिक्षा-शास्त्रियो के सिद्धान्तो को कार्य रूप मे परिणित कर दिया है। भारतवर्ष में भी मान्टेसोरी विद्यालयों का कई स्थानो पर सचालन किया जा रहा है। परन्तु विद्वानों का विचार है कि यह पद्धति ग्रपने मूल रूप मे काम में नहीं लाई जा सकती। कुछ सुधार करने के पश्चात् यह पद्धति ग्रौर भी उपयोगी बनाई जा सकती है। ग्रतः इस पद्धति में ग्रनुभव के ग्राधार पर सुधार कर लेना चाहिए।

प्रश्न

(१) माटेसोरी पद्धति के ग्रंतरंग सिद्धान्तो का विवेचन कीजिए। भारतीय शालाग्रो मे किस सीमा तक उनका ग्रवलंब किया जा सकता है?

(२) मान्टेसोरी पद्धति के गुण-दोषों का विवेचन कीजिए।

(३) मान्टेसोरी पद्धति को मनोवैज्ञानिक पद्धति क्यो कहा जाता है? उसके प्रधान सिद्धान्त क्या है?

(४) मान्टेसोरी पद्धति मे शिक्षक का क्या स्थान है?

(५) 'ग्राधुनिक शिक्षा ग्रध्यापन की ग्रपेक्षा सीखने पर बल देती है।' फ्रोबेल ग्रौर मान्टेसोरी के सिद्धान्तो के सम्बन्ध से इस कथन की समालोचना कीजिए।

(६) बालकों की शिक्षा के हक मे श्रीमती मान्टेसोरी के कार्य का मूल्यांकन कीजिए।

अट्ठारहवाँ अध्याय

डाल्टन पद्धति (Dalton Method)

भूमिका—बीसवी शताब्दी की शिक्षा में व्यक्तिवाद के प्रभाव के फल स्वरूप एक और पद्धति का निर्माण हुआ जो 'डाल्टन-पद्धति' (Dalton method) के नाम से प्रसिद्ध है। डाल्टन-पद्धति की योजना मिस हेलन पार्कहर्स्ट (Miss Helen Parkhurst) ने बनाई थी। मिस हेलन पार्कहर्स्ट कई कक्षाओं के बालकों के शिक्षण के लिए उत्तरदायी थीं। वे सभी बालकों को एक साथ नहीं पढ़ा सकती थी। इसलिये कुछ को काम दे देती थीं और कुछ को पढ़ा देती थीं। इस प्रकार उन्होंने सन् १६११ में एक नवीन योजना का निर्माण किया। मिस पार्कहर्स्ट ने डाक्टर मान्टेसोरी के साथ कुछ समय तक काम किया था। उनका भी यह विश्वास हो गया था कि व्यक्तिगत भिन्नता को ध्यान में रखकर दी जाने वाली शिक्षा अधिक उपयोगी है। अतः वे भी व्यक्तिगत योग्यताओं के आधार पर शिक्षा देने के पक्ष में थीं। इसलिये उन्होंने मान्टेसोरी पद्धति की मूल बातों को स्वीकार करके अपनी शिक्षा योजना तैयार की उन्होंने अपनी इस पद्धति के साथ अपना नाम जोड़ देना ठीक नहीं समझा इसलिये इस पद्धति के साथ उस स्थान का नाम जोड़ दिया गया है जहाँ पर इस पद्धति का सर्वप्रथम प्रयोग हुआ था। इस योजना का सर्वप्रथम प्रयोग मैसेच्यूसेट्स (Massachusetts) प्रान्त के डाल्टन (Dalton) नामक नगर के हाई स्कूल में हुआ था। अतः यह योजना डाल्टन-पद्धति (Dalton Method, के नाम से प्रसिद्ध हुई। मिस पार्कहर्स्ट ने अपनी इस पद्धति की विशेषताओं का विवेचन अपनी पुस्तक 'डाल्टन पद्धति द्वारा शिक्षा' (Education on the Dalton Plan) में किया है। उन्होंने इस पद्धति को विशेष नियमों तथा बन्धनों से नहीं जकड़ा ताकि भिन्न-भिन्न देशों के लोग इस पद्धति को अपने देश की आवश्यकता तथा अवस्थानुकूल प्रयोग में ला सकें।

डाल्टन पद्धति का प्रयोजन

मिस पार्कहर्स्ट ने अपने समय की प्रचलित शिक्षा के दोषों को दूर करने के लिये डाल्टन पद्धति का निर्माण किया था। प्रचलित शिक्षा शिक्षक-प्रधान थी। उसमें बालक का कोई स्थान नहीं था उसे अपने विकास की स्वतन्त्रता नहीं थी। उसे हर समय शिक्षक की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता था। दूसरे शब्दों में शिक्षा में शिक्षक का स्थान प्रमुख तथा बालक का स्थान गौण था। बालकों की व्यक्तिगत भिन्नता पर तथा उनके मनोविकास पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। प्रत्येक बालक को एक ही प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। कुशाग्र-बुद्धि बालकों को तीव्र गति से बढ़ने का अवसर नहीं मिलता था और मन्दमति बालक को अपनी मन्द-गति से चलने की सुविधा नहीं

थी। शिक्षा नितान्त नीरस थी। स्कूल का वातावरण कठोर तथा अमानुषिक था। स्कूल जाने में बालक घबराते और रोते थे। यद्यपि रूसो पेस्टालाजी, हरबार्ट आदि शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा मे अनेक प्रकार के सुधार किये थे तथापि अधिकाँश विद्यालयों में 'दण्डवादी-प्राचीन-पंथियों' का साम्राज्य था। मिस पार्कहर्स्ट ने उक्त प्रकार की अमानुषिक शिक्षा का अपनी डाल्टन-पद्धति द्वारा अन्त करने का प्रयत्न किया। उन्होंने शिक्षा को विद्यार्थी प्रधान बनाने की आवश्यकता पर बल दिया और अपनी डाल्टन-पद्धति का उद्देश्य बालक को स्वतन्त्र वातावरण मे अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर देना बतलाया।

यह पद्धति शिक्षा के पाठ्य-क्रम का पुनर्संगठन नहीं करती वरन् स्कूल व्यवस्था तथा शिक्षा संगठन का एक नया रूप प्रस्तुत करती है। इस पद्धति के अनुसार चलने पर विद्यालयों का वातावरण सरस तथा रोचक हो जाता है। इस पद्धति के प्रयोजन के सम्बन्ध मे कुमारी पार्कहर्स्ट ने लिखा है— "The aim of Dalton plan was to create a new type of educational society by putting boys and girls under entirely different conditions of living from those provided in the ordinary class-room, and to reorganise the community life of the school."* इस प्रकार डाल्टन पद्धति विद्यालयों में एक नवीन तथा रोचक वातावरण प्रस्तुत करती है जिसमें स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करके बालक रुचिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस पद्धति तथा मान्टेसोरी पद्धति में बहुत कुछ समानता है। मान्टेसोरी पद्धति शिशुओं के लिये है और यह पद्धति आठ से बारह वर्ष तक के बालकों के लिये है।

डाल्टन पद्धति के मूल सिद्धान्त

इस पद्धति के मूल सिद्धान्त निम्नलिखित हैं:—

(१) बालक को प्रधानता।
(२) स्वशिक्षा की व्यवस्था।
(३) पूर्ण स्वतन्त्रता।
(४) पथ-प्रदर्शक के रूप में शिक्षक।
(५) सामूहिक शिक्षा।

(१) बालक की प्रधानता—बीते हुए युग की शिक्षा-संस्थाओं में शिक्षक का स्थान महत्त्वपूर्ण था। वह बालक के जीवन तथा मस्तिष्क का निर्माता समझा जाता था। शिक्षा में बालक का कोई स्थान नहीं था। उसकी व्यक्तिगत भिन्नता तथा

* Miss Helen Parkhurst in 'The New Era', October, 1930, page 105.

आवश्यकता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। सब बालकों को एक साथ एक ही प्रकार से पढ़ाया जाता था और यह आशा की जाती थी कि सब एक ही गति से प्रगति करें। बालक की शिक्षा का उत्तरदायित्व शिक्षक के ऊपर था। बालक के स्कूल जाने का केवल यही प्रयोजन था कि शिक्षक जो कुछ कहे उसे ग्रहण करे और उसकी आज्ञाओं का पालन करे। "He is in the school to be taught and spooned rather to do things for himself——— ———" इस प्रकार बालकों को सामूहिक रूप में पढ़ाया जाता था और उन्हें व्यक्तिगत रूप से शिक्षा ग्रहण करने का अवसर नहीं दिया जाता था। इस प्रकार के शिक्षण के विरोध स्वरूप डाल्टन-प्रणाली का जन्म हुआ। डाल्टन-प्रणाली सामूहिक शिक्षण के स्थान पर व्यक्तिगत अध्ययन पर बल देती है। यह पद्धति विभिन्न मनोविकास के बालकों को अपनी गति से बढ़ने का अवसर देती है और बालक अपनी योग्यता और बुद्धि के अनुसार आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है। बालक के ऊपर अपनी शिक्षा का उत्तरदायित्व आ जाता है और इस उत्तरदायित्व को निभाने का वह भरसक प्रयत्न करता है। (He proceeds at his own natural rate. His progress is real and solid as it is the result of his own efforts and learning.) बालक की स्वयम्-क्रिया तथा प्रयास से उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायता मिलती है। उक्त विवरण से स्पष्ट है कि यह पद्धति शिक्षा में बालक को प्रधानता देती है। बालक शिक्षा का केन्द्र समझा जाता है।

(२) स्व-शिक्षा की व्यवस्था— साधारण कक्षा-अध्यापन प्रणाली में बालक को यह स्वतन्त्रता नहीं होती कि वह जितनी देर चाहे एक विषय अध्ययन कर सके। ज्योंही उसकी रुचि किसी विषय में उत्पन्न होती है त्योंही समय पूरा हो जाता है और दूसरे विषय का घन्टा आरम्भ हो जाता है। (The school bells tear him away at an appointed hour and chain him pedagogically to another subject and another teacher.) यह शिक्षा रुचि और स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। शिक्षा-विशेषज्ञ स्व-शिक्षा पर बल देते हैं। डाल्टन-पद्धति द्वारा स्व-शिक्षा के सिद्धान्त की पूर्ति होती है। इस पद्धति के अनुसार बालक जितनी देर तक चाहे एक विषय का अध्ययन कर सकता है। वह बिना किसी निर्देश के स्वयं कार्य करता रहता है। दूसरे शब्दों में वह शिक्षक के निर्देश तथा सहायता पर निर्भर नहीं रहता। शिक्षक बालक को उसकी आवश्यकता के अनुसार कार्य बता देता है जिसे बालक स्वयं अपने उद्योग से पूर्ण करता है। स्वाध्याय के लिये बालक को सुविधाएं दी जाती हैं। प्रयोगशालाओं में सब प्रकार की सामग्री तथा पुस्तकें उपस्थित रहती हैं जिनसे बालक अपनी आवश्यकता तथा रुचि के अनुकूल लाभ उठाता है और अपने कार्य को स्वतः पूर्ण करता है। इस प्रकार बालक स्वयम् अपने

प्रयत्न से अपनी गति के अनुसार शिक्षा प्राप्त करता है। इससे उसमें आत्म-निर्भरता तथा आत्म-विश्वास की वृद्धि होती है। इस पद्धति के अनुसार बालक जब अपने कार्य का ठेका लेता है तो वह यह वचन देता है कि वह कार्य को पूरा करने के लिए न किसी को सहायता देगा और न किसी से सहायता लेगा। उसे इतनी स्वतन्त्रता होती है कि वह आवश्यकता पड़ने पर अपने गुरु तथा सहपाठियों से सम्मति ले सकता है। किन्तु कार्य उसे स्वयं ही पूरा करना पड़ता है।

(३) *पूर्ण स्वतन्त्रता*— *डाल्टन-पद्धति में बालकों* को अपनी रुचि, योग्यता तथा गति के अनुसार कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। वह अपनी योग्यतानुसार चाहे जिस क्रम से तथा चाहे जिस गति से कार्य कर सकता है। समय-सारिणी के बन्धन से वह मुक्त रहता है। जितनी देर चाहे एक विषय का अध्ययन कर सकता है। "It aims at giving to the older child that freedom for self-development which has proved so valuable in the school life of the 'Infant' while at the same time ensuring that he shall master thoroughly the academic work required by the curriculum of the school."* इस पद्धति में इस बात की सुविधा है कि जब कोई तीव्र-बुद्धि बालक अपने कार्य को समाप्त कर लेता है तो उसे अगला कार्य मिल जाता है और यदि कोई मन्द-बुद्धि बालक अपने कार्य को समय के अन्दर समाप्त नहीं कर पाता तो उसे अधिक समय दे दिया जाता है। इस प्रकार बालक अपनी इच्छा, समय, गति तथा स्थिति के अनुकूल कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है। जब बालक कार्य में लगा रहता है तो अनुशासन की समस्या ही नहीं उठती। बालक स्वानुशासन सीखते हैं। यह डाल्टन पद्धति की एक बड़ी विशेषता है। इस विधि में बालकों की व्यक्तिगत भिन्नताओं तथा आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रक्खा जाता है। यही इस पद्धति का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है।

(४) पथ-प्रदर्शक के रूप में शिक्षक—यद्यपि प्रयोगशालाओं में विभिन्न विषयों के शिक्षक उपस्थित रहते हैं किन्तु वे बालकों के कार्य तथा अध्ययन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते। अतः डाल्टन पद्धति के नियमानुकूल चलने वाले विद्यालयों में शिक्षक केवल पथ-प्रदर्शक के रूप में रहता है। शिक्षक प्रत्येक बालक को कार्य का ठेका देता है और उससे सम्बन्धित आवश्यक निर्देश देता है। वह केवल यही नहीं बताता कि कितना कार्य करना है वरन् कैसे काम करना है, किन-किन पुस्तकों को पढ़ना है, किन-किन वस्तुओं का प्रयोग करना है, इत्यादि बातें भी बताता है। इस प्रकार शिक्षक बालक को सही रास्ते पर डाल कर उसे कार्य करने के लिए छोड़ देता है। कार्य करते समय यदि कोई कठिनाई उपस्थित होती है तो शिक्षक बालक को आवश्यक

* Aims of Dalton Plan by Miss Bella Rennie.

सहायता प्रदान करता है। यदि सभी बालक कठिनाई का अनुभव करते हैं तो उनकी कठिनाइयों का निराकरण सामूहिक रूप में किया जाता है। जहाँ तक सम्भव होता है शिक्षक उनके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता। इससे बालकों में स्वावलम्बन आ जाता है।

(५) सामूहिक शिक्षा— यद्यपि सामूहिक शिक्षा के प्रति विद्रोह के रूप में वैयक्तिक रूप से शिक्षा प्राप्ति के लिये डाल्टन पद्धति का निर्माण हुआ है तथापि इसमें सामूहिक रूप में काम करने अथवा अध्ययन करने की नीति का खण्डन नहीं होता। सहयोग से काम करना सीखना शिक्षा का एक आवश्यक अंग है। इसलिये मिस पार्कहर्स्ट ने अपनी पद्धति में सामूहिक शिक्षा को भी स्थान दिया है। पाठशाला में पहुँचने पर एक बार सभी विद्यार्थियों का सामूहिक रूप में मिलना आवश्यक है। काम प्रारम्भ करने के पहले विद्यालय के समस्त विद्यार्थी किसी एक स्थान पर एकत्रित होते हैं। सायंकाल भी सभी विद्यार्थी विचार-विमर्श करने के लिये एकत्रित होते हैं। इस सभा में वे अपने-अपने विचार तथा अनुभव प्रकट करके लाभ उठाते हैं। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से कार्य करते समय भी आवश्यकता पड़ने पर वे दूसरों की सम्मति ले सकते हैं। कठिनाइयों का निराकरण सामूहिक रूप में किया जाता है। इस प्रकार बालकों को सहयोग से काम करने का अवसर मिल जाता है और उनमें सहकारिता तथा सामाजिकता की भावना जागृत हो जाती है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि डाल्टन पद्धति कोई नई शिक्षण-विधि नहीं, वरन शिक्षा संगठन का नया रूप है।

डाल्टन पद्धति का कार्य-क्रम

डाल्टन पद्धति को पूर्ण रूप समझने के लिये इसकी कार्य-प्रणाली से परिचित होना आवश्यक है। इस पद्धति की कार्य-प्रणाली में निम्नलिखित बातें प्रमुख हैं :—

(१) पाठ का ठेका (Contract)

(२) निर्दिष्ट पाठ (Assignment)

(३) इकाई (Unit)।

(४) प्रयोगशालाएँ (Laboratories)।

(५) सम्मेलन तथा विमर्श-सभा (Assembly and Conferences)।

(६) प्रगति-सूचक रेखा-चित्र। (Graph)

(१) पाठ का ठेका (Contract)—इस पद्धति में शिक्षक को सभी वर्ष के कार्य [illegible] की कार्य-रेखा तैयार करनी होती है [illegible] [illegible] [illegible]

करनी पड़ती है कि वह काम अवधि के अन्दर ही पूरा कर देगा। इस प्रकार बालक काम को ठेके के रूप में स्वीकार करता है। इस ठेके को निभाने की बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। वह अपनी सुविधानुसार समय के अन्दर कार्य को पूर्ण करता है।

(२) निर्दिष्ट पाठ (Assignment)— प्रत्येक मास के कार्य को दिनों के अनुसार छोटे-छोटे भागों में बांटा जाता है। एक सप्ताह के कार्य को निर्दिष्ट पाठ (Assignment) कहते हैं। निर्दिष्ट पाठों के सम्मिलित रूप को ठेका कहा जाता है। महीने भर के निर्दिष्ट पाठों को बताना और बालकों को लिखवा देना शिक्षक का काम है। इन निर्दिष्ट पाठों को बनाते समय बालकों की योग्यता का ध्यान रखना पड़ता है। यदि ऐसा न किया जायगा तो बालक कार्य को पूर्ण न कर सकेंगे।

(३) इकाई (Unit) प्रत्येक निर्दिष्ट पाठ के पाँच भाग किये जाते हैं और प्रत्येक भाग को इकाई (Unit) कहा जाता है। इस प्रकार एक मास के ठेके में चार निर्दिष्ट पाठ और बीस इकाइयाँ होती हैं। एक इकाई एक दिन का कार्य होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक बालक प्रतिदिन प्रत्येक विषय की इकाई को पूरा कर ले। उसे अपनी गति के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता होती है। वह यदि चाहे तो एक मास के कार्य को दस दिन में पूरा कर सकता है। प्रायः कुशाग्र बुद्धि बालक अपने सब विषयों के एक मास के कार्य को एक मास से पहले पूरा कर लेता है। ऐसी दशा में उसे अगले मास का कार्य दे दिया जाता है। शिक्षक को ध्यान रखना पड़ता है कि प्रत्येक बालक अपने ठेके के अनुसार अपने एक मास के कार्य को उसी महीने में यथासम्भव पूरा कर ले।

(४) प्रयोगशालाएं (Laboratories)— डाल्टन-पद्धति में कक्षाओं के स्थान पर प्रयोगशालाएं होती हैं। प्रत्येक विषय के लिए एक प्रयोगशाला होती है। इस प्रकार विद्यालय में पहली, दूसरी तीसरी कक्षा न होकर हिन्दी की प्रयोगशाला, गणित की प्रयोगशाला, इतिहास की प्रयोगशाला तथा अन्य विषयों की पृथक्-पृथक् प्रयोगशालाएं होती हैं। प्रत्येक प्रयोगशाला में विषय-विशेषज्ञ तथा उस विषय से सम्बन्धित सहायक सामग्री जैसे पुस्तकें, चित्र, रेखाचित्र इत्यादि उपस्थित रहते हैं। प्रयोगशालाओं में प्रत्येक कक्षा के विद्यार्थियों के लिये स्थान निश्चित होते हैं। वहीं पर बैठकर वे अपना काम पूरा करते हैं। भिन्न-भिन्न विषयों के निर्दिष्ट पाठ को पूरा करने के लिये बालक अपनी रुचि तथा आवश्यकतानुसार विभिन्न प्रयोगशालाओं में जाकर अध्ययन करता है। प्रयोगशालाओं में जाने का कोई निश्चित समय नहीं होता।

(५) सम्मेलन तथा विमर्श-सभा (Assemblies)— सम्मेलन तथा विमर्श सभा डाल्टन पद्धति के आवश्यक अंग हैं। प्रातःकाल विद्यालय में आते ही शिक्षक तथा विद्यार्थियों का एक सम्मेलन होता है। इस सम्मेलन में शिक्षक बालकों को आवश्यक सूचनाएं देते हैं। इसके बाद विद्यार्थी अपने ठेके के अनुसार प्रयोगशालाओं

में जाकर कार्य को पूरा करते हैं। सायंकाल विमर्श-सभा होती है। इस सभा में सभी विद्यार्थी उपस्थित होते हैं। वे अपने अनुभव तथा कठिनाइयाँ शिक्षक के सामने रखते हैं। उन पर विचार किया जाता है और समस्याओं का समाधान किया जाता है। सम्मेलन और विमर्श-सभा से विद्यार्थियों को बड़ा लाभ होता है। उक्त समय के अतिरिक्त जब शिक्षक आवश्यक समझे वह सभा कर सकता है।

विद्यालय का समय प्रातःकाल नौ बजे से लेकर सायंकाल चार बजे तक का होता है। एक और दो बजे के बीच में छुट्टी (Recess) होती है। दूसरी सभा के बाद विद्यार्थी खेल-कूद तथा व्यायाम करते हैं।

(६) प्रगति-सूचक रेखा चित्र (Graph)— विद्यार्थी की प्रगति को जानने के लिये 'प्रगति-सूचक रेखा-चित्रों' (Graphs) का प्रयोग किया जाता है। ये ग्राफ तीन प्रकार के होते हैं। एक ग्राफ विद्यार्थी के पास रहता है, जिसमें वह प्रत्येक विषय के पूर्ण किये हुए कार्य को अङ्कित कर देता है। इससे बालक को यह पता लग जाता है कि उसने कितनी इकाइयाँ पूरी करली हैं। दूसरा ग्राफ कक्षा में टंगा रहता है। इसमें विषय-विशेषज्ञ बालक की अपने विषय में की गई प्रगति अंकित करता है। इससे शिक्षक और विद्यार्थी दोनों को पता रहता है कि उनके कार्य की क्या स्थिति है। तीसरा ग्राफ सम्पूर्ण कक्षा का होता है। इसमें कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी का सभी विषयों का कार्य अङ्कित किया जाता है। इससे प्रत्येक विद्यार्थी का काम जाना जा सकता है। किसी भी समय यह मालूम किया जा सकता है कि अमुक विषय में अमुक विद्यार्थी ने कितनी इकाइयाँ पूरी करली हैं और कितनी शेष हैं। इस प्रकार प्रत्येक बालक की प्रगति इस ग्राफ से मालूम हो जाती है। यह ग्राफ शिक्षक के मार्ग-दर्शन के कार्य में बड़ा सहायक होता है। इससे विद्यार्थियों के कार्य का तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त करके बालकों का मार्ग-दर्शन किया जा सकता है। बालकों को कार्य समाप्त करने के लिये उत्साहित किया जाता है। जिस विषय में बालक कमजोर होता है उस विषय का शिक्षक बालक पर विशेष ध्यान देता है और उसे आगे बढ़ाने की चेष्टा करता है।

डाल्टन-पद्धति के गुण

(१) जिस प्रकार मान्टेसोरी पद्धति शिशुओं के लिये लाभकारी है उसी प्रकार डाल्टन-पद्धति आठ से बारह वर्ष तक के बालकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। इस पद्धति के अनुसार वैयक्तिक रूप से शिक्षा देने की व्यवस्था की जाती है। बालक अपनी योग्यता, रुचि, शक्ति तथा गति के अनुसार शिक्षा ग्रहण करता है। वह कक्षा-शिक्षण के दोषों से मुक्त हो जाता है और अन्य छात्रों के कारण उसे असुविधा नहीं उठानी पड़ती। उसे न तो दूसरे विद्यार्थियों की तीव्र गति के कारण स्वयं जल्दी करनी पड़ती है और न मन्दबुद्धि सहपाठियों के कारण ठहरना पड़ता है।

(२) इस पद्धति में बालक को पहले से यह मालूम रहता है कि उसे क्या-क्या कार्य करना है। एक बार ठेके का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लेने पर उसे निभाने की उसे चिन्ता रहती है। इससे उसे *उत्तरदायित्व के मूल्य का ज्ञान* होता है। इस लिये वह अपने कार्य को पूरा करने के लिये प्रयत्नशील रहता है। इस पद्धति मे यदि कोई बालक सुस्त रहना चाहे तो नही रह सकता क्योंकि वह जानता है कि उसे निश्चित कार्य करना है। अतः यह पद्धति बालक को पूर्ण रूप से सक्रिय रखती है।

(३) इस पद्धति में विद्यार्थियों को स्व-शिक्षा का अवसर मिलता है। स्व-शिक्षा से उनमें *आत्म-विश्वास, आत्म-निर्भरता स्वावलम्बन आदि गुणों का विकास होता* है। स्व-शिक्षा और आत्म-प्रयत्न से बालक को बड़ा आनन्द मिलता है। यह अनुभव भावी जीवन को प्रभावित करता है।

(४) साधारण कक्षा अध्यापन विधि मे बालक की अनुपस्थिति का उसकी शिक्षा तथा प्रगति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जो कार्य उसकी अनुपस्थिति मे हो चुका है वह फिर नहीं दोहराया जाता है। अतः बालक उस ज्ञान से वंचित रह जाता है। डाल्टन-विधि इस दोष से मुक्त है। इसमें बालक पुनः स्कूल आने पर पिछले काम से आगे काम करना आरम्भ करता है और काम करके वह अपनी कमी को पूरा कर लेता है।

(५) इस पद्धति मे बालक किसी भी विषय का गहन अध्ययन कर सकता है। मान लीजिये कोई कुशाग्र-बुद्धि बालक इतिहास में रुचि रखता है तो उसे ऐसा अवसर मिल जाता है कि वह इतिहास का गहन अध्ययन कर सके, क्योंकि उसे इस विषय की सभी पाठ्य-पुस्तकें, प्रमाण पुस्तकें (Reference books) तथा स्रोत (Sources) प्रयोगशाला में मिल जाते हैं और उनका वह मनमाना अध्ययन कर सकता है। इस प्रकार बालक ज्ञान को स्वयं खोजकर निकालने की ट्रेनिंग प्राप्त करता है। इस ट्रेनिंग का बड़ा महत्व है। इससे बालक मे नेतृत्व शक्ति, व्यावहारिक कुशलता तथा बुद्धि का विकास होता है।

(६) डाल्टन पद्धति मे अनुशासन की समस्या नहीं उठती। बालक स्वयं अपने अपने कार्य में लगे रहते हैं क्योंकि उसमे उनकी रुचि होती है। रुचिकर कार्य में लगा रहने पर बालक किसी और कार्य अथवा शरारत को नही सोचता। स्वतन्त्र वातावरण मे बिना किसी दबाव के वह काम करता रहता है। समय-सारिणी तथा घण्टों का यहाँ पर कोई बन्धन नहीं होता है। बालक का विश्वास किया जाता है और विश्वास की भावना अनुशासन स्थापन मे बड़ी सहायक होती है।

(७) इस पद्धति में अध्यापकों तथा विद्यार्थियों मे परस्पर अच्छा सम्बन्ध रहता है। उनके बीच स्नेह तथा सद्भावना का भाव रहता है। शिक्षक उनके पथ-प्रदर्शक

तथा मित्र के रूप में रहता है। वह प्रत्येक बालक को जान लेता है और आवश्यकतानुसार उसकी सहायता करता है।

(८) इस पद्धति मे बालक के सर पर परीक्षा का भूत सवार नहीं रहता। वर्ष भर का ठेका पूर्ण कर लेने के पश्चात् वह नई कक्षा में चढ़ा दिया जाता है। शिक्षक का काम भी सरल हो जाता है। वह ग्राफ से बालक की प्रगति को ठीक-ठीक जान लेता है। उसे न परीक्षा लेनी पड़ती है और न अङ्क देने पड़ते हैं। ग्राफ से बालकों में प्रतियोगिता की भावना जागृत हो जाती है और वे अपना काम शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण करने की चेष्टा करते हैं।

डाल्टन पद्धति के दोष तथा कठिनाइयाँ

(१) पुराने शिक्षक जो साधारण कक्षा-अध्यापन विधि के अभ्यासी हैं नये प्रयोगों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। वे अपनी सत्ता को नहीं छोड़ना चाहते और अपने को बालक के पथ-प्रदर्शक के रूप में रखने को तैयार नहीं होते। विद्यार्थियों को स्वतन्त्रता देने तथा शिक्षा का उत्तरदायित्व सौंपने को वे संदिग्ध दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार पुराने शिक्षक इस पद्धति का विरोध करते हैं और इसे कार्य रूप में परिणत करने को तैयार नहीं होते।

(२) इस पद्धति के अनुसार शिक्षा देने में प्रत्येक विषय के लिये एक प्रयोगशाला, विषय-विशेषज्ञ, उपयुक्त पुस्तकों, प्रामाणिक पुस्तकों तथा शिक्षण-यंत्रों की आवश्यकता होती है। इनको जुटाने के लिये पर्याप्त धन की आवश्यकता होती है। अतः जो देश समृद्धिशाली तथा धनी हैं वे ही इस पद्धति का व्यय उठा सकते हैं। भारतवर्ष जैसे निर्धन देश में उपर्युक्त वस्तुओं का जुटाना अत्यन्त ही कठिन है। प्रत्येक पाठशाला के लिये सभी वस्तुओं का जुटाना एक बड़ी समस्या है। जब तक इस समस्या को सफलता पूर्वक न सुलझा लें तब तक कक्षा-विधि को छोड़कर उसके स्थान पर डाल्टन-पद्धति का प्रयोग करना एक बड़ी मूर्खता होगी। उपर्युक्त वस्तुओं के अभाव में यह पद्धति सफल न हो सकेगी। अतः यह पद्धति केवल धनी देशों में काम में लाई जा सकती है, निर्धन देशों में नहीं।

(३) माण्टेसोरी पद्धति की भाँति यह पद्धति भी वैयक्तिक-शिक्षण पर विशेष बल देती है इसलिये इस पद्धति में भी वही दोष है जो माण्टेसोरी पद्धति में है, जैसे बालकों में सामूहिक भावना का अभाव तथा स्वार्थ की भावना का विकास।

(४) इस पद्धति में बालक वैयक्तिक रूप से अध्ययन करते हैं इसलिये अध्यापकों को कम काम करना पड़ता है। इससे अध्यापकों का प्रभाव घट जाता है। इसके अतिरिक्त बालकों पर अध्यापकों के व्यक्तित्व तथा चरित्र की छाप नहीं पड़ती। अतः उनके व्यक्तित्व तथा चरित्र का कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

(५) इस पद्धति की सफलता उचित निर्दिष्ट पाठ पर निर्भर रहती है। अतः इस पद्धति को प्रयोग में लाने के लिये अनुभवी, कुशल तथा योग्य शिक्षकों की आवश्यकता रहती है। किन्तु योग्य शिक्षकों का मिलना साधारणतः कठिन है। इस लिए यह आवश्यक है कि इस पद्धति को प्रयोग मे लाने से पूर्व शिक्षकों को तैयार किया जाय। यदि ऐसा न किया गया तो साधारण स्तर तथा अनुभव के शिक्षक बालकों का उचित रीति से पथ प्रदर्शन न कर सकेंगे।

(६) इस पद्धति में लिखने का काम अधिक रहता है और बोलने का कम। बालकों को मौखिक कार्य के अभ्यास के लिये अवसर नहीं मिलता। बालक के विकास मे मौखिक कार्य का बड़ा महत्त्व है। इसके अभाव में बालकों का समुचित विकास असम्भव सा प्रतीत होता है।

(६) इस पद्धति का एक बड़ा दोष यह है कि विद्यार्थी प्रतिलिपि भी कर सकते हैं। जो विद्यार्थी अपना 'निर्दिष्ट पाठ' तैयार नहीं कर पाते अथवा तैयार करने में असमर्थ होते हैं। वे दूसरे विद्यार्थियों की अभ्यास-पुस्तिका से नकल कर लेते हैं। इसका उनके मानसिक तथा चारित्रिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(८) इस पद्धति में बालक विषय-विशेषज्ञ के अधीन काम करते हैं इस लिये इस पद्धति में 'शिक्षा में समन्वय' अथवा सानुबंध शिक्षा' (Correlation of studies) का सिद्धान्त काम में नहीं लाया जाता है। यह इस पद्धति का एक बड़ा दोष है। इसके अतिरिक्त बहुत से कार्य ऐसे होते हैं जो प्रयोगशाला में नहीं सीखे जा सकते जैसे संगीत, शारीरिक शिक्षा, कविता आदि। इनकी सामूहिक शिक्षा होनी चाहिए।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन द्वारा इन पद्धति के दोष तथा कठिनाइयां दिखलाई गई हैं उनके होते हुए भी इसके इतने लाभ हैं कि इसे अपनाने का प्रयास करना चाहिये। इस पद्धति में शिक्षा के प्रमुख सिद्धान्तों का समावेश है। इस पद्धति में स्थान तथा देश की आवश्यकतानुकूल कुछ परिवर्तन कर लेने से इसकी अनेक कठिनाइयाँ तथा दोष दूर हो जाते हैं। दोष दूर हो जाने पर यह पद्धति सुगमता से अपनाई जा सकती है। यद्यपि धन के अभाव के कारण भारतवर्ष में इसका पूर्ण प्रयोग कठिन है तथापि हम इसको आंशिक रूप में ग्रहण कर सकते हैं। हम अपने यहां के स्कूलों में वैयक्तिक तथा सामूहिक शिक्षा दोनों का प्रबन्ध कर सकते हैं। हमारी पाठशालाओं में कुछ विषयों में तथा कुछ समय तक वैयक्तिक कार्य का प्रबन्ध हो और शेष समय में कक्षा-शिक्षण। भाषा, गणित, इतिहास, संगीत आदि के लिए कक्षा-शिक्षण ही उत्तम है। इस प्रकार हमारे विद्यार्थियों को वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनों प्रकार की शिक्षा का लाभ हो सकता है और हमें अधिक धन की आवश्यकता भी न पड़ेगी। कुछ आवश्यक

पुस्तकों तथा यन्त्रों से ही काम चल जायगा। इस प्रकार इस पद्धति का हमारे विद्यार्थी भी लाभ उठा सकते हैं।

प्रश्न

(१) डाल्टन योजना को संक्षेप में समझाइये और उसके गुण दोषों का विवेचन कीजिए।

(२) डाल्टन योजना के अन्तरंग सिद्धान्तों का विवेचन करो और बतलाओ कि उत्तर प्रदेश की पाठशालाओं में उन्हें समारम्भ करने में क्या कठिनाइयां हैं।

(३) 'डाल्टन-प्रणाली मान्टेसोरी पद्धति का ही परिणाम है।' इस कथन की परीक्षा कीजिए और प्रथम के मुख्य उद्देश्यों को स्पष्ट कीजिए।

(४) असाइनमेंट (Assignment) से क्या लाभ है? इसकी सहायता से स्कूल की ऊंची कक्षाओं में कौन-कौन विषय और कहां तक सफलता से पढ़ाये जा सकते हैं? इसके सफलतापूर्वक काम करने के लिये आप क्या संकेत देंगे?

(५) भारतवर्ष के स्कूलों में डाल्टन प्रणाली के अपनाने में क्या-क्या कठिनाइयां हैं? आप उनको कैसे दूर करेंगे?

(६) 'पाठशाला संघटन की कोई भी योजना सामाजिक एकता के स्थापन में उतना योगदान नहीं करती जितना कि डाल्टन योजना का व्यक्तिगत कार्य। यह पाठशाला की आत्मा तथा वातावरण को परिवर्तित कर देती है और शिक्षा को एक जीवित प्रक्रिया बना देती है।' उपर्युक्त कथन का विवेचन कीजिए।

उन्नीसवां अध्याय

नन (Nunn)

व्यक्तिवादी दर्शन—'टी. पर्सी नन' (T. Percy Nunn) इंगलैंड के प्रसिद्ध शिक्षा वैज्ञानिक थे। वे लन्दन विश्वविद्यालय (London University) में शिक्षा और दर्शन के प्रोफेसर थे। आजकल के 'मानवतावादी शिक्षकों' में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'नन' व्यक्तिवादी थे, अतः व्यक्ति को उन्होंने अपने 'शिक्षा दर्शन' का प्रधान अंग माना और शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास (Development of Individuality) बतलाया। उन्होंने अपने व्यक्तिवादी दर्शन का पूर्ण विवरण अपने ग्रन्थ एजुकेशन : इट्स डाटा एण्ड फर्स्ट प्रिंसिपल्स' (Education : Its Data and First Principles) में दिया है। वे लिखते हैं, "शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक और बालिकाओं के व्यक्तित्व के उस चरम विकास में योग देना है जिसके वे योग्य हैं।" (The Primary aim of all educational effort should be to help boys and girls to achieve the highest degree of individual development of which they are capable) व्यक्तिवाद के समर्थन में उन्होंने आगे लिखा है, "संसार में जो भली वस्तुएं आती हैं वे किसी न किसी व्यक्ति के स्वतन्त्र प्रयत्न से आती हैं। शिक्षा की व्यवस्था इसी सत्य के आधार पर होनी चाहिये।" (Nothing good enters in the human world except through the activities of individual men and women, and educational practice must be shaped to accord with that truth.")* नन महोदय मानव की महान शक्तियों का अधिक आदर करते हैं। वे व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास करते हैं। उनकी शक्ति को महान मानते हैं और उससे किसी और शक्ति को उच्चतर नहीं मानते। वे शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति का उत्तम विकास करना बतलाते हैं। अस्तु उनके विचारानुकूल प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये पूर्ण अवसर मिलने पर ही वह अपने स्वतन्त्र प्रयास से किसी नई अथवा उत्तम वस्तु का निर्माण कर सकता है।

नन के अनुसार बालक के व्यक्तित्व के विकास का उत्तरदायित्व माता-पिता तथा शिक्षक पर है क्योंकि घर और स्कूल ही ऐसी संस्थाएं हैं जहां उसे अपने विकास का अवसर मिलता है। अतः माता पिता तथा शिक्षक का कर्तव्य है कि वे इस बात का ध्यान रखें कि उस छोटी दुनियां में जिसमें बालक रहता है उन सभी बातों की प्रचुरता हो जो उसके उच्चतम विकास में सहायक हो सकती हैं। उनका यह भी कर्तव्य है कि वे बालक को उन प्रभावों से सुरक्षित रखें जो उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधक हो सकते हैं। व्यक्तिवादी मत का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने एक दूसरे स्थान पर लिखा है, "शिक्षक को चाहिए कि वह प्रत्येक बालक की रुचि और ग्रहण शक्ति का स्वतंत्र

* Education : Its Data and first Principles, page 5.

रूप से अध्ययन करे और यथासम्भव बालक की प्रकृति के अनुकूल उसे शिक्षा दे।" शिक्षक का काम बालक का व्यक्तित्व बनाना नहीं वरन् बालक की प्रवृति के अनुसार उसके व्यक्तित्व को बिना हस्तक्षेप बढ़ने देना है। यद्यपि यह सत्य है कि 'नन' ने अपने व्यक्तिवादी विचारों की पुष्टि जीवन-शास्त्र के दृष्टिकोण से की है, परन्तु व्यक्तित्व की व्याख्या करने का उनका ढंग दार्शनिक है। वे 'व्यक्तित्व-आदर्श' (Individuality aim) और 'आत्मानुभूति' (Self-realisation) में कुछ अन्तर नहीं मानते। उनके कथनानुसार ये शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं। दूसरे शब्दों में व्यक्तित्व-विकास का अर्थ आत्मानुभूति अथवा आत्मिक पूर्णता को प्राप्त करना है। यहां पर यह ध्यान रखना चाहिए कि आत्माभिव्यक्ति और आत्मानुभूति में महान् अन्तर है। एक का तात्पर्य केवल अपनत्व अथवा आत्म-प्रकाशन (Self-expression) से है और दूसरे का अर्थ समाज में रहते हुए आत्म-बोध प्राप्त करने से है। यद्यपि यह सत्य है कि आत्मानुभूति में आत्म-प्रकाशन के लिये पर्याप्त स्थान है, परन्तु उसे समाज के लिये हानिकारक नहीं होना चाहिये। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि व्यक्ति को कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिससे समाज को हानि हो।

उपरोक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि 'नन' महोदय व्यक्तिवादी विचारधारा के महान् समर्थक होते हुए भी सामाजिक विचारधारा की उपेक्षा नहीं करते। उनकी धारणा है कि बालक के व्यक्तित्व के विकास में समाज हमेशा सहायक होता है। उन्होंने कहा है "व्यक्तित्व का विकास सामाजिक वातावरण में ही होता है जहाँ कि सामाजिक रुचियों और क्रियाओं का इसे भोजन मिलता है।" (Individual develops only in a social atmosphere where it can feed on common interests and common activities) उनके इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे व्यक्तित्व के विकास के लिए सामाजिक वातावरण को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानों और परीक्षणों ने भी यह स्पष्ट कर दिया है कि व्यक्तित्व के विकास में समाज का महत्त्व अधिक है। व्यक्ति की विभिन्न प्राकृतिक तथा सामाजिक शक्तियों के विकास के लिये उसका समाज में रहना परमावश्यक है। उचित सामाजिक वातावरण न मिलने पर व्यक्ति की विभिन्न शक्तियाँ अविकसित रह जाती हैं। उदाहरणतया समाज से दूर रहने पर बालक की भाषा-शक्ति अविकसित रह जाती है। यह नियम अन्य शक्तियों के विकास में भी लागू होता है। स्पष्ट है कि बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिए उचित सामाजिक वातावरण आवश्यक है। एक व्यक्ति के अपने समाज के प्रति जो ध्यान विचार हैं वही उसका व्यक्तित्व है; व्यक्ति के समाज से दूर रहने पर उसके व्यक्तित्व का कोई अर्थ नहीं होगा। समाज से यह आशा की जाती है कि वह बालक को सामाजिक जीवन म

इतनी स्वतन्त्रता प्रदान करे कि जिसमें वह अपनी रुचि के अनुसार बढ़ सके; समाज अपने प्रभावों से उसे इतना न घेर ले कि वह अपने आदर्श से विमुख हो जाय। सामाजिक प्रभावों से घिर जाने पर व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास में बाधा पहुँचती है और उसका व्यक्तित्व कुंठित हो जाता है। अतः व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये पर्याप्त स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।

मन की मनोवैज्ञानिक विचारधारा

एक समय था जब मन को विभिन्न शक्तियों की एक गठरी (Bundle of Faculties) माना जाता था जैसे स्मरण-शक्ति, तर्क-शक्ति, अवधान-शक्ति, निश्चय-शक्ति। इन समस्त शक्तियों के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को सभी मनोवैज्ञानिक स्वीकार करते थे। यह विचारधारा 'सामर्थ्य मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) के नाम से प्रसिद्ध थी। इस विचार-धारा के अनुकूल यह समझा जाता था कि मनुष्य को जिस समय जिस शक्ति की आवश्यकता पड़ती थी वही शक्ति काम में आती थी। इस प्रकार मस्तिष्क की विभिन्न शक्तियाँ पृथक्-पृथक् रूप से कार्य करती थी। यह विचारधारा बहुत समय तक मानी जाती रही। परिणामस्वरूप मन की अन्विति का समवेत रूप खटाई में पड़ा रहा जो कि कहीं अधिक महत्वपूर्ण चीज थी। आगे चलकर मनोवैज्ञानिक परीक्षणों ने 'सामर्थ्य मनोविज्ञान' को ग़लत सिद्ध कर दिया। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'गेस्टाल्ट' ने यह सिद्ध कर दिया कि मन विभिन्न शक्तियों की एक गठरी मात्र नहीं है, वह तो सम्पूर्ण एक इकाई है। अस्तु, शनैः शनैः इस सामर्थ्य मनोविज्ञान का महत्त्व बहुत कम हो गया। अब मनोविज्ञान इस सामर्थ्य मनोविज्ञान को नहीं मानता। आज सम्पूर्ण मन को एक इकाई माना जाता है। किसी भी कार्य करने में सम्पूर्ण मस्तिष्क का सहयोग रहता है। आवश्यकतानुसार कोई शक्ति अधिक काम करती है और कोई कम। नन ने भी सामर्थ्य मनोविज्ञान का खंडन किया है और यह बतलाया है कि मन में स्वतन्त्र शक्तियाँ नहीं है किन्तु मन की प्रक्रिया के भिन्न-भिन्न पहलू हैं। ये पहलू दो हैं :—

(अ) नीमी (Mneme).

(ब) होर्मे (Horme)

(अ) नीमी (Mneme)— हम जीवन में जो कुछ अनुभव प्राप्त करते हैं वे हमारे मन पर कोई-न-कोई प्रभाव छोड़ देते हैं। मन इन प्रभावों को सञ्चित करने में सदैव प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी अपने अनुभवों को सञ्चित करता रहता है। दूसरे शब्दों में मन का सबसे बड़ा सामान्य गुण सञ्चित करने का गुण है। सञ्चित करने के गुण को नन 'नीमी' कहता है। नीमी हमारे मन की वह शक्ति है जिसके द्वारा हम अपने अनुभवों को तथा उनके प्रभावों को सञ्चित करते हैं अथवा सुरक्षित रखते हैं। इसी सचय-शक्ति अर्थात् नीमी का दूसरा स्वरूप स्मृति है,

किन्तु नीमी (Mneme) और स्मृति (Memory) में अन्तर है। संचित सामग्री का स्वल्प भाग ही स्मरण में आ पाता है और बहुत कुछ भाग संचित ही रहता है किन्तु संचित भाग के कारण ही हमारी क्रियाएँ चलती रहती हैं। इस प्रकार नीमी से स्मरण में आने वाली सामग्री के अतिरिक्त और सामग्री का बोध होता है। उदाहरणार्थ जब हम पढ़ते हैं तो हम अक्षरों, शब्दों तथा वाक्यों को स्मरण नहीं करते, परन्तु फिर भी हम अपने पूर्व अनुभवों के कारण ही पढ़ने में समर्थ होते हैं। पढ़ने की क्रिया के अन्तस्तल में 'नीमी' अपना कार्य करती है।

मन में अनुभव ज्यों के त्यों सुरक्षित नहीं रहते और न भविष्य में जैसे के तैसे निकलते हैं। मन में जो कुछ संचित होता है अथवा सुरक्षित रहता है— वह है अनुभव का प्रभाव। प्रत्येक अनुभव कुछ प्रभाव अथवा संस्कार छोड़ जाता है। ये संस्कार हमारे आने वाले अनुभवों को भी बदलते रहते हैं। इन प्रभावों तथा संस्कारों को 'नन' ने 'एनग्राम' (Engram) की संज्ञा दी है।

(ब) होर्म (Horme)— मन की प्रक्रिया के दूसरे पहलू को 'नन' ने 'होर्म' (Horme) की संज्ञा दी है। उनका कथन है कि क्रियाशीलता मन की विशेषता है। मन केवल संचय ही नहीं करता वरन् काम भी करता है और यह काम सोद्देश्य होता है। व्यक्ति की कोई शक्ति अथवा जीवन-प्रेरणा (Urge) मन के अन्दर बैठी हुई व्यक्ति को प्रेरित करती है जिसके कारण वह अपने अनुभव, वातावरण तथा व्यवहार को चुन लेता है अथवा छोड़ देता है। मन का यही लक्षण उसकी सजीवता है। यह प्रेरणा मन के चेतन तथा अचेतन भाग पर होती है। किसी वस्तु की इच्छा करना, उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना, किसी वस्तु के प्रति ध्यान देना आदि क्रियायें चेतन भाग पर होने वाली प्रेरणाओं के उदाहरण हैं। साँस लेना, रक्त संचार होना, भोजन पचना, बीमारी के कीटाणु से लड़ना आदि क्रियाएँ अचेतन भाग पर होने वाली प्रेरणाओं के उदाहरण हैं। 'नन' (Nunn) ने इसी प्रेरणाशक्ति को 'होर्म' (Horme) की संज्ञा दी है। इस प्रकार 'नीमी' (Mneme) और 'होर्म' (Horme) मन की प्रक्रिया के दो प्रमुख पहलू हैं जो हमारी शिक्षा में अपना विशेष महत्व रखते हैं।

बालक का विकास वंशानुक्रम पर आधारित है अथवा वातावरण पर — इस प्रश्न पर शिक्षा-शास्त्रियों में परस्पर मतभेद है। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों की दृष्टि में बालक की प्रवृत्ति सब कुछ है वातावरण कुछ भी नहीं। वे वंशानुक्रम (Heredity) को महत्त्व देते हैं। इसके विपरीत कुछ शिक्षा-शास्त्रियों का कथन है कि बालक के विकास में वातावरण का ही प्रधान स्थान है। 'नन' का विश्वास है कि बालक का विकास दोनों के आधार पर होता है। उनका कथन है कि बालक एक सजीव सत्ता है। वह अपनी प्राकृतिक योग्यताओं, प्रतिभाओं के बल पर वातावरण का तथा शिक्षा

का उपयोग करता ग्रोर लाभ उठाता है। प्रत्येक व्यक्ति वंशानुक्रम के द्वारा अपने पूर्वजों के तत्त्वों को लेकर पैदा होता है। ये तत्त्व उसके सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन को संचालित करते हैं। परन्तु इन तत्त्वों पर वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है जिसके कारण इसमें परिवर्तन हो जाता है। इनके परिवर्तित तथा संशोधित हो जाने पर बालक का विकास होता है। इस प्रकार बालक का विकास वंशानुक्रम (Heredity) तथा वातावरण (Environment) दोनों के आधार पर होता है।

नन के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य

नन महोदय के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक के विशेष प्रकार के व्यक्तित्व का विकास है। प्रत्येक बालक में प्रकृति-दत्त विशेष योग्यताएं होती हैं जिनके कारण वह दूसरों से भिन्न होता है। इन योग्यताओं को विकसित करना तथा पूर्णता पर पहुंचाना शिक्षा का काम है। किसी में पढ़ने-लिखने की योग्यता होती है तो किसी में संगीत की; किसी में हस्तकला की योग्यता होती है तो किसी में विज्ञान की। इस प्रकार किसी व्यक्ति में मानसिक काम करने की योग्यता होती है तो किसी में शारीरिक। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति की योग्यताओं का पता लगाना तथा उसे योग्यताओं के अनुसार शिक्षित करना है। अपनी योग्यता के अनुसार शिक्षा का अवसर मिलने पर व्यक्ति उसी काम में प्रवीण हो जाता है जिसमें उसकी स्वाभाविक रुचि तथा योग्यता होती है। अतः शिक्षा का कार्य प्रत्येक व्यक्ति के लिये उन परिस्थितियों को उत्पन्न करना है जिनमें उसके व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास हो सके। ("Educational effort, it would seem, be limited to securing for everyone the conditions under which individuality is most completely developed...... ")* व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास एक आदर्श है जिस तक सभी को पहुंचना है। इस आत्मिक पूर्णता को प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सकता है।

बुद्धि-भेदों ग्रोर व्यक्तिगत भिन्नताओं तथा योग्यताओं को ध्यान में न रखकर कोई शिक्षा-क्रम बनाना एक भारी भूल होगी। सभी व्यक्तियों को एक-सी शिक्षा देने से न व्यक्तियों का भला होता है ग्रोर न समाज का। समाज की तभी उन्नति समझी जाती है जबकि उसके प्रत्येक सदस्य की प्रकृति-दत्त योग्यताएं तथा शक्तियां पूर्ण रूप से विकसित हो जाती हैं ग्रोर वह उस पूर्णता को प्राप्त कर लेता है जिसको लेकर वह पैदा हुआ है। उनकी दृष्टि में मानव समाज का कल्याण भिन्न-भिन्न मनुष्यों के व्यक्तित्व के चरम विकास से ही सम्भव है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नन शिक्षा में समाजवाद का विरोध ग्रोर व्यक्तिवाद का समर्थन करते हैं। वे व्यक्ति को जितना महत्त्व देते हैं उतना समाज को नहीं। समाजवाद का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा है कि "संसार

*Education: Its Data and First Principles, page 6.

में जो भली वस्तुएं आती हैं वह किसी न किसी व्यक्ति के स्वतन्त्र प्रयत्न से ही आती हैं अस्तु शिक्षा की व्यवस्था इसी सत्य के आधार पर होनी चाहिए।" परन्तु उनके कथन का यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य को समाज के प्रति अपने कर्तव्य को जीवन में गौण स्थान देना चाहिए। उनके विचार से प्रत्येक व्यक्ति को मानव समाज की उन्नति में यथा-शक्ति सहायता करनी चाहिए। व्यक्तित्व के विकास में सामाजिक अनुशासन, धर्म तथा प्रथाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में व्यक्ति समाज की सहायता के बिना अपने व्यक्तित्व का विकास कर ही नहीं सकता। वह समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभा कर ही विकसित जीवन प्राप्त करता है। वह दूसरों के सहयोग तथा प्रोत्साहन से ही अपने आदर्शों को प्राप्त करता है। इसलिये समाज को व्यक्ति से सेवा प्राप्त करने का अधिकार है। परन्तु यह सेवा तभी सम्भव है जबकि प्रत्येक व्यक्ति की विशेष योग्यताओं का भली प्रकार से विकास हो सके। इसलिये समाज का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्तियों को उनकी योग्यताओं तथा शक्तियों के अनुसार शिक्षित करने की व्यवस्था करे और उपयुक्त वातावरण का निर्माण करे। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नन महोदय व्यक्तिवादी होते हुए भी समाज की अवहेलना करने के पक्ष में नहीं हैं उन्होंने शिक्षा के द्विमुखी उद्देश्यों का प्रतिपादन किया है, इन्हें व्यक्ति-विकास उद्देश्य तथा समाज विकास उद्देश्य कहा जा सकता है। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक शिक्षार्थी के लिये उन परिस्थितियों का जुटाना अनिवार्य है जिनमें आदर्श मानवता के सामान्य गुणों का समाज के बीच विकास हो सके तथा साथ ही साथ प्रत्येक के व्यक्तित्व को भी विकास की आवश्यक परिस्थितियां उपलब्ध हो सकें। अतः श्री नन के अनुसार "शिक्षा सामाजिक वातावरण में विशेष व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है।"

नन के अनुसार शिक्षा का पाठ्य-क्रम

यद्यपि नन महोदय ने शिक्षा में व्यक्तिवादी उद्देश्य का प्रतिपादन किया है किन्तु पाठ्य-क्रम के संगठन के विषय में वे आदर्शवादियों का समर्थन करते हैं। वे इस बात से पूर्ण रूप से सहमत हैं कि बालक दो प्रकार से अनुभव ग्रहण करता है एक वातावरण से और दूसरे प्राणियों से। अतः बालक को ऐसे विषय पढ़ाने चाहिएं जो उनके दोनों प्रकार के अनुभवों की वृद्धि में सहायक हों। दूसरे शब्दों में बालक को विज्ञान और मानव सम्बन्धी विषय पढ़ाए जाने चाहिएं। नन का कथन है कि "राष्ट्र के स्कूल उसके जीवन के अंग हैं जिनका कर्तव्य राष्ट्र की आध्यात्मिक शक्ति को दृढ़ करना, उसके ऐतिहासिक क्रम को बनाए रखना, उसकी पूर्वतन सफलताओं की सुरक्षा करना और उसके भविष्य को उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करना है।" ("A nation's schools—are an organ of its life, whose special function is to consolidate its spiritual strength, to

maintain its historic continuity, to secure its past achievements, to guarantee its future.")* विद्यालय का उक्त कार्य पाठ्य-क्रम द्वारा ही पूरा हो सकता है। अतएव पाठ्य-क्रम में उन सब विषयों का समावेश होना चाहिये जिनसे व्यक्ति को मानव सभ्यता की झलक मिल सके। हमें पाठ्य-क्रम में उन्हीं क्रियाओं को स्थान देना चाहिये अथवा बालकों को वे ही क्रियाएँ सिखानी चाहिएँ "जिनका बाह्य जगत में सबसे अधिक और सब से स्थायी मूल्य हो", "जो कि मानव के भावों को सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है।" (The school must reflect those human activities "that are of greatest and most permanent significance in the wider world", "the grand expressions of human spirit.")†

वे क्रियाएँ कौन सी हैं जो बालकों को सिखानी चाहियें ? इन क्रियाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक प्रकार की क्रियाएँ वे क्रियाएँ हैं जिनसे व्यक्ति और समाज के जीवन के स्तर को ऊंचा रक्खा जा सकता है और जिनसे स्तर को ऊचा रखने वाली परिस्थितियों की रक्षा की जा सकती है। इनके अन्तर्गत स्वास्थ्य रक्षा, शरीर-साधन, सदाचार, सामाजिक संगठन, नीति-प्रेम, धर्म आदि की क्रियाएँ रखी जाती हैं। दूसरी प्रकार की क्रियाएँ वे क्रियाएँ हैं जो सभ्यता की आधार-भूत होती हैं और जिन्हें हम सृजनात्मक तथा रचनात्मक क्रियाओं की संज्ञा देते हैं। पहले प्रकार की क्रियाएँ क्रियाएँ ही होंगी। इन्हें विषय बनाना कठिन है किन्तु इन्हें अध्ययन तथा अध्यापन द्वारा उत्तेजित करना चाहिए। दूसरी प्रकार की क्रियाएँ वे हैं जिनसे सभ्यता का निर्माण होता है। इनके हेतु प्रत्येक शिक्षा के विधान में (१) साहित्य : मातृभाषा की सर्वोत्तम रचनायें-(२) कला तथा संगीत, (३) हस्तकला, बुनाई, खुदाई, सिलाई, सुई का काम, इत्यादि, (४) विज्ञान तथा (५) गणित का समावेश होना चाहिये। इतिहास तथा भूगोल के विषयों को पाठ्य-क्रम में केन्द्रीय विषय का स्थान देना चाहिए क्योंकि इन्हीं के द्वारा मानव जाति के विकास का पता चलता है। इस प्रकार नन के अनुसार पाठ्य-क्रम का निर्धारण व्यक्ति की क्रियाओं और अनुभवों के आधार पर होना चाहिये। स्कूल का कोई ऐसा स्थान नहीं जहां प्रधानतः ज्ञान प्राप्त किया जाता है वरन् ऐसा स्थान है जहां छोटे बच्चों को कुछ विशिष्ट क्रियाओं में दक्षता प्रदान की जाती है। (The school must be thought of primarily not as a place where certain knowledge is learnt, but as a place where

---

* Education : Its Data and First Principles, page 233.

† Groundwork of Educational Theory, by Ross, Ch. IX, p. 201.

the young are disciplined in certain forms of activity.)*

शिक्षा में खेल

नन महोदय बालकों की शिक्षा में 'खेल' के महत्व पर बल देते हैं। उनका कथन है कि बालक की रचनात्मक क्रियाओं का प्रदर्शन खेल में होता है। 'खेल बच्चों की रचनात्मक प्रवृत्तियों को बिल्कुल शुद्ध और स्पष्ट रूप से प्रगट करता है।' कला, शिल्प, भौगोलिक अन्वेषण तथा वैज्ञानिक आविष्कार की प्रवृत्तियाँ खेल से ही संबंध रखती हैं। खेल जीवन के संघर्ष से भागने का प्रयत्नमात्र ही नहीं है। जो व्यक्ति ऐसा समझते हैं वे मनोरंजनात्मक खेल और मन बहलाव के खेल के तत्व को नहीं समझते। खेल इन्द्रियों के आत्मप्रदर्शन (Self-assertion) की भूख को व्यक्त करते हैं। खेल सब सुधारों की जड़ है। खेल से शारीरिक अङ्गों का विकास होता है। इससे व्यक्ति में सामाजिकता तथा नैतिकता के भाव उत्पन्न होते हैं। प्रायः खेल में व्यक्ति को अपने भावी जीवन की रुचियों का पता चलता है। इस प्रकार नन महोदय यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "खेल आवश्यक मात्रा से अधिक शक्ति को निकालने का साधन नहीं वरन् जीवन के जटिल तथा गुरुतर कार्यों के लिये व्यक्ति को तैयार करने का साधन है।"

'नन' महोदय 'खेल' और 'कार्य' के अन्तर को भी स्पष्ट करते हैं। इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिये वे 'भोजन करने' तथा 'ब्रिज खेलने' की दो क्रियाओं की व्याख्या करते हैं। उनका कथन है कि 'भोजन करना' कार्य का उदाहरण है और 'ब्रिज खेलना' खेल का उदाहरण है। पहली क्रिया ऐसी है जो जीवित रहने के लिये करनी ही होती है। दूसरी क्रिया ऐसी है जिसके नियमों का पालन खेलते समय आवश्यक है किन्तु उन नियमों की स्वीकृति स्वयं खेलने वाले की इच्छा पर निर्भर है। इस प्रकार नन महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला है—"कर्ता अपनी क्रिया को खेल समझता है यदि वह इसे स्वयं अपनी इच्छा से करता है और वह उसे कार्य समझता है जब वह उसके ऊपर बरबस लादी जाती है। खेल और कार्य भेद रखने वाली क्रियाओं को प्रकट करते हैं।" 'खेल' और 'कार्य' दोनों ही हमें आनन्द देते हैं। खेल में क्रिया स्वयं ही आनन्द का कारण होती है। परन्तु कार्य परिणाम प्राप्त होने पर आनन्द देता है। खेल के उद्देश्य कल्पित संसार में होते हैं तथा कार्य के उद्देश्य यथार्थ जीवन के लिये होते हैं। रौस महोदय ने भी खेल और कार्य का अन्तर बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है :— "यदि हम कोई क्रिया खुशी से अपने आप, बिना बाहरी दबाव के करें तथा जिससे हमारी प्राकृतिक शक्तियां शान्त हों, वह खेल है। इसके विपरीत जिस किसी क्रिया में न खुशी हो, न स्वतन्त्रता हो, न हित हो, न वहां खेल की भावना नहीं होती और उस क्रिया को काम कहते हैं।"

*Education : Its Data and First Principles, Page 214.

खेल कई प्रकार के होते हैं — अवकाश का समय बिताने के खेल, रचनात्मक खेल, *अनुकरणात्मक खेल*, *शिक्षाप्रद खेल* और वे जिनमें उच्चकोटि की गम्भीरता होती है। कार्य की भी ये ही श्रेणियां होती हैं। यदि सर्वोत्कृष्ट कार्यों तथा उच्चकोटि के खेलों की व्याख्या की जाये तो पता लगेगा कि जो सर्वोत्कृष्ट कार्यों की विशेषता होती है वही उच्चकोटि के खेलों की होती है। इस प्रकार ये दोनों क्रियाएं चोटी पर एक दूसरे से मिल जाती हैं और एक हो जाती हैं। सर्वोत्कृष्ट कार्य वह है जिसे कर्ता स्वयम् चुनता है उसे पूर्ण करने के लिये निजी उपाय काम में लाता है और जो आत्म-निर्माण तथा आत्माभिव्यक्ति की परिस्थितियों के अन्तर्गत होता है।

शिक्षा में स्वतंत्रता

'नन' शिक्षा में पर्याप्त स्वतंत्रता देने का पक्षपाती है जिससे कि बालक अपनी रुचि के अनुसार शिक्षा ग्रहण कर सके। वह दमनात्मक अनुशासन का विरोधी तथा मुक्त्यात्मक अनुशासन का समर्थक है। वह खेल और स्वतंत्रता तथा कर्म और अनुशासन में कोई अन्तर नहीं समझता। वह खेल और स्वतंत्रता को सगी बहनें मानता है और यही संबंध कर्म और अनुशासन में बतलाता है। जिस प्रकार खेल और काम के कई भेद होते हैं उसी प्रकार स्वतंत्रता और अनुशासन के कई भेद हैं। दोनों के *निम्नतम तथा उच्चतम रूप होते हैं।* अपने *निम्नतम रूप में स्वतंत्रता का अर्थ है* निरंकुशता, स्वच्छंदता तथा मनमानी। अनुशासन के निम्नतम रूप का तात्पर्य दमन से है। 'नन' स्वतन्त्रता तथा अनुशासन दोनों के निम्नतम स्वरूप का विरोध करता है। वह बालकों को इतनी स्वतंत्रता नहीं देना चाहता जो स्वच्छन्दता का रूप धारण कर ले। वे स्वतंत्रता के समर्थक हैं, स्वच्छन्दता के नहीं। सबसे उच्च कोटि की स्वतन्त्रता वही है जिसमें व्यक्ति विधि- विधानों के नियंत्रण में चलना स्वीकार करता है। शिक्षा में स्वतंत्रता का तात्पर्य यह है कि बालक अपने ढंग से कार्य करे तथा बिना किसी बाह्य बन्धन के अपना विकास करे। इसके साथ साथ वह नियमों, सिद्धान्तों तथा व्यवस्थाओं के अधीन रहना भी सीखे।

शिक्षा में स्वतन्त्रता के साथ-साथ अनुशासन का भी प्रश्न उठता है। नन महोदय का कथन है कि जहाँ तक सम्भव हो सके अनुशासन का भार अनुशासितों पर ही छोड़ दिया जाय। पर इस सम्बन्ध में वे शिक्षक से भी कुछ आशा करते हैं। उनका विश्वास है कि बालक को आरम्भ से ही स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। जब तक बालक अपने पैरों पर खड़े होने की योग्यता प्राप्त नहीं कर लेता वह अपनी स्वतन्त्रता का उचित उपयोग नहीं कर सकता। बालक को आरम्भ से ही अपनी जिम्मेदारी पर छोड़ देना उसका अहित करना है। इस प्रकार बालक के विकास में उन्होंने शिक्षक की इच्छा को भी महत्त्व दिया है। परन्तु वे शिक्षक के अधिकारों को सीमित रखना चाहते हैं। वे शिक्षक का हस्तक्षेप तब तक नहीं चाहते जब तक

बालक कोई ऐसा कार्य न करे जो समाज के लिए हानिकारक सिद्ध हो। उन
मनुसार बालक की बुरी रुचि का पता लग जाने पर शिक्षक का हस्तक्षेप आवश्य
हो जाता है। नन के कथनानुसार शिक्षक का यह भी कर्तव्य है कि वह नागरिक
अधिकारों की रक्षा करे। पाठशाला एक समाज है अतः शिक्षक को यह ध्या
रखना चाहिए कि प्रत्येक विद्यार्थी समाज के नियमों का पालन करे, वह कोई ऐ
कार्य नहीं करे जिससे विद्यालय के वातावरण में अशान्ति उत्पन्न हो। शिक्षक
स्वयं भी उन नियमों का पालन करना चाहिए जिनका पालन वह विद्यार्थी सम
से कराना चाहता है। उनका विचार है कि शिक्षक को बालक के कार्यों में
सोच-विचार कर हस्तक्षेप करना चाहिए अन्यथा वह व्यर्थ के अनुशासन
प्रतिबन्ध लगाकर बालक को हानि पहुंचायेगा।

अपने अनुशासन-सम्बन्धी विचार व्यक्त करते समय 'नन' ने अनुशासन
स्कूल आर्डर (School Order) के अन्तर को भी स्पष्ट किया है। वे कहते
कि 'स्कूल आर्डर' का उद्देश्य कक्षा में पूर्ण शान्ति बनाये रखना है जि
अध्यापन का कार्य सरलतापूर्वक सुचारू रूप से हो सके। 'स्कूल आर्डर' की भ
अनुशासन को वे बाह्य वस्तु नहीं मानते। वे अनुशासन को एक ऐसी वस्तु मा
हैं जिसका आन्तरिक आचरण से सम्बन्ध होता है। अनुशासन का अभिप्राय अ
शक्तियों तथा प्रवृत्तियों को उस नियम के अधीन कर देना है जिसके द्वारा उ
नियंत्रित रक्खा जाता है और जो कुशलता तथा समय की बचत का कारण ब
है। यद्यपि हमारी कुछ प्रवृत्तियां इस नियन्त्रण का विरोध कर सकती हैं, तथ
इस नियंत्रण की स्वीकृति स्वतः इच्छा से होनी चाहिए।'

शिक्षा संगठन

नन महोदय ने शिक्षा सम्बन्धी कार्यों के आधार पर विद्यालयों का वर्गीक
किया। आजकल साधारणतया विद्यालयों को दो भागों में बांटा जाता है—प्रारम्भि
और माध्यमिक। परम्परानुसार प्रारम्भिक विद्यालय छोटे बच्चों के लिए होते
और माध्यमिक बड़ों के लिये। परन्तु कुछ समय पूर्व इन विद्यालयों के संगठन
वैज्ञानिक रूप से विचार नहीं किया जाता था। हैडो कमेटी रिपोर्ट ने हमारा ध्य
इस ओर आकर्षित किया। तब से यह निश्चित हो गया कि शिक्षा का सामन
बच्चे के क्रमिक विकास के साथ होना चाहिए। दूसरे शब्दों में स्कूलों का संग
बालकों के क्रमिक विकास के अनुसार होना चाहिए। नन के उद्धरण से यह ब
पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है—" हम अब कम से कम सिद्धान्त रूप में अवश्य
यह स्वीकार करते हैं कि शिक्षा का समय कुमारावस्था है। यह कुमारावस्था, जि
व्यक्तियों में भी अट्ठारह वर्ष तक रहती है। विश्वविद्यालय की शिक्षा को छोड़
बालक के जीवन के तीन शिक्षा सम्बन्धी भाग हैं, जो उसकी शारीरिक और मानसि

बाढ़ की तीन तरंगों से संगति रखते हैं। पहला शैशव-काल है जो ६ से ८ वर्ष की आयु तक चलता है। यह घर पर अथवा शिशु विद्यालय में शिक्षा पाने का समय है जहाँ के अधिनायक फ्रोबेल और मान्टेसोरी हैं। इसके बाद दूसरी तरंग बाल-काल की उठती है, जिसकी शक्ति बारह के लगभग समाप्त होती है। यही समय बच्चों की 'प्रारम्भिक शिक्षा' का समय होना चाहिए अर्थात् इस काल में ऐसी शिक्षा और ऐसे अभ्यास होने चाहियें जो बाल-काल की मानसिक तथा नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हों और बालक की शिक्षा का शिलान्यास कर देते हों। विकास की तीसरी लहर किशोरावस्था है जो १८ वर्ष तक चलती है जब कि बालक और बालिका पुरुष और स्त्री बन जाते हैं। यह माध्यमिक शिक्षा का समय है। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद सभी प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था को माध्यमिक-शिक्षा कहना अभी तक सर्वमान्य नहीं है, परन्तु ऐसा कहना वांछनीय है, क्योंकि इससे एक ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित होता है जो शिक्षा के सुधारों में बड़ा महत्त्व रखता है अर्थात् इससे यह स्थापित हो जाता है कि सभी बालकों की शिक्षा की समस्या—चाहे वह किसी धनी परिवार का हो और चाहे दीन की कुटी से आया हो—मूलतः एक ही है *अर्थात् शिक्षा को हमें सफलतापूर्वक बालक के क्रमिक विकास के अनुकूल बनाना है* और किशोरावस्था उस क्रमिक विकास का केन्द्र स्थान है।"*

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नन महोदय शिक्षा की व्यवस्था के लिए *उक्त तीन प्रकार के विद्यालयों का निर्माण आवश्यक समझते हैं* और माध्यमिक शिक्षा पर अत्यधिक बल देते हैं। वे माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य विश्वविद्यालय की तैयारी करना नहीं मानते। उनके अनुसार माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है। यह समय बालक के शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्न

(१) 'नन' के वैयक्तिक उद्देश्य से आप क्या समझते हैं ? किस तरह इस उद्देश्य का सामाजिक उद्देश्य के दावों से मेल हो सकता है ?

(२) 'स्वतन्त्रता' एवं 'व्यक्तित्व' पर 'नन' के स्वयं क्या विचार हैं ?

(३) शिक्षा में खेल का क्या महत्त्व है ? इस सम्बन्ध में 'नन' के क्या विचार हैं ?

(४) 'एक जाति के स्कूल इसके जीवन के अङ्ग हैं' — इस वचन पर टिप्पणी कीजिए।

*Education: Its Data and First Principles—Hindi Translation from 'Shiksha Siddhant', page 29.

(५) नन के व्यक्तिवादी दर्शन की समालोचना कीजिए।

(६) कुछ शिक्षा-विशेषज्ञों के विचार के अनुसार व्यक्तित्व का पूर्ण विकास ही शिक्षा का ध्येय होना चाहिए, परन्तु दूसरों के अनुसार सामाजिक विकास ही जनतन्त्र में शिक्षा का मुख्य ध्येय होना चाहिए। इन दोनों विपरीत विचार-धाराओं में आप किस प्रकार सामंजस्य स्थापित करेंगे ?

(७) "शिक्षा के व्यक्तिगत और सामाजिक लक्ष्यों में कोई वास्तविक विरोध नहीं है।" कारण सहित समझाइये कि यह मत आपको कहाँ तक मान्य है।

(८) 'The task of education is to bring out the best in each individual, helping him to discover at the same time how his special talents can be made consistent with the needs and demands of society' discuss.

बीसवां अध्याय

पाठ्य-क्रम (Curriculum)

शिक्षा के विभिन्न अङ्गों पर दर्शन का क्या प्रभाव पड़ा है इसकी विवेचना पिछले अध्यायों में की जा चुकी है। शिक्षा के विभिन्न अंगों के मध्य पाठ्य-क्रम एक महत्वपूर्ण अंग है। इस अंग पर दर्शन का क्या प्रभाव पड़ा है इसकी चर्चा भी की जा चुकी है। परन्तु यहां पर हम इन प्रभावों को फिर से एक सम्मिलित रूप में प्रस्तुत करते हैं जिससे कि हमारे पाठकगण उनको भली भांति समझकर लाभ उठा सकें। अतः इस अध्याय में हम उन विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का वर्णन करेंगे जिन्होंने पाठ्य-क्रम के संयोजन, संगठन तथा निर्माण को समय-समय पर प्रभावित किया है।

पाठ्य-क्रम का अर्थ— पाठ्य-क्रम शब्द अंग्रेजी के 'केरीकुलम' (Curriculum) शब्द का पर्यायवाची है। 'केरीकुलम' स्वय एक लेटिन शब्द है जिसका अर्थ है 'दौड़ का मैदान'। शिक्षा के क्षेत्र में इसका तात्पर्य विद्यार्थी के 'दौड़ के मैदान' से है। शिक्षा की तुलना एक दौड़ से की जाती है जिसमें पाठ्य-क्रम उस दौड़ के मैदान के सदृश है जिसको पार करके एक दौड़ने वाला अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंचता है। दूसरे शब्दों में पाठ्य-क्रम वह मार्ग है जिसका अनुसरण करके विद्यार्थी शिक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करता है। 'बेन्ट और क्रोनेनबर्ग' (Bent and Kronenberg) ने अपनी पुस्तक (माध्यमिक शिक्षा के सिद्धान्त) में लिखा है कि संक्षेप में पाठ्य-क्रम, पाठ्य-वस्तु (Content of Studies) का सुव्यवस्थित रूप है जो बालकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु तैयार किया जाता है।' समाजतत्त्ववादी (Sociologists) पाठ्य-क्रम का और भी विस्तृत अर्थ लगाते हैं। उनके अनुसार पाठ्य-क्रम का तात्पर्य उन सम्पूर्ण परिस्थितियों से है जो कि शिक्षक के पास उपलब्ध रहती हैं और जिनके द्वारा वह उन बालकों की आदतों तथा व्यवहार में परिवर्तन करता है जो स्कूल में होकर गुजरते हैं। 'कनिंघम' (Cunningham) के अनुसार "कलाकार (शिक्षक) के हाथ में यह एक साधन है जिससे कि वह पदार्थ (शिक्षार्थी) को अपने आदर्श (उद्देश्य के अनुसार अपने स्कूल में ढाल सके।"* [The curriculum is the tool in the hands of the artist (the teacher) to mould his material (the pupil) according to his ideal (objective) in his studio (the school).]

उपर्युक्त अर्थों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाठ्य-क्रम अध्ययन का एक क्रम है जिसके अनुसार चलकर विद्यार्थी ज्ञान को प्राप्त करता है। इस प्रकार आजकल पाठ्य-क्रम, पाठ्य-वस्तु का पर्याय माना जाता है।

* Cunningham, The Pivotal Problems of Education, page 261

पाठ्य-क्रम का प्रमुख आधार

पाठ्-क्रम का अर्थ बतलाते समय हमने 'बालकों की आवश्यकता', उनकी 'आदतों तथा व्यवहार में परिवर्तन', 'अपने उद्देश्यों के अनुसार उन्हे ढालना' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग किया है जिनका आशय यह है कि पाठ्य-क्रम के स्वरूप को निश्चित करने के हेतु कुछ लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को सामने रखना पड़ता है। ये उद्देश्य शिक्षा के उद्देश्य होते हैं। दूसरे शब्दों में पाठ्य-क्रम की रूप-रेखा शिक्षा के उद्देश्यों पर निर्भर होती है। जैसे शिक्षा के उद्देश्य होते हैं उन्हीं के अनुकूल पाठ्य-क्रम की रूप-रेखा तैयार की जाती है। यदि ऐसा न किया जाय तो शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति दुर्लभ हो जाय। शिक्षा के उद्देश्य देश, काल तथा समाज की विचारधाराओं के अनुसार बदलते रहते है। वस्तुतः पाठ्यक्रम की रूपरेखा में भी परिवर्तन होता रहता है। इसलिए यदि यह कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा कि किसी देश की शिक्षा का पाठ्य-क्रम उस देश की नीति अथवा विचारधारा के अनुसार निश्चित होता है। यदि हम शिक्षा के इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टिपात करें तो उक्त विचार की सत्यता पूर्णतया सिद्ध हो जाती है। प्राचीन काल में स्पार्टा की शिक्षा का उद्देश्य राज्य की रक्षा करना था। अतः उनके पाठ्य-क्रम में खेल, कूद, शारीरिक-व्यायाम, कुश्ती, कृत्रिम युद्ध, सैनिक शिक्षा इत्यादि की प्रधानता थी। ऐथिन्स निवासी व्यक्तित्व के विकास के पक्षपाती थे। उनके राष्ट्र में व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार उन्नति करने की स्वतन्त्रता थी। अतः वहां की शिक्षा के पाठ्य-क्रम में विभिन्न कलाओं को प्रधानता दी गई थी। भारतवर्ष में भी वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक परिस्थिति, काल, विचार तथा आदर्शानुकूल पाठ्य-क्रम की रूप-रेखा में परिवर्तन होता रहा है। जो आज हमारे देश की पाठशालाओं का करीकुलम है वह दो हजार वर्ष पूर्व न था और जो विषय पुराने गुरुकुलों में पढ़ाये जाते थे वे आज की पाठशालाओं में नही पढ़ाये जाते। इसका मुख्य कारण यही है कि आज हमारे जीवन का लक्ष्य तथा शिक्षा का उद्देश्य पुराने ऋषियों से भिन्न है। अतएव हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि शिक्षा के पाठ्य-क्रम का स्वरूप देश की शिक्षा के आदर्शानुकूल निश्चित किया जाता है और शिक्षा का उद्देश्य बदल जाने पर पाठ्य-क्रम की रूप-रेखा भी बदल जाती है। इसके अतिरिक्त एक ही काल के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के शिक्षा के पाठ्य-क्रम में विभिन्नता पाई जा सकती है क्योंकि एक ही काल में दो भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के जीवन तथा शिक्षा के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। इंगलैंड-रूस, अमरीका तथा भारतवर्ष की आज की पाठशालाओं के करीकुलम का जब हम अध्ययन करते हैं तो इस कथन की सत्यता स्पष्ट हो जाती है। आज हमारे देश के कर्णधार तथा शिक्षा-शास्त्री हमारे जीवन तथा देश के नए-नए लक्ष्यों के अनुकूल शिक्षा के पाठ्य-क्रम की रूप-रेखा बनाने में प्रयत्नशील है।

दार्शनिक धाराएं तथा पाठ्य-क्रम–प्रकृतिवाद

जिस प्रकार शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में दार्शनिकों के विभिन्न दृष्टिकोण हैं, उसी प्रकार पाठ्य-क्रम संगठन के सम्बन्ध में भी उनके भिन्न-भिन्न विचार हैं। इन विचारों के अनुसार पाठ्य-क्रम निर्धारण के सिद्धान्त निश्चित होते हैं। अतः हम यहाँ पर विभिन्न विचारों अथवा धाराओं के अनुसार पाठ्य-क्रम निर्धारण के सिद्धान्तों पर विचार करेंगे। यद्यपि यह सत्य है कि विभिन्न विचारधाराओं ने अपने-अपने मतानुकूल पाठ्य-क्रम-निर्माण के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं परन्तु इन पर विचार करने से यह सम्भव है कि मत-भिन्नता के साथ-साथ हमें मत-एकता भी दिखलाई पड़ जावे। रौस महोदय के अनुसार हमें कुछ ऐसे तथ्य अवश्य मिल जायेंगे जहाँ भिन्न-भिन्न धाराओं का अन्तर समाप्त हो जाता है और विभिन्न धारायें एक दूसरे की पूरक प्रतीत होती हैं।

प्रकृतिवाद — प्रकृतिवादियों के अनुसार शिक्षा के पाठ्य-क्रम के विषयों का निर्वाचन बालक की प्राकृतिक रुचियों, क्रियाओं तथा वर्तमान अनुभवों पर निर्भर होना चाहिए। पाठ्य-क्रम में वे ही विषय सम्मिलित होने चाहिएं जो विकासमान बालक की विभिन्न अवस्थाओं की आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। पाठ्य-क्रम ऐसा होना चाहिए जिसमें बालक को स्वयं अपने अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिल सके। उसकी शिक्षा में प्रौढ़ों का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। उसे स्वतन्त्र वातावरण में बढ़ने का अवसर मिलना चाहिए ताकि वह एक स्वतन्त्र, क्रियाशील, प्रसन्नचित तथा परिस्थितियों के अनुकूल मनुष्य बन सके। प्रकृतिवादी 'ज्ञान के लिए ज्ञान' के आदर्श के विरोधी हैं। अतः इस सिद्धान्त के आधार पर वे पाठ्य-क्रम का निर्माण नहीं करते। प्रकृतिवादी अपने पाठ्य-क्रम में खेल कूद, स्वास्थ्य-रक्षा, प्रकृति-निरीक्षण भूगोल, इतिहास आदि विषयों को स्थान देते हैं।

प्रकृतिवाद और प्रयोगवाद—प्रकृतिवादी विचार धारा को प्रयोगवादी विचार-धारा पूरा करती है। प्रयोगवाद के अनुसार उपयोगिता के सिद्धान्त के आधार पर पाठ्य-क्रम का निर्माण होना चाहिए। प्रयोगवादियों के अनुसार पाठ्य-क्रम में उन्हीं विषयों तथा अनुभवों को सम्मिलित करना चाहिए जो बालक को आगामी जीवन के लिए तैयार करने में उपयोगी सिद्ध हों। पाठ्य-क्रम में उस ज्ञान और कौशल का समावेश होना चाहिये जिसकी बालक को आवश्यकता हो और जो उसे वर्तमान तथा भावी जीवन में काम आवे। स्पेन्सर महोदय ने भी ऐसे ही विचारों का प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं कि बालक को उन्हीं वस्तुओं की शिक्षा देनी चाहिए जो वास्तव में उसके लिए उपयोगी हों। 'बोर्ड ऑफ एजूकेशन' (Board of Education) द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'सजेशन्स' (Suggestions) में लिखा है—'हमारे पाठ्य-क्रम पर हमारी इस इच्छा का यह प्रभाव पड़ा है कि बालक वे आदतें, युक्तियां, रुचियां और

स्वाधीनता प्राप्त करे जो उसके तथा उसके साथियों के कल्याण के लिये आवश्यक हों।" इसी उपयोगिता के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक बालक को अपनी भाषा बोलने, लिखने-पढ़ने की शक्ति तथा गणित और मापने का ज्ञान होना चाहिए। इसी प्रकार उसके लिये स्वास्थ्य-विज्ञान, शारीरिक शिक्षा, प्रयोगात्मक निर्देशन का इतना महत्त्व है कि इनको प्रारम्भिक स्कूल के पाठ्य-क्रम से हटाया नहीं जा सकता। उक्त सिद्धान्त के अनुसार यह 'अध्ययन का न्यूनतम पाठ्य-क्रम' (Minimum course of studies) है। उपर्युक्त विषयों के साथ-साथ पाठ्य-क्रम में इतिहास भूगोल तथा विज्ञान को भी सम्मिलित करना चाहिए क्योंकि इनके अध्ययन से बालक आधुनिक जीवन की समस्याओं को सुगमता से सुलझा सकता है। आगे चलकर उपयोगिता का सिद्धान्त किसी व्यवसाय की शिक्षा की भी माँग करता है जो जीविकोपार्जन के हेतु परमावश्यक है। यद्यपि प्रयोगवादी शिक्षक उपयोगिता के सिद्धान्त पर बल देता है परन्तु वह उपयोगिता के नियम का सकुचित अर्थ नहीं लगाता। उसका आदर्श तो मानव-प्रगति है और स्कूल को वह इस लक्ष्य की प्राप्ति का सबसे मुख्य साधन समझता है। यहाँ पर वह प्रकृतिवादी शिक्षक से अधिक दूर हो जाता है और स्कूल द्वारा सुव्यवस्थित अनुभव देने की आवश्यकता पर बल देता है; परन्तु जहाँ तक पाठ्य क्रम के विषयों के निर्वाचन का प्रश्न है वह प्रकृतिवादियों द्वारा प्रतिपादित पाठ्यक्रम-निर्धारण के सिद्धान्तों का समर्थन करता है। वह उनके इस विचार से संतोष महसूस है कि शिक्षा के पाठ्य-क्रम का निर्माण बालक की रुचियों,

सक्रियता नष्ट हो जायगी। हमें उसकी सक्रियता नष्ट नहीं करनी चाहिए वरन् उससे लाभ उठाना चाहिए। हमें उसे क्रिया करने का अवसर देना चाहिए और समस्त ज्ञान को उसकी क्रिया के चारों ओर केन्द्रित कर देना चाहिए जिससे कि वह अनुभवों को बढ़ाकर ज्ञान प्राप्त कर सके। सब विषयों का क्रियाओं के चारों ओर इस प्रकार बाधना चाहिए कि बालक क्रियाओं से विभिन्न विषय का ज्ञान प्राप्त कर सके। इस प्रकार जिन अनुभवों को वह प्राप्त करेगा वे उसकी स्वाभाविक रुचियों और क्रियाओं पर आधारित होंगे। स्पष्ट है कि बालक की क्रियाओं के आधार पर पाठ्य-क्रम का *निर्धारण होना चाहिए।* दूसरे शब्दों में पाठ्य-क्रम-निर्धारण का दूसरा सिद्धांत क्रिया है। पाठ्य-क्रम में उन क्रियाओं को स्थान देना चाहिए जो स्वतन्त्र, सामाजिक और सोद्देश्य हों।

प्रयोगवादियों के अनुसार पाठ्य-क्रम के संगठन का तीसरा आधार बालक की प्राकृतिक अभिरुचिया है। ड्यूवी के अनुसार बालक की स्वाभाविक अभिरुचिया चार प्रकार की होती हैं:— (१) बातचीत तथा विचारों के आदान-प्रदान की रुचि (Interest in conversation and communication), (२) खोज की रुचि (Inquiry), (३) रचना की रुचि (Interest in construction) और (४) कलात्मक अभिव्यक्ति की रुचि (Artistic expression)। प्रारम्भिक कक्षाओं का पाठ्य-क्रम इन्हीं रुचियों पर आधारित होना चाहिए। दूसरे शब्दों में *प्रारम्भिक कक्षा का कार्य-क्रम संगीत, कला, गणना, दुकानदारी,* कताई, बुनाई, कपड़े का काम, लकड़ी का काम, बागबानी, चित्र बनाना, नमूने बनाना, भोजन बनाना आदि कार्यों से आरम्भ होना चाहिए। लिखना, पढ़ना, गिनना बालक बाद में साधन के रूप में सीखेंगे, साध्य के रूप में नहीं। स्कूल की छोटी-छोटी क्रियाएँ आगे चलकर विस्तृत रूप धारण करेंगी और बालक उनके द्वारा कृषिशास्त्र, प्राणिशास्त्र, वनस्पति विज्ञान, गणित, बीजगणित, इन्जीनियरिंग आदि विषयों का ज्ञान सुगमता से प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार ड्यूवी के अनुसार पाठ्य-क्रम में बालक के वास्तविक जीवन की विभिन्न अभिरुचियों को स्थान मिलना चाहिए। दूसरे शब्दों में बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं की स्वाभाविक अभिरुचियों के आधार पर *पाठ्य-क्रम का निर्धारण होना चाहिए।* बालक की शिक्षा जैसे-जैसे आगे बढ़े, उसकी शिक्षा के पाठ्य-क्रम की वस्तु का निर्वाचन उसके वास्तविक जीवन की भिन्न-भिन्न क्रियाओं पर आधारित होना चाहिए। इस प्रकार ड्यूवी के कथनानुसार पाठ्य-क्रम का संगठन बालक की प्रकृति तथा उसके जीवन की वास्तविकता पर निर्भर है। यहां पर प्रकृतिवाद और प्रयोगवाद में कोई अन्तर नहीं रह जाता। लगभग सभी शिक्षा-शास्त्री प्रकृतिवाद के इस दृष्टिकोण से पूर्णतः सहमत है।

आदर्शवाद

आदर्शवादियों के अनुसार मानव के विचारों तथा आदर्शों के आधार पर पाठ्य-

क्रम का निर्माण होना चाहिए। वे इस सम्बन्ध में बालक, उसकी वर्तमान तथा भावी क्रियाओं को कोई महत्व नहीं देते। वे बालक के वर्तमान अनुभवों की अपेक्षा समस्त मानव जाति के अनुभवों को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। अतः उनके विचार से पाठ्य-क्रम में समस्त मानव जाति के अनुभवों का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। मानव दो प्रकार से अनुभव ग्रहण करता है— भौतिक वातावरण के सम्पर्क से तथा अपने साथियों के सम्पर्क से। अतः आदर्शवादियों के कथनानुसार पाठ्य-क्रम में विज्ञान सम्बन्धी तथा मानवीय विषयों का समावेश होना चाहिए। पाठ्य-क्रम के इन दो प्रमुख भागों के अन्तर्गत कितने ही विषय चुने जा सकते हैं।

अनुभव की तीन प्रक्रियाएं (ज्ञान, संवेदन और क्रिया) का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पाठ्य-क्रम संघटन का एक दूसरा आधार प्रस्तुत करता है। रौस महोदय इसी आधार के समर्थक हैं। उनके अनुसार स्कूल के पाठ्य-क्रम में मानव क्या जानता है, उसके विचार क्या हैं, वह क्या करता है अथवा क्या करने में प्रयत्नशील है, इन बातों का समावेश होना चाहिए। प्रथम प्रक्रिया के अनुसार भाषा, साहित्य, विज्ञान, गणित, इतिहास भूगोल को, दूसरी के अनुसार कला कविता और संगीत को और तीसरी के अनुसार मानव की उन व्यावहारिक कलाओं को जिनसे वह अपनी भोजन, भवन तथा वस्त्र सम्बन्धी प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करता रहा है, पाठ्य-क्रम में स्थान मिलना चाहिए।

पाठ्य-क्रम निर्धारण के सम्बन्ध में नन महोदय के विचार भी आदर्शवादी हैं। उनके अनुसार शिक्षालय का कर्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र की भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति को दृढ़ बनाए, उसके ऐतिहासिक क्रम को भंग न होने दे, उसकी पूर्व प्राप्त निष्पत्तियों की सुरक्षा करे और उसके भविष्य को उज्जवल बनाने का प्रयत्न करे। शिक्षालय का यह कार्य पाठ्य-क्रम द्वारा ही पूर्ण हो सकता है। अतएव पाठ्य-क्रम में उन सब विषयों का समावेश होना चाहिए जिनसे व्यक्ति को मानव सभ्यता की झलक मिल सके। नन के कथनानुसार पाठ्य-क्रम में केवल उन्हीं विषयों तथा क्रियाओं को स्थान मिलना चाहिए जो संसार के लिये सबसे अधिक मूल्यवान् तथा महत्वपूर्ण हों और जो मानव के भावों की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति हैं। (The grand expressions of human spirit) ये क्रियायें दो प्रकार की होती हैं:— प्रथम वे जिनसे व्यक्ति और समाज की जीवन-रक्षा होती है। इनके हेतु स्वास्थ्य रक्षा, शरीर-साधन (Bodily grace), सदाचार, सामाजिक संगठन, नीति, प्रेम तथा धर्म की शिक्षा होनी चाहिए। ये क्रियायें., क्रियायें ही होंगी। इन्हें विषय नहीं बनाया जा सकता। इन क्रियाओं का मार्ग दर्शन शिक्षण और अध्ययन से होना चाहिए। द्वितीय प्रकार की क्रियाएं वे है जिनसे सभ्यता का निर्माण होता है। इनके हेतु शिक्षा के पाठ्य-क्रम में (१) साहित्य, मातृ भाषा की उच्च रचनायें, (२) कला और संगीत,

(३) हस्त कौशल, बुनाई, खुदाई, लिखाई इत्यादि, (४) विज्ञान और गणित, (५) भूगोल, तथा (६) इतिहास को स्थान देना चाहिए।*

आदर्शवाद तथा प्रयोगवाद— उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाठ्य-क्रम का निर्धारण ज्ञान-प्राप्ति तथा तथ्यों के संकलन पर न होकर मानव की क्रियाओं तथा अनुभवों के आधार पर होना चाहिए। शिक्षण का क्या आशय है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए नन महोदय ने लिखा है, "स्कूल कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ ज्ञान सीखा जाता हो अपितु ऐसा स्थान है जहाँ बालक कुछ क्रियाओं में दक्षता प्राप्त करते हैं।" इस बात का बोर्ड ग्राफ एजुकेशन ने भी समर्थन किया है। इसके अनुसार, "पाठ्य-क्रम ज्ञान तथा तथ्यों का संकलन नहीं वरन् क्रियाओं और अनुभवों का संकलन है।" स्पष्ट है कि पाठ्य-क्रम का संगठन 'क्रिया' तथा 'अनुभव' के सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए। यहाँ पर हमें ड्यूवी तथा नन के विचारों में पर्याप्त अनुरूपता दिखलाई पड़ती है। अन्तर केवल यह है कि ड्यूवी के अनुसार बालक को स्वयं अपनी क्रियाएं चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए और नन के अनुसार क्रियाओं का निर्वाचन जाति की सभ्यता पर निर्भर होना चाहिए। पर जब हम ड्यूवी के विचारों से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि बालक अपने जीवन में स्वत. ही आदि-मानव की क्रियाओं की पुनरावृत्ति करता है और इसकी तुलना नन के इस विचार से करते हैं कि शिक्षा की प्रारम्भिक अवस्था के पाठ्य-क्रम में आदि-मानव की क्रियाओं की प्रतिच्छाया अंकित होनी चाहिए तो इन दोनों शिक्षा-शास्त्रियों के पाठ्य-क्रम-निर्धारण सम्बन्धी विचारों का अन्तर बिल्कुल समाप्त हो जाता है।

'ड्यूवी' और 'नन' दोनों शिक्षा की निष्क्रियता (Passivity), औपचारिकता (Formality) तथा शब्दाडंबर (Verbalism) का विरोध करते हैं। अनेक व्यक्तियों की धारणा है कि ड्यूवी के शिक्षा-सिद्धान्त बालक और उसकी रुचियों की उपेक्षा से तथा पाठ्य-क्रम के ऐसे विभाजन से जिसमें एक विषय दूसरे से नितान्त पृथक् हो हमें सावधान करते हैं। ड्यूवी के अनुसार पाठ्य क्रम के विभिन्न विषयों के समवेतीकरण (Integration) का सर्वोत्कृष्ट साधन बालक स्वयं है। बालक स्वयं मनुष्य बनने के रास्ते पर है अत: उसकी क्रिया स्वयं साध्य नहीं होती; और यह भी सत्य है कि शिक्षा उस भावी जीवन की तैयारी है जो स्कूल से परे है। 'नन' के आदर्शवादी विचार किसी लक्ष्य की ओर संकेत करते हैं। यदि प्रकृतिवादी और प्रयोगवादी के 'क्रिया के सिद्धान्त' भी किसी लक्ष्य की ओर संकेत करें तो इन विचारधाराओं और आदर्शवादी विचारधारा के बीच कोई संघर्ष नहीं रह जाता। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आदर्शवादी शिक्षा लक्ष्य पर बल देती है और

*Education: Its Data and First Principles — page 243.

प्रकृतिवादी शिक्षा साधन पर। आदर्शवादी उपस्थित अभिरुचियों को प्रयोग में लाने की अपेक्षा नई-नई अभिरुचियों की रचना करना अपना लक्ष्य समझते हैं।

पाठ्य-क्रम के अन्य आधार- (१) मनोवैज्ञानिक

दार्शनिक विचारधाराओं के अनुसार पाठ्य-क्रम निर्धारण के सिद्धान्तों का विवेचना करने के पश्चात् हम शिक्षा के अन्य आधारों के अनुसार पाठ्य-क्रम निर्धारण के सिद्धान्तों पर विचार कर लेना उचित समझते हैं। शिक्षा के अन्य आधारों में मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा वैज्ञानिक आधारों की गणना की जाती है। इन आधारों में मनोवैज्ञानिक आधार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। अतः सर्वप्रथम हम शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार के अनुसार पाठ्य-क्रम निर्धारण के सिद्धान्तो का अध्ययन करेंगे।

मनोवैज्ञानिक आधार—आधुनिक शिक्षा-शास्त्री बालक को पाठ्य-क्रम का आधार मानते हैं। उनके कथनानुसार बालक की आवश्यकताओं, रुचियों तथा अनुभवों को ध्यान मे रखकर पाठ्य-क्रम का सयोजन करना चाहिए। शिक्षा बालक के लिये है, न कि बालक शिक्षा के लिये। अतः पाठ्य-क्रम ऐसा होना चाहिए जो बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में सहायक हो। उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास उसकी व्यक्तिगत योग्यताओं, रुचियों तथा शक्तियों के विकास पर और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति पर निर्भर होता है। मनोविज्ञान के अध्ययन द्वारा यह भली भांति जाना जा सकता है कि एक बालक की क्या योग्यता है, उसकी शक्तियां क्या-क्या हैं; उसकी रुचि किस ओर है और उसकी आवश्यकताएँ क्या-क्या हैं। इसलिये पाठ्य-क्रम का निर्धारण मनोविज्ञान पर आधारित होना चाहिए। आज सभी शिक्षा-शास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि पाठ्य-क्रम का मनोवैज्ञानिक आधार होना अत्यन्त आवश्यक है। तभी बालक के शारीरिक, मानसिक तथा भावनात्मक विकास में पाठ्य-क्रम का लाभ उठाया जा सकता है। इस दृष्टि से पाठ्य-क्रम में उन्हीं विषयों तथा क्रियाओं को सम्मिलित करना चाहिए जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करें और उसकी व्यक्तिगत योग्यताओं को बढ़ावें। मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि बालकों की प्रकृति, बुद्धि, योग्यता, आवश्यकता, रुचि आदि में पर्याप्त भिन्नता होती है। इसलिये मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि बालकों की व्यक्तिगत असमानता के कारण पाठ्य-क्रम के कठमुल्लेपन को तलाक दे देना चाहिए। दूसरे शब्दों में पाठ्य-क्रम कठोर और जटिल नहीं होना चाहिए। पाठ्य-क्रम इतना लचीला होना चाहिए कि वह सब स्तरों के बालकों को आवश्यकतानुसार शिक्षित कर सके। वह इतना व्यापक हो कि सब सामान्य बालकों के हित का साधक हो। पाठ्य-क्रम में बालक की आन्तरिक, जन्मजात प्रवृत्तियों का पूर्ण उपयोग होना चाहिए। इनके उपयोग से बालक की जन्मजात प्रवृत्तियों का और शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण होता है।

इसलिये पाठ्य-क्रम में खेल, अनुभव और क्रियात्मक कार्यों को महत्त्वपूर्ण स्थान देना चाहिए। इसके अतिरिक्त बालक के विकास की कई अवस्थायें होती हैं। भिन्न भिन्न अवस्था में बालक की आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं। इसलिये पाठ्य-क्रम में विषयों और क्रियाओं का संयोजन इस प्रकार होना चाहिए कि वह बालक की विभिन्न श्रेणीगत आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। इस कार्य को पूरा करने के लिये शिक्षक को बालक के विकास की विभिन्न श्रेणियों की आवश्यकताओं का ज्ञान प्राप्त करना होगा और उन्हीं को ध्यान में रखकर पाठ्य-क्रम बनाना होगा।

सामाजिक आधार

बालक की आवश्यकताएं दो प्रकार की होती है— (१) वैयक्तिक, और (२) सामाजिक। वैयक्तिक आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से हम पाठ्य-क्रम निर्धारण के सिद्धान्तों की चर्चा कर चुके हैं। अत. अब हम सामाजिक दृष्टिकोण से पाठ्य-क्रम निर्धारण के सिद्धान्तों को निश्चित करेंगे। सामाजिक दृष्टिकोण से कौन-कौन से विषय पाठ्य-क्रम में सम्मिलित किये जायें और कौन-कौन से न किये जायें - इस समस्या का हल उपयोगिता के सिद्धान्त पर निर्भर है। जो विषय अथवा क्रियाएं सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हों अथवा जो व्यक्ति की प्रमुख तथा गौण दोनों प्रकार की सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकें वे ही पाठ्य-क्रम मे सम्मिलित की जायें। हमें पाठ्य-क्रम परम्परागत प्रणाली के आधार पर नहीं बनाना चाहिए अपितु सामाजिक आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों को ध्यान में रखकर बनाना चाहिए। ड्यूवी ने परम्परा तथा परम्परागत व्यवस्था, पाठन-प्रणाली, पाठ्य-क्रम आदि का घोर विरोध किया है। वे पाठशाला को एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था मानते हैं। उनके कथनानुसार स्कूल में समाज की वे सब क्रियाएं लघु रूप में केन्द्रीभूत होनी चाहिए जो स्कूल के बाहर बृहद रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। इससे बालक ज्ञान प्राप्त करते हैं और साथ ही साथ समाज की बृहत् क्रियाओं को करने के लिये सुसज्जित भी हो जाते हैं। जो क्रियाएं सामाजिक नहीं हैं अथवा जिनकी समाज के लिये कोई उपयोगिता नहीं है उन्हें पाठ्य-क्रम में महत्त्व का स्थान नहीं मिलना चाहिए।

कुछ शिक्षा-शास्त्रियों की धारणा है कि शिक्षा का पाठ्य-क्रम ऐसा होना चाहिए जो समाज के सर्वश्रेष्ठ उद्देश्यों की पूर्ति कर सके। इस उद्देश्य के अनुसार समाज के सदस्य होने के नाते समाज प्रत्येक बालक से यह आशा करता है कि समाज का यह एक उपयोगी अंग बने और समाज के विकास में अपना योगदान दे। इसके लिये उसे समाज में रहने की कला अथवा विधियों की जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त समाज के विकास में अपने पूर्वजों द्वारा किये गये प्रयास अथवा प्रयत्नों की जानकारी भी उसके लिये आवश्यक है।

अतः पाठ्य-क्रम मे उन विषयों, विधियों तथा जानकारियों का समावेश कर

आवश्यक है जो बालक को उक्त बातों की शिक्षा देती हों। इस दृष्टि से पाठ्य-क्रम में
समाज के इतिहास, संस्कृति और साहित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान देना चाहिए। इस
प्रसंग में हम नन महोदय के विचारों का उल्लेख पीछे कर चुके हैं। अतः उनकी पुनरा-
वृत्ति अनावश्यक है। उनके विचारों का सार यह है कि पाठ्य-क्रम पर समस्त मानव
जाति के कृत्यों अनुभवों, रीति-रिवाजों तथा संस्कृतियों का प्रतिबिम्ब होना चाहिए।
दूसरे शब्दों में पाठ्य-क्रम में मानव जीवन तथा सभ्यता की झलक मिलनी चाहिए।
पाठ्य-क्रम में वे ही विषय सम्मिलित करने चाहिएँ, जिनका जीवन और समाज में
अधिक से अधिक उपयोग, प्रयोग और निर्वाह हो सके।

सामाजिक दृष्टिकोण से किसी जाति के पाठशालाओं का पाठ्य-क्रम उस जाति
की दशा, वातावरण तथा परिस्थितियों पर आधारित होना चाहिए। सामाजिक
परिस्थितियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण कर और उनको ध्यान में रखकर पाठ्य-क्रम
बनाना चाहिए जिसमें समाज ही सूक्ष्म रूप में स्कूल में प्रतिबिम्बित हो जाये। समाज
की दशा तथा परिस्थितियां सदैव एक सी नहीं रहतीं। वे परिवर्तनशील हैं। अतः
पाठ्य-क्रम भी परिवर्तनशील होना चाहिए जिससे कि उसमें परिस्थितियों तथा
वातावरण के अनुकूल परिवर्तन किया जा सके। यदि पाठ्य-क्रम लचीला तथा
परिवर्तनशील न होगा तो वह समाज के वातावरण तथा परिस्थिति के अनुकूल होने
की अपेक्षा कुछ और ही होगा। इसीलिये किसी विद्वान ने कहा है, "एक उत्तम
पाठ्य-क्रम जिस जाति के लिए बनाया जाये, उसके अनुकूल हो।"

हमारा समाज प्रजातन्त्रात्मक है। अतः शिक्षा का पाठ्य-क्रम ऐसा होना चाहिये
जो प्रजातन्त्र की भावना को पोषित करे। वह इतना लचीला तथा उदार हो कि सभी
बालकों को अपनी योग्यतानुसार बढ़ने का अवसर दे क्योंकि प्रजातन्त्रात्मक समाज में
सभी नागरिकों को अपना पूर्ण विकास करने का समान अवसर प्राप्त होना चाहिए।
अतएव पाठ्य-क्रम का धर्म है कि वह सब को आवश्यकतानुकूल शिक्षित करे और
किसी को भी शिक्षा से वंचित न रखे। इसके अतिरिक्त आज का बालक कल का
नागरिक है। शिक्षा का लक्ष्य उसे उपयोगी तथा उत्तम नागरिक बनाना है। इस दृष्टि
से पाठ्य-क्रम ऐसा होना चाहिए जो उसे नागरिकता की शिक्षा दे और उसमें
राष्ट्रीयता की भावना को जाग्रत करे। पाठ्य-क्रम में ऐसे विषय सम्मिलित किए जायें
जो उन्हें समाज का उपयोगी सदस्य बनाने में, समाज के उत्तरदायित्वों तथा कार्यों को
सिखाने में, राष्ट्रीय भाव भरने में राष्ट्र पर गर्व कराने में सहायक हों। इस उद्देश्य
की पूर्ति के हेतु पाठ्य-क्रम में भाषा, साहित्य, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, [illegible]
तथा शारीरिक शिक्षा तथा सैनिक प्रशिक्षण आदि विषयों का समावेश होना चाहिए।
साथ ही साथ यदि शिक्षा के प्रत्येक विषय की शिक्षा के उक्त उद्देश्य को ध्यान में
रखकर पढ़ाया जाय तो वांछित लक्ष्य की प्राप्ति हो सकेगी। पाठ्य-विषय तथा

पाठ्य-सामग्री ऐसी होनी चाहिए जिससे बालकों में सहानुभूति सहयोग, समाज-सेवा, देश-भक्ति, सामूहिक उत्तरदायित्व, नेतृत्व आदि सामाजिक गुणों का विकास हो सके। रेमन्ट महोदय के अनुसार पाठ्य-क्रम ऐसा होना चाहिए जो बालक के जीवन को सफल बनाने में सहायक हो। वे सामाजिक उपयोगिता को जीवन की सफलता की कसौटी मानते हैं।

वैज्ञानिक आधार

आधुनिक समाज प्रजातन्त्रात्मक होने के साथ-साथ व्यवसायात्मक भी है। अतः कुछ शिक्षाविदों की धारणा है कि पाठ्य-क्रम में भाषा तथा साहित्यिक विषयों को ही महत्त्व का स्थान नहीं देना चाहिए वरन् पाठ्य-क्रम में उन विषयों को भी सम्मिलित करना चाहिए जो व्यवसाय और विज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं। उनके कथनानुसार जब तक बालक को विज्ञान, व्यवसाय, व्यापार तथा यन्त्रालयों में काम करने की शिक्षा न दी जायगी तब तक वह भावी समाज में कुशलतापूर्वक रहने के लिये तैयार न हो सकेगा। अतएव पाठ्य-क्रम में विज्ञान, व्यापार, व्यवसाय आदि विषयों तथा क्रियाओं को महत्त्व का स्थान मिलना चाहिए। हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार सफल शिक्षा वह है जिससे व्यक्ति अपने जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान कर सके और उसके जीवन को सभी प्रकार से सुखी बनाने में सहायक हो। इस प्रसंग में उसने जीवन के पाँच प्रमुख कार्यों का उल्लेख किया है और बतलाया है कि यदि मनुष्य इन पाँचों कार्यों को सफलतापूर्वक कर सके तो उसका जीवन सुखी और सफल हो सकेगा।* न पाँचों कार्यों तथा व्यवसायों को करने के लिये उसने वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा ावश्यक बतलाई है। उसका कथन है कि शिक्षा के पाठ्य-क्रम में विभिन्न पाठ्य-षयों को वैसा ही महत्त्व का स्थान देना चाहिए जैसा कि जीवन में तत्सम्बन्धी यवसायों का महत्त्व है। वह वैज्ञानिक ज्ञान को साहित्यिक ज्ञान की अपेक्षा अधिक उत्तम तथा उपयोगी समझता है। उसका कथन है कि जीवन के प्रत्येक कार्य में वैज्ञानिक विषयों की आवश्यकता पड़ती है। जीवन का कोई भी कार्य, व्यवसाय तथा उद्योग-धंधा ऐसा नहीं है जिसका वैज्ञानिक विषयों से लगाव न हो। जीवन में व्यक्ति के सम्मुख जीविकोपार्जन की समस्या मुख्य होती है। इस समस्या को सुलझाने के लिये उसे कला-कौशल, उद्योग-धन्धे तथा व्यवसाय की शिक्षा देना अधिक आवश्यक है। उक्त बातों की शिक्षा देने का तात्पर्य वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा देने से है। अतः वैज्ञानिक विषयों की अवहेलना नहीं की जा सकती। स्पेन्सर के मतानुसार पाठ्य-क्रम में कोरे साहित्यिक, . तथा [illegible] विषयों के स्थान पर वैज्ञानिक विषयों को प्रधानता दी [illegible] पाठ्य-क्रम

* इन कार्यों तथा उ [illegible] के वैज्ञानिक आधार' के अध्याय में [illegible]

में भावनात्मक विषयों को महत्त्व का स्थान नहीं देते। वे पाठ्य-क्रम के विषयों का निर्वाचन जीवन की वास्तविकता के आधार पर करते हैं। इस दृष्टि से वे पाठ्य-क्रम में दैनिक कार्यों, व्यवसायों तथा ऐसे विषयों को स्थान देते हैं जिनसे व्यक्ति अपने भावी जीवन में लाभ उठा सके।

स्पेन्सर महोदय वैज्ञानिक विषयों की उपयोगिता की प्रशंसा करते हुए नहीं थकते। वे इससे भी आगे बढ़ जाते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि कला और साहित्य का अध्ययन विज्ञान के बिना असम्भव है। उनका विश्वास है कि सभी प्रकार के विषयों की शिक्षा के लिये विज्ञान की शिक्षा आवश्यक है। उसने वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा के अगणित लाभ बतलाये हैं जिनकी चर्चा स्थानाभाव के कारण कठिन है। केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि स्पेन्सर महोदय ने वैज्ञानिक शिक्षा को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। यहाँ पर वैज्ञानिकों तथा आदर्शवादियों के मत में पर्याप्त भिन्नता दिखलाई पड़ती है। आदर्शवादियों के अनुसार मनुष्य के नैतिक विकास में विज्ञान की शिक्षा उतनी उपयोगी नहीं जितनी साहित्य और इतिहास की। आदर्शवादी शिक्षक के अनुसार विज्ञान मनुष्य को शक्ति तो प्रदान करता है परन्तु उसे शक्ति का ठीक-ठीक उपयोग करना नहीं सिखाता। दूसरे शब्दों में विज्ञान से मनुष्य को हृदय की शिक्षा नहीं मिलती। यह कार्य साहित्य और इतिहास की शिक्षा से सम्पन्न होता है। पर यदि हम हरबार्ट के मतानुकूल पाठ्य-क्रम में विषयों का संकलन करें तो वैज्ञानिकों और आदर्शवादियों की मत-भिन्नता भी कुछ सीमा तक समाप्त हो जाती है। हरबार्ट महोदय के कथनानुसार पाठ्य-क्रम में साहित्य, इतिहास, कविता, संगीत और कला को प्रमुख और भूगोल, गणित, विज्ञान आदि विषयों को गौण स्थान देना चाहिए। पाठ्य-क्रम के इस प्रकार के संगठन से वैज्ञानिक विषयों की अवहेलना नहीं होगी।

पाठ्य-क्रम विभाजन

पाठ्य-क्रम के विषयों को चुन लेने के पश्चात् प्रश्न यह उठता है कि उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध हो। वे एक दूसरे से नितान्त पृथक् रखे जायँ अथवा जंजीर की कड़ियों की भाँति एक दूसरे से गुथे रहें। इस प्रसंग में लगभग सभी शिक्षा-शास्त्रियों का यह मत है कि जिस प्रकार समाज में प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे के सहारे पर टिका हुआ है उसी प्रकार शिक्षा में प्रत्येक विषय परस्पर जोड़कर पढ़ाये जाने चाहिएँ। तभी बालक को समाज में सफलतापूर्वक रहने के लिये तैयार किया जा सकता है। सम्पूर्ण ज्ञान एक इकाई है, उसे पृथक्-पृथक् खंडों में नहीं बाँटा जा सकता। अतः पाठ्य-क्रम के विभिन्न विषयों के बीच समवाय स्थापित करना चाहिए। समवाय इसलिये भी आवश्यक है कि बालक ज्ञान की एकता से परिचित रहे और ज्ञान

के विभिन्न भागों को ही ज्ञान न समझने लग जावे। यदि बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना है तो पाठ्य-क्रम के विषयों की विविधता के बीच समवाय स्थापित करना अनिवार्य है। समवाय के अभाव में शिक्षा के समन्वित उद्देश्य की पूर्ति कठिन हो जावेगी। और जिस निष्क्रियता, औपचारिकता एवं शब्दाडंबर को हम शिक्षा से दूर करना चाहते हैं वही महत्त्व के पद पर आसीन हो जावेगी। नन और ड्यूवी ने हमें इस भूल से बचने का आदेश दिया है। उन्होंने शिक्षा की प्राथमिक अवस्था में समवाय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक बतलाया है। अतः विषयों के स्थान पर आज क्रियाओं की स्थापना कर दी गई है। नन और ड्यूवी ने पाठ्य-क्रम के विभिन्न विषयों के समवेतीकरण का मुख्य साधन बालक बतलाया है। उनका कथन है कि जब तक बालक शिक्षा की समस्त कार्यवाहियों का केन्द्र-बिन्दु है तब तक पृथक्-पृथक् प्रवृत्तियों के पनपने का अवसर नहीं मिलेगा। इस प्रकार ड्यूवी ने पाठ्य-क्रम के विभिन्न विषयों के बीच समवाय रखने के सुझाव का समर्थन किया है।

उपर्युक्त विवरण से यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि नियमित (Formal) शिक्षा बिल्कुल व्यर्थ है और पाठ्य-क्रम का विभाजन अप्रासंगिक तथा अनावश्यक है। यद्यपि सभी शिक्षा-शास्त्री इस बात से सम्मत हैं कि शिक्षा की प्रारम्भिक अवस्थाओं में नियमित शिक्षा को गौण और बालक की सोद्देश्य क्रियाओं को प्रमुख स्थान मिलना चाहिए तथापि वे नियमित शिक्षा का विरोध नहीं करते। उनके कथनानुसार यदि बालक को नियमित आदेशों (Formal Instructions) की आवश्यकता होती है तो उसे नियमित आदेश अवश्य मिलने चाहियें। यही बात पाठ्य-क्रम के विभाजन के सम्बन्ध में ठीक है। स्कूल का यह कर्तव्य है कि वह बालक को समस्त मानव जाति के अनुभवों के सार से परिचित करे और उसे ऐसा ज्ञान दे जो उसके भावी जीवन में काम आ सके। इस कार्य के लिये शिक्षक को मानव-अनुभव के विश्लेषण और खंड-खंड करने की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि तभी वह यह निश्चित कर सकता है कि अनुभव के अमुक भाग को स्कूल में लाभपूर्वक क्रियान्वित किया जा सकता है। इस प्रकार हमें पाठ्य-क्रम को स्वतन्त्र क्रियाओं में विभक्त करना पड़ता है। परन्तु क्रियाएं सोद्देश्य होनी चाहिए जिससे बालक यह अनुभव कर सके कि उसे अपने ज्ञान तथा कौशल का विस्तार करना आवश्यक है अन्यथा जीवन की समस्याओं के हल की सम्भावना कम हो जावेगी। चतुर शिक्षक इस बात का ध्यान रखता है कि बालक का साक्षात् उन कठिनाइयों से हो जाये जो बिना गणित तथा साहित्य के ज्ञान के हल नहीं हो सकतीं। सावधानी इस बात की रखनी चाहिये कि शिक्षा की प्रक्रिया को एक ऐसी लम्बी तैयारी मात्र न समझ लिया जावे जिसका शिक्षार्थी के लिये कोई प्रयोजन न हो। दूसरे शब्दों में यदि शिक्षार्थी को अपने अध्ययन का तत्कालीन लाभ न दिखलाई पड़ेगा तो बहुत सम्भव है कि वह उस तैयारी को निरर्थक, निष्प्रयोजन एवं लाभशून्य

समझे। अतएव पाठशालीय क्रियाओं का तत्कालीन प्रयोजन अनुभव कराना, एक सफल पाठ्य-क्रम एवं शिक्षक का प्रथम कर्तव्य है।

नन द्वारा प्रस्तावित पाठ्य-क्रम के आदर्श को अनेक शिक्षा-शास्त्री कल्पना आदर्श मात्र मानते हैं। उनके कथनानुसार नन का पाठ्य-क्रम लक्ष्य सुन्दर और आदर्श तो अवश्य है परन्तु वास्तविक जगत में उसकी प्राप्ति असम्भव है। पाठ्य-क्रम के इस आदर्श उद्देश्य– मानव जगत की सर्वोत्कृष्ट निष्पत्तियों का साक्षात्कार -को साधारण योग्यता का बालक प्राप्त नहीं कर सकता। रोस महोदय का कथन है कि उक्त साक्षात्कार पूर्णरूपेण भले ही सम्भव न हो परन्तु आंशिक रूप में शिक्षा की विभिन्न अवस्थाओं में यह अवश्य सम्भव हो सकता है। प्रो० ए० एन०. व्हाइटहेड (Prof. A. N. Whithead) ने शिक्षा जीवन की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है। ये तीन अवस्थाएं इस प्रकार हैं :—

(१) कौतूहल (Romance),
(२) यथार्थता (Precision),
(३) सामान्यीकरण (Generalisation)।

प्रत्येक विद्यार्थी के शिक्षा-जीवन की पहली अवस्था ऐसी होती है जिसमें बालक के मानस में वस्तु जगत के सामग्री-वैचित्र्य के कारण और उसके विचार और अनुभवों के कारण कौतूहल-सा होता है। इसी कौतूहलपूर्ण वातावरण में वह सब कुछ सीखता है। कौतूहल की अवस्था समाप्त होने पर यथार्थता की अवस्था आरम्भ होती है जिसमें बालक ठीक-ठीक नियम निर्धारण तथा तथ्य-संकलन करने के लिए प्रेरित होता है। इसमें वह अपने ज्ञान व कौशल को बढ़ाता है। किशोरावस्था उसके शिक्षा जीवन की तीसरी अवस्था है। इस अवस्था में उसके मन में सामान्यीकरण की उत्कंठा जाग्रत होती है। इस अवस्था में शिक्षार्थी विस्तृत दृष्टिकोण अपनाने तथा मूल सिद्धान्तों को समझने का प्रयत्न करता है। 'व्हाइटहेड' महोदय के अनुसार पाठ्य-क्रम मे उक्त तीनों अवस्थाओं का समावेश होना चाहिए। दूसरे शब्दों में पाठ्य-विषयों का रूप तथा उनकी सीमा उक्त अवस्थाओं के अनुसार ही निर्धारित होनी चाहिए। नन महोदय ने भी शिक्षण-प्रक्रिया के तीन सोपान माने हैं। उन्होने इन तीन सोपानों को 'जिज्ञासा' (Wonder), 'उपयोगिता' (Utility) और 'व्यवस्था' (System) की संज्ञा से विभूषित किया है। प्रत्येक विषय के शिक्षण में इन तीन सोपानों का अनुकरण आवश्यक है क्योंकि ये तीनों बाल-विकास के भी सोपान हैं। उदाहरणार्थ इतिहास का शिक्षण दन्तकथाओं तथा कहानियों से होना चाहिए। कालान्तर में इनकी जगह पर बालक की ऐतिहासिक घटनाओं का ठीक-ठीक पता लगाने की प्रवृत्ति स्थान पावेगी। तत्पश्चात् घटनाओं का संकलन होगा और सुस्पष्ट ऐतिहासिक तथ्यों को उपलब्ध किया जावेगा जिससे वर्तमान को समझने में सहायता मिले। इतिहास-शिक्षण

का आदर्श तभी पूर्ण हो सकेगा जबकि हम मानव के कार्यों की विभिन्न धाराओं को समझ सकें और आज की उलझन भरी दुनिया को सही दृष्टिकोण से देख सकें।

प्रश्न

(१) पाठ्य-क्रम-संगठन के प्रमुख आधार क्या है ? समन्वित पाठ्य-क्रम के क्या लाभ हैं।

(२) पाठ्य-क्रम निर्माण की समस्या पर विभिन्न दार्शनिक मतवादों की विरोधी भावधाराओं की मुख्य युक्तियों का उल्लेख कीजिए। इन विरोधी मतों का क्या समन्वय हो सकता है और कैसे ?

(३) किसी बालक की शिक्षा में पाठ्य-क्रम का क्या कार्य होना चाहिए ; पाठ्य-क्रम की अन्तर्वस्तु (content) को निर्धारित करने मे किन सिद्धान्तों का प्रयोग होना चाहिए ?

इक्कीसवाँ अध्याय

स्वतन्त्रता और अनुशासन

(Freedom and Discipline)

भूमिका— शिक्षा के एक विवाद-ग्रस्त प्रश्न पर हम पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं। अब हम शिक्षा के दूसरे विवाद-ग्रस्त प्रश्न पर विचार करेंगे। विवाद-ग्रस्त प्रश्नों के मध्य 'स्वतन्त्रता तथा अनुशासन' का प्रश्न भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह प्रश्न प्रारम्भ से ही महत्वपूर्ण रहा है और सभी शिक्षा-शास्त्रियों ने इसकी महत्ता पर विशेष बल दिया है। शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा का लक्ष्य कभी 'अनुशासन' माना है तो कभी स्वतन्त्रता। इस प्रकार 'अनुशासन तथा स्वतन्त्रता' को लेकर प्राचीन काल से शिक्षा-शास्त्रियों में वाद-विवाद चलता आ रहा है। आधुनिक काल में एक दल ऐसे व्यक्तियों का खड़ा हो गया है जो बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता देने के समर्थक हैं। अनुशासन परम्परागत शिक्षा की विचारधारा है। (Discipline is the traditional conception of Education.) अनुशासन के लिये शिक्षा देने का विचार प्राचीन काल से ही प्रचलित है। हमारे पूर्वज बालक की प्रकृति बदलने के लिये उस पर नियन्त्रण रखने की राय देते हैं। प्राचीन काल में लगभग सभी व्यक्तियों का विचार था कि केवल नियन्त्रण द्वारा ही बालक में अनुशासन की भावना जागृत हो सकती है। यह विचार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक हमारा मार्ग-प्रदर्शन करता रहा, परन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही 'शिक्षा के लिये स्वतन्त्रता' के नारे प्रबल हो उठे। हमें यह बतलाया गया कि बालक को शिक्षित करने के लिये किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना चाहिए अपितु उसे स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए जिससे कि वह स्वयं का प्रकाशन कर सके। इस प्रकार अनुशासन के सम्बन्ध में दो विरोधी विचारधारायें हमारे सामने हैं और हम अभी तक यह निश्चित नहीं कर सके हैं कि बालक को शिक्षा के लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय अथवा नियन्त्रण में रखा जाय।

अनुशासन का अर्थ

शिक्षा के उपर्युक्त विचार किस सीमा तक एक दूसरे से पृथक् हैं? यह ज्ञात करने के हेतु हमें 'अनुशासन' शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिए। बहुधा अनुशासन को 'स्कूल-व्यवस्था' (School order) का पर्याय समझा जाता है। यह ठीक है कि हम इस बात की इच्छा करते हैं कि जो कुछ भी कार्य किया जाय वह सभी प्रकार तथा व्यवस्थित रूप से किया जाय। व्यवस्थित रूप से कार्य करने पर समय की बचत होती है और कार्य-कुशलता बढ़ती है। किन्तु यह सम्भव है कि अच्छी व्यवस्था में अनुशासन का अभाव हो। क्योंकि किसी विद्वान ने कहा है कि 'अच्छी व्यवस्था अच्छे अनुशासन का पर्याय नहीं है।' (Good order is not synonymous

with good discipline.) इसके विपरीत निस्सन्देह अच्छे अनुशासन में अच्छी व्यवस्था सन्निहित है। अब समस्या यह है कि इन दोनों के बीच क्या सम्बन्ध है ?

'रस्क' (Rusk) महोदय ने अपनी पुस्तक 'डॉक्ट्रिन ऑफ ग्रेट एजुकेटर्स' (Doctrine of Great Educators) में 'हरबार्ट' (Herbart) महोदय के विचारानुकूल 'अनुशासन और व्यवस्था' के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। हरबार्ट के अनुसार 'अच्छी व्यवस्था अथवा शासन' (Good Order or Government) का तात्पर्य बालक के स्कूल तथा कक्षा व्यवहार से है, परन्तु अनुशासन का अर्थ इससे अधिक उत्तम तथा विस्तृत है। अनुशासन का तात्पर्य चरित्र-निर्माण से है. अनुशासन स्कूल के उन समस्त प्रभावों की ओर संकेत करता है जो चरित्र-निर्माण के सम्बन्ध में बालक पर पड़ते हैं। व्यवस्था का उद्देश्य वर्तमान से है, किन्तु अनुशासन का भविष्य से। दूसरे शब्दों में, व्यवस्था का उद्देश्य कक्षा में पूर्ण शान्ति स्थापित करना है ताकि अध्यापन कार्य सुगमता तथा सरलता से हो सके। कक्षा में बालक मूर्ति के सदृश बैठे रहें, तनिक भी शोर न करें और शिक्षक के आदेशानुसार ही कार्य करें। इसके विपरीत अनुशासन का उद्देश्य बालक के स्वभाव को प्रभावित करके उसे सदाचारी, सभ्य, तथा सुसंस्कृत बनाना है। व्यवस्था का तात्पर्य बाह्य बन्धन से है और *अनुशासन का आत्म-संयम तथा आत्म-नियन्त्रण से। हरबार्ट ने अनुशासन के उद्देश्य* की पूर्ति हेतु अध्यापन पर बल दिया है। चूंकि अध्यापन कार्य अच्छी व्यवस्था के बिना चल नहीं सकता, इसलिये उन्होने कक्षा में शान्ति तथा व्यवस्था रखने की आवश्यकता पर बल दिया है। इस प्रकार व्यवस्था साधन है और अनुशासन साध्य। यही इन दोनों के बीच का सम्बन्ध है। स्पष्ट है कि अनुशासन एक विस्तृत शब्द है जिसमे बालक के चरित्र पर पड़ने वाले स्कूल के समस्त प्रभाव सम्मिलित हैं। इस प्रकार अनुशासन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। अनुशासन का तात्पर्य बालक के केवल बाह्य व्यवहार से ही नहीं वरन् उसके आचरण की आन्तरिक भावनाओं से भी है। बोर्ड आफ एजुकेशन के अनुसार अनुशासन वह साधन है जिसके द्वारा बालक नियमितता (Orderlines), उत्तम आचरण तथा अच्छी-अच्छी आदतों की शिक्षा प्राप्त करता है जिससे कि वह उन समस्त सुन्दर बातों को प्राप्त कर सके जो उसके अन्दर छिपी हों। (Discipline is the means whereby children are trained in orderliness, good conduct and the habit of getting the best out of themselves)

अनुशासन के रूप

नारमन् मेकमन (Norman McMan) महोदय ... पाथ टू फ्रीडम' (The Child's Pa... का विश्लेषण किया है और ... ने भी ... अपनी पुस्तक "माडर्न ...

विभिन्न रूपों की समालोचना

स्कूल अनुशासन के क्रमिक विकास की तीन अवस्थाएँ हमारे सामने हैं। अब हम यह विचार करेंगे कि वास्तविक अनुशासन स्थापित करने में ये किस सीमा तक साधक हैं। व्यवस्था एक गौण वस्तु है। वह केवल एक साधन है जबकि अनुशासन साध्य है। अनुशासन के तीन रूपों में किस रूप का चरित्र पर प्रभाव पड़ता है; कौनसा रूप सच्चे अनुशासन को उत्पन्न कर सकता है; ये प्रश्न हमारे सामने हैं।

जबकि लगभग सभी मुक्तिवादी कभी-कभी साधारण दमन की आवश्यकता का अनुभव करते हैं परन्तु अधिक शिक्षा-शास्त्री इस बात से सहमत हैं कि दमन का परिणाम बुरा होता है। दमन से स्कूल व्यवस्था सम्बन्धी समस्याओं का समाधान हो जाता है; परन्तु दमन का बुरा फल हमें तब मालूम होता है जब बालक स्कूल छोड़ देता है। दमन से बालक कुछ समय तक शान्त भले ही हो जाये परन्तु वह मन से विनम्र नहीं होता। उसके अन्दर विद्रोह की भावना पनपने लगती है जिसका परिणाम भविष्य में व्यक्ति और समाज को भोगना पड़ता है। अतः दमन बुरा है। बोर्ड आफ एजुकेशन के इस निर्णय से सभी लोग सहमत हैं कि 'दमन तभी तक साधक है जब तक बालक उस अधिकारी के आधीन है जो दमन करता है।'

इसके अतिरिक्त प्रजातंत्रात्मक आदर्शों के साथ दमन का कोई मेल नहीं है। सर्वशक्तिमान शासन-प्रणाली के अन्दर शिक्षा में दमन का कोई भी स्थान रहा हो परन्तु अब प्रजातन्त्रात्मक शासन के अन्दर भावी नागरिकों की शिक्षा में इसका कोई भी स्थान नहीं है। 'हक्सले' (Huxley) का कथन है कि यदि आपका लक्ष्य स्वतन्त्र तथा प्रजातन्त्र समाज स्थापित करना है तो नागरिकों को स्वतः शासन की तथा स्वतन्त्र रूप से रहने की शिक्षा दीजिए। संक्षेप में यदि हम बालक को सोद्देश्य क्रियाओं तथा उत्तरदायित्व के लिये शिक्षित करना चाहते हैं तो बालक को भयभीत करने की विधि का प्रयोग गलत है क्योंकि इससे बालक की स्वाभाविक क्रियाओं में रुकावट पड़ती है।

शारीरिक दंड देने का प्रश्न भी अत्यन्त ही जटिल है। स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि शारीरिक दंड कभी नहीं देना चाहिए। सम्भव है कि इसकी कभी आवश्यकता पड़ जाय और उसका परिणाम भी अच्छा हो। परन्तु शारीरिक दंड तभी देना चाहिए जब दूसरे साधन असफल हो जायें। सदैव ही शारीरिक दंड देना शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों के लिए अहितकर है। प्रौढ़ों को शारीरिक दंड देना खतरे से खाली नहीं है। अतः उनको शारीरिक दंड कभी नहीं देना चाहिए।

दमन के विपरीत दूसरी सीमा अनुचित है। मुक्तिवादी प्रथाओं द्वारा अच्छी व्यवस्था स्थापित करना कुछ कठिन है। परन्तु इस विचारधारा के समर्थक अच्छी ... को यदि अवांछनीय नहीं तो महत्त्वहीन अवश्य मानते हैं। उनके कथनानुसार

इस प्रणाली का चरित्र पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मुक्तिवादी प्रणाली ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करती है जो विचार और क्रिया में निडर होते हैं हरएक परिस्थिति का सामना करने के लिये तत्पर रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों का निर्माण तभी होता है जब उन्हें आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता हो। परन्तु यह प्रश्न उठ सकता है कि स्वतन्त्र वातावरण के अन्दर निर्मित व्यक्ति में क्या उपरोक्त गुण विकसित हो सकेंगे ? यदि नहीं तो उनकी आत्माभिव्यक्ति का स्वयं के लिये तथा दूसरों के लिये कोई मूल्य नही है। हमारा उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों को तैयार करना है जिनका वैयक्तिक तथा सामाजिक मूल्य हो।

क्या मुक्तिवादी प्रणाली ऐसे व्यक्ति निर्मित कर सकेगी ? हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि प्रजातन्त्रात्मक राष्ट्र का सामाजिक जीवन व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता नही दे सकता। प्रजातन्त्रात्मक समाज ऐसी आत्माभिव्यक्ति को अवश्य रोक देगा जो दूसरों के कार्यों, अधिकारों, सुविधाओं तथा आराम में बाधक हो। इसलिये स्कूल मे बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता देने की प्रणाली को हम सन्देह की दृष्टि से देखते हैं।

परन्तु यह धारणा बना लेना कि मुक्तिवादी-सिद्धान्त द्वारा कक्षा में अच्छी व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती, ठीक नहीं है। बालक स्वाभावतः व्यवस्थित रूप से कार्य करना पसन्द करता है। वह इस सम्बन्ध में दूसरों के पथ-प्रदर्शन तथा कार्य-क्रम को सहर्ष स्वीकार करता है। इस प्रकार कक्षा में अच्छी व्यवस्था अपने आप बन जाती है।

प्रभाववादी विचारधारा के अनुसार जब किसी शिक्षक के प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व का प्रभाव कक्षा पर पड़ता है तब निस्सन्देह कक्षा में उत्तम व्यवस्था स्थापित हो जाती है। उसके व्यक्तित्व का बालकों के चरित्र पर भी प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दों में उसका प्रभाव अनुशासनात्मक होता है। यह सत्य है कि प्रशसनीय व्यक्तित्व के सम्पर्क में आते ही हम उसके नैतिक आदर्श, उत्साह तथा उसके कार्य करने के ढंग को अपना लेते हैं। परन्तु प्रभावात्मक विधि मे गुणों के साथ दोष भी हैं। यह विधि शिक्षक के अहम् को बढ़ा देती है। वह अपने आपको विद्यार्थी के चरित्र का निर्माता समझने लगता है। इस कारण मुक्तिवादी प्रभाववाद को बुरा समझते हैं। उनके कथनानुसार प्रभावात्मक अनुशासन, दमनात्मक अनुशासन से भी बुरा है क्योंकि यह बालक की मौलिकता को समाप्त कर देता है जिससे उसका व्यक्तित्व कुंठित हो जाता है। उनके विचारानुकूल प्रभाववाद शिक्षक को केवल प्रतिलिपियाँ प्रस्तुत करता है। इससे बालक मानसिक दासता के बंधन में पड़ जाता है। उसमें अपने आप सोचने, विचारने तथा छानबीन करने की आदत नहीं पड़ती। वह प्रतिभाशाली व्यक्ति न बनकर दूसरों के प्रति अन्ध-श्रद्धा (Blind faith) रखने वाला व्यक्ति बन जाता है। शिक्षक का ध्येय बालक को दास बनाना नहीं वरन् स्वतन्त्र बनाना है। अतः प्रभावात्मक विधि

को कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? मुक्तिवादी सैद्धान्तिक रूप से इस विधि का विरोध करते हैं। वे इस विधि का इसलिये भी विरोध करते हैं कि इसका अनुशासनात्मक प्रभाव आवश्यकता से अधिक है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दमनवादी विधि हमारे काम की वस्तु नहीं है। आधुनिक काल में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। अब हमारे सामने शेष दो विधियाँ हैं और हमें यह निश्चित करना है कि हमारा अनुशासन प्रभावात्मक हो अथवा मुक्त्यात्मक। और यदि हम दोनों प्रकार की विधियों को प्रयोग में लावें तो इन दोनों के बीच क्या अनुपात होना चाहिये ? ये प्रश्न हमें हल करने हैं। लगभग सभी शिक्षा शास्त्री इस विचार का समर्थन करते हैं कि स्वतन्त्रता ऐसी नहीं होनी चाहिए जो स्वच्छन्दता में परिणत हो जाये। हक्सले महोदय तथा श्रीमती मान्टेसोरी भी इस विचार से पूर्णरूपेण सहमत हैं। मान्टेसोरी के कथनानुसार यदि कोई बालक असामाजिक आचरण करता है तो शिक्षक को उसकी क्रियाओं में अवश्य हस्तक्षेप करना चाहिए। वे इस सम्बन्ध में शिक्षक के उत्तरदायित्व को स्वीकार करती हैं। परन्तु उनका कथन है कि शिक्षक को बालक पर अपना प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से नहीं अपितु अप्रत्यक्ष रूप से स्कूल के वातावरण द्वारा डालना चाहिये। इस प्रकार श्रीमती मान्टेसोरी ने भली भांति निर्मित वातावरण द्वारा ही बालक को प्रभावित करने का आदेश दिया है।

रौस महोदय के अनुसार प्रभावात्मक विधि अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण तथा वांछित विधि है। वे इस विधि के महत्त्व को स्पष्ट करने के हेतु 'अनुशासन' शब्द की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार 'डिस्पिलिन' (Discipline) और 'डिसाइपिल' (Disciple) सजातीय शब्द हैं। 'डिसाइपिल' अथवा शिष्य वह है जो गुरु के चरणों में बैठकर सीखता है। यही शिष्यत्व (Discipleship) बालक को अनुशासन की ओर ले जाता है। एक अपरिपक्व मस्तिष्क, परिपक्व मस्तिष्क के प्रभावों के समक्ष स्वयं को समर्पित कर देता है जिससे कि वह उसके विचारों तथा आदर्शों को प्राप्त कर सके। ऐसी स्थिति में शिक्षक बालक पर प्रभाव डालता है जिससे बालक की शिक्षा होती है और वह अनुशासन सीखता है। बिना इसके न शिक्षा सम्भव है और न अनुशासन। परन्तु रौस महोदय ने हमें इस बात से सावधान किया है कि शिक्षक को अपनी प्रतिलिपियाँ प्रस्तुत नहीं करनी चाहियें। रौस ने लिखा है कि इस भय से बचने के लिये शिक्षक को चाहिये कि वह विकासोन्मुख बालक के अनुराग तथा श्रद्धा को समाज के महापुरुषों द्वारा अपनाये हुए आदर्शों की ओर ले जावे और वह स्वयं भी इन्हीं आदर्शों का [illegible] करे। इस प्रकार बालक उन उच्च तथा महान् आदर्शों को प्राप्त कर सकेगा [illegible] तथा विस्तृत अनुभवों द्वारा मानव समाज में स्थिर किये जा चुके हैं। जब [illegible] ऐसे आदर्शों से प्रेरित होकर अपने आचरण को सुन्दर तथा श्रेष्ठ बनाने के लिये

प्रचेष्ट एवं सक्रिय होता है, तब उसे उस आत्मानुशासन को प्राप्ति होती है जो चरित्र निर्माण में सहायक एवं आवश्यक है। 'मुक्ति दो' या 'हस्तक्षेप न करो', इन नारों की तुलना मे अनुशासन सम्बन्धी उपरोक्त विचार ही सुन्दर तथा श्रेष्ठ हैं क्योंकि इन्हीं विचारों के अनुसार बालक का वास्तविक तथा वांछनीय नैतिक विकास हो सकेगा। अतः उक्त अनुशासन सम्बन्धी विचार सच्ची नैतिक शिक्षा के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं। इस प्रकार रौस महोदय के कथनानुसार प्रभावात्मक विधि को शिक्षा से पृथक नहीं किया जा सकता। साथ ही साथ रौस महोदय इस बात का भी समर्थन करते हैं कि यदि बालक स्कूल के आचरण के स्तर को स्वीकार कर ले तो उसे उतनी स्वतन्त्रता दे देनी चाहिये जितनी सम्भव हो सके। इससे बालक को अनुशासन तथा स्वतन्त्रता दोनों के लाभ मि. सकेंगे। बोर्ड आफ एजुकेशन' नामक पुस्तक मे उक्त विचारों को बड़े सुन्दर तथा संक्षेप रूप में इस प्रकार व्यक्त किया गया है, "यदि बालक के लिये स्वयं को पहचाना आवश्यक है तो उसे पर्याप्त स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये और यदि उसे अपनी शक्तियों का पूर्ण विकास करना है तो उसे उचित अनुशासन तथा ट्रेनिंग स्वीकार करने के लिये सदैव तैयार रहना चाहिये। (If children are to find themselves they must be allowed a sufficient degree of freedom; if they are to develop their power to the fullest they must be prepared to accept the appropriate discipline and training.)*

रौस ने स्वतन्त्रता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इसमें सदैव यह भय रहता है कि स्वतन्त्रता का अर्थ अपनी इच्छानुसार कार्य करना लगाया जा सकता है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता नहीं वरन् स्वच्छन्दता है। नन महोदय ने भी लिखा है कि अपने निम्नतम रूप में स्वतन्त्रता का अर्थ है निरंकुशता, स्वच्छन्दता तथा उद्दण्डता। वे बालकों को इतनी स्वतन्त्रता नहीं देना चाहते जो स्वच्छन्दता का रूप धारण कर ले। वे स्वतन्त्रता के समर्थक हैं स्वच्छन्दता के नहीं। उनके अनुसार सबसे उच्चकोटि की स्वतन्त्रता वही है जिसमे व्यक्ति विधि-विधानों के नियन्त्रण मे चलना स्वीकार करता है। रौस महोदय भी इसी स्वतन्त्रता के समर्थक हैं। जब व्यक्ति के आदर्श बन जाते हैं और उसका चरित्र सुसगठित हो जाता है तथा दृढ़ इच्छा-शक्ति की भूमिका तैयार हो जाती है तब वह अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों के अनुसार आचरण नहीं करता। वास्तव में इस स्वतन्त्रता को त्याग कर ही वह अपने मन का स्वामी बन जाता है और उस उच्च स्वतन्त्रता को प्राप्त करता है जिसकी सहायता से वह अपने सिद्धान्तानुसार आचरण करता है और हेय प्रवृत्तियों को वश में रखता है। आत्म-नियन्त्रणपूर्ण स्वतन्त्रता ही सच्ची स्वतन्त्रता है।' (Self-discipline is the only free-

* Handbook of suggestions page 25.

dom worthy of the name) 'जो व्यक्ति यह जानकर नियमों का पालन करता है कि वे उसी के बनाये हुए हैं, वही वास्तव में स्वतन्त्र है।'

निष्कर्ष

स्वतन्त्रता और अनुशासन का वादविवाद वास्तव के प्रकृतिवाद और आदर्शवाद के वाद-विवाद का एक रूप है। स्वतन्त्रता प्रकृतिवादियों का नारा है और अनुशासन आदर्शवादियों का। यदि विद्यार्थी को अपनी आध्यात्मिक सम्भावनाओं की प्राप्ति करनी है तो उसे अपने आपको अनुशासन की प्रक्रिया के प्रति समर्पित करना होगा जिससे कि वह उन उच्च और महान मूल्यों को समझ सके जिन पर आदर्शवाद ने बल दिया है। इस प्रसंग में हमें प्रयोगवाद के योगदान पर भी विचार कर लेना चाहिए।

प्रयोगवादी अनुशासन की समस्या को उपयोगितावाद के दृष्टिकोण से देखते हैं। प्रयोगवाद का सिद्धान्त है कि किसी कार्य की उत्तमता उसके करने पर ज्ञात होती है और यह सिद्धान्त 'प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुशासन' के सिद्धान्त से मेल खाता है। जो इस सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं वे इस बात पर बल देते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी कार्य की अच्छाई तथा बुराई का अन्तर उस कार्य के स्वाभाविक परिणाम द्वारा जानना चाहिए। रूसो कहता है, "बालक को कभी दंड नहीं देना चाहिए। उसे अपने बुरे व्यवहार का दंड स्वाभाविक परिणामों के रूप में ही मिलना चाहिए। स्पेन्सर महोदय अनुशासन की समस्या को प्रकृतिवादी दृष्टिकोण से देखते हैं। वे अनुशासन के सम्बन्ध में उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन करते हैं। वे इस सिद्धान्त को नैतिक शिक्षा का प्रमुख सिद्धांत मानते हैं। वे लिखते हैं, "बालक को अपनी क्रियाओं के अनिवार्य परिणामों (Unavoidable Consequences) को अवश्य भोगने देना चाहिए जिससे कि वह अपने अपराध की गुरुता तथा उससे होने वाले कष्ट का अनुभव करले। इससे वह उन क्रियाओं को पुनः न दोहरायेगा जिनसे उसे कष्ट मिलता है।"

अतएव माता-पिता को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि बालक अपनी क्रियाओं तथा आचरण के स्वाभाविक परिणामों को भोगे। इसके अतिरिक्त माता-पिता को यह भी चाहिए कि वे प्राकृतिक दंड की मात्रा को न बढ़ावें, न घटावें और न कृत्रिम साधनों का प्रयोग ही करें।

'प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुशासन' के सिद्धान्त की अनेक शिक्षा-शास्त्रियों ने कटु आलोचना की है। प्रायः प्राकृतिक परिणाम अपराध की अपेक्षा अधिक कटु एवं कठोर होता है। दूसरे शब्दों में प्रकृति का निर्णय सदैव न्यायपूर्ण नहीं होता। एक छोटे से अपराध के लिए कठोर से कठोर दंड मिल सकता है। स्पेन्सर के समकालीन शिक्षा-शास्त्री हक्सले महोदय ने 'एसेज आन एजूकेशन' (Essays on Education) में प्राकृतिक अनुशासन की कठोरता की निन्दा दिखलाई है और कृत्रिम शिक्षा का महत्त्व स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा है, "अबसे अधिकतर शिक्षकों ने ...

प्रकृति के नियम अत्यन्त ही कठोर तथा हानिकारक होते है। प्राकृतिक दंड व्यवस्था मे नियम का अज्ञानी तथा नियम का जानबूझ कर उल्लघन करने वाला एक-सा दंड पाता है। अपराधी तथा निरपराधी, दोनों को अपराधी जैसा ही दण्ड मिलता है। प्रकृति दण्ड देने से पूर्व सावधान नहीं करती, वह सावधान रहने का सकेत तथा आघात भी एक साथ नहीं करती; किन्तु वह बिना संकेत के ही आघात करती है।' (Like all compulsory legislation that of nature is harsh and wasteful in its operation. Ignorance is visited as sharply as wilful disobedience –incapacity meets with the same punishment as crime. Nature's discipline is not even a word and a blow, and the blow first; but the blow without the word.) इसके अतिरिक्त बालक क्रिया और परिणाम में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। वह यह नहीं समझ सकता कि जिन परिणामों को वह भोग रहा है वे उसकी क्रियाओं के फल स्वरूप हैं। अतः नैतिक आचरण कठिन है। और यदि इस विधि द्वारा नैतिकता सम्भव भी हो सके तो वह ऐसी नैतिकता होगी जिसमें बालक दूसरों के आनन्द तथा अधिकारों की उपेक्षा करेगा। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि नैतिकता एक सामाजिक गुण है जो 'प्राकृतिक-दंड व्यवस्था' से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार नैतिक शिक्षा के साधन के रूप में प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुशासन की व्यवस्था उतनी ही अपूर्ण है जितना की शिक्षा के दर्शन का आधार कहलाने के लिए प्रयोगवादी। प्रयोगवाद में निरपेक्ष नैतिकता का भाव नहीं है। यह भाव केवल आदर्शवाद द्वारा ही उदय होता है। अतएव आदर्शवाद नैतिक शिक्षा के लिए एक उपयोगी विधि है।

प्रश्न

(१) अनुशासन की समस्या पर विभिन्न दार्शनिक मतवादों की विरोधी भावधाराओं की मुख्य युक्तियों का उल्लेख कीजिए। इन विरोधी मतों का क्या समन्वय हो सकता है और कैसे?

(२) अनुशासन के विकास की अवस्थाओं की समालोचना कीजिए।

(३) 'प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुशासन' के सिद्धान्त का क्या अर्थ है? इसके गुण तथा दोषों की विवेचना कीजिए।

(४) शिक्षा मे अनुशासन का क्या स्थान है? विद्यार्थी जीवन मे स्वतन्त्रता और नियंत्रण का समुचित समन्वय कैसे किया जा सकता है?

(५) नियन्त्रण और स्वतन्त्रता मे क्या सम्बन्ध है? सच्चे नियन्त्रण और भय की मानसिक ग्रन्थि से प्रेरित होकर समाज के अनुकूल होने में क्या अन्तर है? स्पष्ट कीजिए।

बाइसवां अध्याय

शिक्षा और समाज

(Education and Society)

यद्यपि शिक्षा और समाज के सम्बन्ध के विषय में हमने पिछले अध्यायों में यत्र तत्र आवश्यकतानुकूल चर्चा की है तथापि यहां पर हम उन विचारों को पुनः एकत्रित रूप में प्रस्तुत करते हैं जिससे हमारे पाठक इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध को भली-भांति समझ सकें।

शिक्षा का कार्य केवल ज्ञान की वृद्धि करना नहीं वरन् व्यक्ति को सामाजिक भी बनाना है। ड्यूवी के अनुसार शिक्षा की प्रक्रिया के दो अंग हैं : (१) मनोवैज्ञानिक, और (२) सामाजिक। आजकल शिक्षा के सामाजिक अंग पर विशेष बल दिया जा रहा है। शिक्षा को अब समाज की रूप-रेखा निर्धारित करने का एक साधन माना जाता है। शिक्षा अपनी संस्थाओं अर्थात् विद्यालयों द्वारा समाज को प्रभावित करती है। इसका यह प्रभाव कई दिशाओं में दृष्टिगोचर होता है।

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज के अनुकूल चलने का प्रयत्न करता है। शिक्षा उसकी इस कार्य में सहायता करती है। शिक्षा व्यक्ति को इस योग्य बनाती है कि वह समाज का एक प्रगतिशील प्राणी बन सके और अपनी शिक्षा द्वारा समाज की आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक आवश्यकताएं पूरी कर सके। स्पष्ट है कि व्यक्ति शिक्षा द्वारा समाज की आवश्यकताओं को समझता है और उसकी मांगों को पूरा करने का प्रयत्न करता है। अपनी मांगों की पूर्ति के पश्चात् समाज विकास-पथ पर अग्रसर होता है। उसका विकास रुकता नहीं वरन् होता ही रहता है। उसने अपने विकास के हेतु शिक्षालयों की स्थापना की है। शिक्षालयों के द्वारा ही बालकों के मन में ऐसे संस्कार पड़ते हैं जो समाज में प्रगतिशील जीवन बिताने के लिये आवश्यक होते हैं और जिस समाज में जितने अधिक व्यक्ति प्रगतिशील होंगे वह समाज उतना ही अधिक उन्नत होगा। इस प्रकार शिक्षा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होती है।

शिक्षा समाज की सभ्यता तथा संस्कृति को अक्षुण्ण रखने एवं विकसित करने की प्रक्रिया है। चिरकाल से ही समाज द्वारा स्वीकृत सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा करना तथा उसको भावी संतति तक पहुंचाना शिक्षालयों का प्रधान कर्तव्य समझा जाता है। शिक्षालयों की सहायता के बिना बालक अपने थोड़े से जीवन-काल में न तो समाज की अब तक की सभ्यता तथा संस्कृति का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न ही उससे लाभ उठा सकता है। समाज-संस्कृति के रूप इतने जटिल और पेचीदा होते हैं

होते हैं कि बालक उन्हें सरलता से ग्रहण नहीं कर सकता। शिक्षालय समाज की जटिलता तथा पेचीदापन को दूर करते हैं और बालकों के समक्ष केवल उन्हीं तथ्यों को सरल तथा शुद्ध रूप में प्रस्तुत करते हैं जो उनके विकास में सहायक हों। ड्यूवी का कथन है, "बालक को रस्म-रिवाज, विचार, परम्परा आदि जो एक जाति के आवश्यक गुण हैं प्रदान करने के लिये शिक्षा की आवश्यकता होती है।" शिक्षालयों के अनेक सामाजिक कार्यों द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति होती है। स्पष्ट है कि शिक्षा समाज को जीवन दान देती है।

७. शिक्षा समाज के आदर्शों तथा क्रियाओं का विवेचन करती है। आवश्यक तथा अनावश्यक आदर्शों का निर्णय करती है। अनुपयोगी, असामाजिक तथा रूढ़िगत विचारों, परम्पराओं तथा आदर्शों से समाज की रक्षा करती है। वह नई परिस्थितियों के अनुकूल समाज के समक्ष नये विचार, भाव तथा आदर्श उपस्थित करती है जिससे समाज नई परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको बना सके। इस प्रकार शिक्षा समाज के नव-निर्माण में सहायक होती है। समाज के निर्माण का बहुत कुछ भार शिक्षकों के कन्धों पर ही होता है क्योंकि वे ही बालकों के अन्दर नवीन विचार, भाव तथा आदर्श उत्पन्न करते हैं और उनकी समस्त शक्तियों का विकास इस प्रकार करते हैं कि वे नवीन समाज के निर्माण के कार्य में अपना योग दे सकें।

८. शिक्षा राज्य के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों की आलोचना करती है। शिक्षालयों को इतनी स्वतन्त्रता होती है कि ये राज्यों के कार्यों की निन्दा अथवा प्रशंसा कर सकें। अब शिक्षा संस्थाओं की ओर से भी कुछ व्यक्ति प्रान्तीय परिषद् (Assembly) तथा लोक-सभा (Parliament) की सदस्यता के लिये चुन जाते हैं ताकि वे भी निष्पक्ष होकर अपने विचार राज्य की उन योजनाओं के प्रति प्रकट कर सकें जो समस्त देश-हित की दृष्टि से बनाई जाती है।

समाज और शिक्षा

जिस प्रकार शिक्षा समाज को प्रभावित करती है उसी प्रकार समाज भी शिक्षा को प्रभावित करता है। समाज की मान्यताओं, आदर्शों तथा आकांक्षाओं के आधार पर ही शिक्षा की रूप-रेखा तैयार होती है। समाज में प्रतिदिन नई नई बातें तथा आदर्श उत्पन्न होते हैं। इन्हीं आदर्शों तथा बातों को लेकर शिक्षा आगे बढ़ती है। समाज की आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा के प्रत्येक अंग अर्थात् उद्देश्य, पाठ्य-क्रम, पद्धति आदि सबमें परिवर्तन तथा संशोधन होता रहता है। आजकल शिक्षालय को समाज का प्रतिबिम्ब माना जाता है। जो कुछ क्रियाएँ समाज में विशाल रूप में की जाती हैं वही अब पाठशालाओं में लघु रूप में कराई जाती हैं।

देश की राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का भी शिक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक परिस्थिति के अनुरूप ही शिक्षा-प्रणाली की व्यवस्था की जाती

है। किस देश मे शिक्षा की व्यवस्था कैसी होनी चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर उस देश के राज्य के रूप पर निर्भर करता है। इस प्रकार राज्य सरकार अथवा जो राजनीतिक दल देश मे शासन करता है वही अपने आदर्शों के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करता है। यदि किसी के राज्य की बागडोर किसी एक व्यक्ति अथवा डिक्टेटर के हाथ मे होती है तो उस देश की शिक्षा का आदर्श बालकों में शासन के प्रति आदर, अनुशासन, उसकी आज्ञा का पालन तथा कर्तव्य आदि की भावना भरना होता है। राज्य को पूरा अधिकार होता है कि वह व्यक्ति को जैसा चाहे बनाये। प्राचीन काल में स्पार्टा की शिक्षा इसी सिद्धान्त पर आधारित थी। वर्तमान काल में जर्मनी, इटली, जापान तथा रूस मे इसी सिद्धान्त को अपनाया जाता है। उक्त राज्यों में बालक के व्यक्तित्व की अवहेलना करके उसे देश की राजनीतिक सत्ता के आदर्शानुसार ढालना शिक्षक का कर्तव्य माना जाता है।

यदि राज्य की बागडोर समस्त नागरिकों के हाथ मे होती है अर्थात् जहाँ प्रजातन्त्र राज्य होता है वहाँ शिक्षा की व्यवस्था प्रजातन्त्रवाद के आदर्शानुकूल होती है। प्रजातन्त्रवाद का उद्देश्य समस्त नागरिकों को सुखी जीवन बिताने का अवसर देना है। इसलिये प्रजातन्त्रवादी राज्य में शिक्षा व्यवस्था उक्त उद्देश्य को ध्यान मे रख कर की जाती है। अतः ऐसे राज्य की शिक्षा व्यवस्था में शिक्षा के सभी अंगों में पर्याप्त अन्तर होता है। प्रजातन्त्रवादी देश में शिक्षा की व्यवस्था ऐसी होती है जिससे बालक के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास हो सके और वह अपनी योग्यतानुसार समाज अथवा राष्ट्र की सेवा कर सके। स्पष्ट है कि इस प्रकार की शिक्षा मे बालक के व्यक्तित्व का आदर होता है। उसकी स्वतन्त्रता का दमन नहीं किया जाता और सभी व्यक्तियों को शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर दिया जाता है।

देश की आर्थिक परिस्थितियाँ भी शिक्षा पर अपना प्रभाव डालती है। यदि देश की आर्थिक दशा अच्छी है और वह जनतन्त्रवाद का समर्थक है तो वहाँ पर अधिक से अधिक विद्यालय खोले जा सकेंगे जिससे अधिक से अधिक नागरिक निःशुल्क शिक्षा प्राप्त कर सकें। और यदि देश की आर्थिक दशा हीन है तो समस्त नागरिकों के लिये शिक्षा की व्यवस्था असम्भव है। यदि समाज में पूँजीपतियों का बोलबाला होता है तो विद्यालयों का संचालन उन्हीं के हाथ मे होता है और शिक्षा तब उन्हीं की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साधन बन जाते हैं। शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्य-क्रम तथा संगठन में उन्हीं बातों की प्रमुखता दी जाती है जिससे पूँजीपतियों का भला होता है। औद्योगिक क्रान्ति तथा विज्ञान ने समाज की आर्थिक दशा को बदल दिया है। समाज की आर्थिक स्थिति बदल जाने के कारण स्कूलों ने पाठ्य-क्रम को बदल देने का सुझाव रखा। फलतः पाठ्य-क्रम बदला तथा और नई-नई शिक्षा-पद्धतियाँ एवं शिक्षण-पद्धति की रचना की गई। आज आर्थिक

परिवर्तन के कारण ही व्यवसायिक शिक्षा तथा औद्योगिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जा रहा है। दिन प्रति दिन नए-नए टैक्निकल तथा ऐग्रीकल्चरल स्कूल खोले जा रहे हैं। परन्तु आर्थिक लाभ के कारण ही व्यवसायिक शिक्षा की अपेक्षा साधारण शिक्षा का बोलबाला है क्योंकि साधारण शिक्षा प्राप्त करने पर व्यक्ति को अधिक आर्थिक लाभ हो सकता है। उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश अथवा समाज की आर्थिक स्थिति शिक्षा को समय-समय पर प्रभावित करती रहती है।

राज्य और शिक्षा

(Education and State)

समाज और शिक्षा के सम्बन्ध को निश्चित करने के पश्चात् हमें राज्य तथा शिक्षा के सम्बन्ध को भी निर्धारित करने की आवश्यकता पड़ती है। इस सम्बन्ध के निर्धारण से पूर्व हमें यह भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि राज्य क्या है। तत्पश्चात् यह जानने का प्रयत्न करना चाहिये कि राज्य को शिक्षा का संचालन तथा नियन्त्रण किस सीमा तक करना चाहिये। यह प्रश्न बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। अतः अगले पृष्ठों में इनकी चर्चा की जायगी।

राज्य क्या है ?—प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स आदि समाज शास्त्रियों के अनुसार राज्य की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि मनुष्य अपने बर्बर जीवन को अच्छा नहीं समझता था। वह उससे आगे बढ़ना चाहता था। इसलिये मनुष्य ने मिलकर अपने कुछ स्वार्थों को त्याग कर समाज की रचना की और उसे कुछ अधिकार सौंप दिये। प्रत्येक व्यक्ति ने अपना हित दूसरों के हित के लिये त्याग दिया और सब ने मिलकर उसकी रक्षा करने का भार अपने ऊपर ले लिया। इस प्रकार उनमें आपस में एक प्रकार का 'सामाजिक समझौता' हो गया। दूसरे शब्दों में वे परस्पर समाज-सूत्र में बंध गये। परन्तु विभिन्न वर्गों के विभिन्न समाज थे। इन सबको मिलाकर एक व्यापक समाज बनाने की आवश्यकता का सभी समाजों ने अनुभव किया। अस्तु कई समाजों तथा वर्गों को मिलाकर एक समाज बनाया गया जिसे राज्य की संज्ञा दी गई। इस प्रकार राज्य रूपी संस्था का जन्म हुआ। उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य समाज का एक सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित रूप है। दूसरे शब्दों में राज्य मानव-समूह का एक विशाल रूप है और इसकी व्यवस्था व्यक्ति के व्यक्तित्व की रक्षा करती है। कुछ अन्य व्यक्तियों की धारणा है कि 'राज्य एक सर्वशक्तिमान तथा सर्वश्रेष्ठ सत्ता है जो अपने निर्माणकर्त्ताओं से उच्च एवं श्रेष्ठ भौतिक अस्तित्व रखती है तथा उन पर नियन्त्रण करती है।' इस विचार के समर्थकों का विश्वास है कि शिक्षा के सभी अंग अर्थात् उद्देश्य, पाठ्य-क्रम, पद्धति आदि का निरूपण तथा प्रबन्ध राज्य को ही करना चाहिये। हम राज्य के पहले रूप को ही लेकर उसके तथा शिक्षा के सम्बन्ध का विवेचन करेंगे।

राज्य और शिक्षा का सम्बन्ध

इस विषय में दो प्रमुख मत हैं — एक व्यक्तिवादी और दूसरा समष्टिवादी। व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य का काम केवल रक्षा करना है। उसे शिक्षा में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लाक (Locke), मिल (Mill) और बेंथम (Bentham) आदि राजनीतिज्ञों का विचार है कि व्यक्ति समाज का मूल है। उसने अपनी सारी स्वतन्त्रता समाज को अर्पण नहीं की है। उसने केवल निश्चित उद्देश्यों के लिए ही समाज का अनुशासन स्वीकार किया है। ऐसे अनेक कार्य हैं जिनके प्रसंग में वह अब भी स्वतन्त्र है। शिक्षा भी एक ऐसा कार्य है जिसमें हमने राज्य के समक्ष समर्पण नहीं किया है। बेंथम (Bentham) का कथन है कि राज्य का कर्तव्य प्रत्येक नागरिक के सुख को बढ़ाना है तथा उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा करना है। अन्य दिशाओं में राज्य का अस्तित्व भी किसी को अनुभव न होना चाहिए।' इसी प्रकार 'मिल' (Mill) का कथन है कि "व्यक्ति पवित्र है और उसकी स्वतन्त्रता में राज्य का सहसा हस्तक्षेप सहन नहीं किया जा सकता।" उसके कथनानुसार कर लगाना रक्षा करना तथा न्याय करना राज्य के कर्तव्य हैं। अन्य बातों में उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करनी चाहिए। जब तक अनिवार्य ही न हो जाय तब तक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में राज्य का हस्तक्षेप हानिप्रद है। अतः शिक्षा के विषय में राज्य को कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

समष्टिवादी विद्वान जैसे मैथ्यू आर्नोल्ड (Matthew Arnold), एडमंड बर्क (Edmund Burke), कारलायल (Carlyle), रस्किन (Ruskin) व्यक्तिगत स्वाधीनता का विरोध करते हैं और शिक्षा-कार्य में राज्य का हस्तक्षेप लाभप्रद समझते हैं। वे राज्य को केवल सीमित कर्तव्यों का उत्तरदायी मानने को तैयार नहीं हैं। उनके मतानुसार राज्य का कार्य केवल रक्षा करना नही है, अपितु उसके कई कर्तव्य हैं जिनको निभाना उसका धर्म है। राज्य का उत्तरदायित्व उसके नागरिकों को केवल समृद्धिशाली बनाना नहीं है वरन् उसका यह भी धर्म है कि वह व्यक्तियों के जीवन को मानवी तथा सामाजिक बनाने का प्रयत्न करे। इस प्रकार वे सहकारिता को महत्त्व देते हैं। और सहकारिता की विशेषता है नियन्त्रण। अस्तु वे राज्य के पूर्ण नियन्त्रण के पक्षपाती हैं। उनके अनुसार वर्तमान सभ्य राज्य के अनेक कर्तव्य हैं— जैसे रक्षा करना, पर राष्ट्र-नीति का संचालन करना, अपराधियों को दण्ड देना, कर लगाना, देश की सम्पत्ति को बढ़ाना, धनिकों और निर्धनों के बीच सम्पत्ति के समान वितरण की व्यवस्था करना, नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा करना, संस्कृति का उत्थान करना आदि। साथ ही उसका यह भी कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों के लिये शिक्षा की व्यवस्था करे और कम से कम प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य तथा निःशुल्क कर दे। इन सब कर्तव्यों के मूल में केवल एक ही सिद्धान्त है कि जिस

प्रकार व्यक्तियों से समाज की उन्नति होती है उसी प्रकार समाज से व्यक्तियों की उन्नति भी सम्भव होनी चाहिए। आजकल समष्टिवादी विचारों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इनके अनुसार शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण अवश्य होना चाहिए। शिक्षा में राज्य के हस्तक्षेप न करने का परिणाम हानिप्रद होगा। इससे हमारे शिक्षा आदर्शों तथा मान्यताओं का स्तर नीचा हो जायगा। शिक्षा के अनेक कार्य हैं। इन कार्यों को वह राज्य के नियन्त्रण में ही पूर्ण कर सकती है। अतः शिक्षा की व्यवस्था राज्य के द्वारा ही होनी चाहिए।

यदि यह स्वीकार कर लें कि शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण होना चाहिये तो यह प्रश्न उठता है कि यह नियन्त्रण पूर्ण हो अथवा आंशिक। यह विवाद-ग्रस्त प्रश्न है कुछ लोग शिक्षा पर राज्य के पूर्ण नियन्त्रण के पक्ष में हैं और कुछ लोग इस विषय में स्वतन्त्रता चाहते हैं। किन्तु आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों ने इनके मध्य मार्ग को चुना है। उनके अनुसार शिक्षा को न तो राज्य के पूर्ण नियन्त्रण में रक्खा जा सकता है और न ही उसे राज्य के नियन्त्रण से सर्वदा मुक्त किया जा सकता है। शिक्षा जीवन की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। कोई भी एक संस्था सभी व्यक्तियों के लिये इसे सुलभ नहीं बना सकती। राज्य, परिवार, धर्म-संस्था सभी को मिलकर इस कार्य में योगदान करना चाहिए। अतः यह उचित है कि शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण हो, परन्तु साथ ही परिवार, धार्मिक संस्थाओं तथा अन्य समितियों को इस विषय में स्वतन्त्रता हो। दूसरे शब्दों में हमें राज्य के सीमित हस्तक्षेप तथा सीमित नियन्त्रण की नीति अपनानी चाहिये।

शिक्षा में राज्य के हस्तक्षेप का क्रमिक विकास

शिक्षा समाज का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसका सचालन निम्नांकित साधनों में से किसी एक अथवा सभी के द्वारा हो सकता है :—

(क) स्वलाभ के लिए स्वेच्छा से।

(ख) दान-संस्था तथा धर्म-संस्था द्वारा।

(ग) राज्य द्वारा।

प्राचीन काल में मनुष्य ने अपने लाभ के लिए अपनी इच्छा से शिक्षा की व्यवस्था की थी। राज्य का शिक्षा पर कोई नियन्त्रण नहीं था। मध्यकाल में विद्यालय धार्मिक संस्थाओं के अधीन थे। धार्मिक संस्थाएँ शिक्षा के कार्य में राज्य के हस्तक्षेप का विरोध करती थीं। परन्तु जैसे-जैसे मनुष्य विवेकशील होता गया वैसे-वैसे उसने राज्य के द्वारा शिक्षा की व्यवस्था करने की आवश्यकता का अनुभव किया। सत्रहवीं शताब्दी से शिक्षा में राज्य का हस्तक्षेप आरम्भ हुआ और उन्नीसवीं शताब्दी तक शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण हो गया। परन्तु ध्यान रहे कि शिक्षा के कार्य में राज्य

पिताओं को विवश करे कि वे अपने बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य रूप से पूर्ण करायें।

(३) राज्य का तीसरा कर्तव्य आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित है। राज्य को यह निश्चित करना है कि शिक्षा के व्यय का कौन-सा भाग किसके ऊपर सौंपा जाय कितना हिस्सा सरकार दे, कितना अभिभावक दें, कितना संस्थायें दें और कितना नगर के धनी-मानी लोग? इस प्रश्न पर व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न मत हैं। परन्तु संसार में सभी सभ्य समाज के व्यक्ति इस बात से सहमत हैं कि प्रारम्भिक शिक्षा के व्यय का भार राज्य को ही उठाना चाहिये। प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य रूप से निःशुल्क कर देना राज्य का कर्तव्य है। प्रारम्भिक शिक्षा में अनिवार्यता तथा निःशुल्कता का सिद्धान्त भारतवर्ष की सरकार ने भी स्वीकार कर लिया है परन्तु माध्यमिक और उच्च शिक्षा में अभी उसकी उदारता कुछ छात्रवृत्तियों तक ही सीमित है।

(४) राज्य का चौथा कर्तव्य है शिक्षा का सामान्य नियन्त्रण और निरीक्षण। शिक्षा पर इस प्रकार का नियन्त्रण आवश्यक है। परन्तु राज्य स्वयं कितनी शक्ति का प्रयोग करे यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है। कुछ शिक्षाविदों का विचार है कि पाठ्य-क्रम, पाठ्य-सामग्री तथा पाठन-विधि के निर्वाचन में अध्यापक को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यदि उक्त बातें राज्य की ओर से निश्चित की जायेंगी तो उसमें स्थानीय आवश्यकताओं तथा बालकों की अभिरुचियों की अवहेलना होगी और ऐसे कार्य-क्रम को चलाने का परिणाम बुरा हो सकता है। अतः ये कार्य शिक्षकों पर ही छोड़ दिये जायं, इनमें न तो केन्द्रिय सरकार हाथ डाले और न स्थानीय। चूंकि बिना सुयोग शिक्षकों के शिक्षा का कार्य भली भांति सम्पन्न नहीं हो सकता इसलिये राज्य का कर्तव्य है कि वह सार्वजनिक संस्थाओं के अधिकारियों को सुयोग्य तथा सुशिक्षित अध्यापकों की नियुक्ति के लिये विवश करे। सरकार को चाहिये कि वह इस प्रकार की योजना बनाये कि अयोग्य शिक्षकों की नियुक्ति असम्भव हो जाय।

राज्य और शिक्षा के सम्बन्ध के प्रसंग में एक प्रश्न और उठता है कि शिक्षा का समस्त भार केन्द्रीय शासन पर होना चाहिये या स्थानीय शासन पर। इस प्रश्न का उत्तर राज्य के रूप पर निर्भर करता है। यदि राज्य एकतन्त्रात्मक है तो शैक्षिक नीति का केन्द्रीयकरण आवश्यक है। उसमें स्थानीय शासन को किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। यदि राज्य जनतन्त्रात्मक है तो शिक्षा का केन्द्रीय-करण न होगा और स्थानीय सरकार को पर्याप्त स्वतन्त्रता होगी। केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीयकरण दोनों में अपने-अपने गुण और दोष हैं। यदि शिक्षा के केन्द्रीयकरण पर बल दिया जायगा तो शिक्षा-व्यवस्था में एकरूपता तथा जड़ता आ जायगी और शिक्षा का विकास रुक जायगा। शिक्षा के केन्द्रीयकरण में स्थानीय आवश्यकताओं

तथा विशेषताओं की ओर ध्यान नहीं दिया जा सकता। परन्तु विकेन्द्रीकरण का अभिप्राय होगा गुटबन्दी और मनमानी। स्थानीय झगड़ों में पड़कर शिक्षा के सामान्य उद्देश्यों तथा आदर्शों की एकरूपता को सहज में ही भुला जा सकता है। इस खतरे से बचने का एक उपाय है कि केन्द्रीय सरकार इतनी दृढ़ तथा शक्तिशाली हो कि वह शिक्षा के सामान्य उद्देश्यों और आदर्शों की एकरूपता को सुरक्षित रख सके, परन्तु वह इतनी कठोर न हो कि सभी विद्यालयों पर एक ही प्रकार का पाठ्य-क्रम तथा संगठन लाद दे। इसी प्रकार स्थानीय शासन भी इतना शक्तिशाली हो कि वह शिक्षा के क्षेत्र से स्थानीय लड़ाई-झगड़ों, ईर्ष्या-द्वेष इत्यादि को दूर रक्खे और शिक्षा में व्यक्तिगत हस्तक्षेप तथा गुटबन्दी का प्रवेश न होने दे। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अन्य क्षेत्रों की भांति शिक्षा के क्षेत्र में भी केन्द्रीय तथा स्थानीय अधिकारों के बीच सामञ्जस्य होना चाहिये।

प्रश्न

(१) "Though the schools are themselves the creation of society, the schools in turn become to a certain degree causes of social progress"— इस कथन की विवेचना स्कूलों के कार्य तथा समाज से उनके सम्बन्ध के प्रसंग में कीजिये।

(२) "The ultimate end of education is an ethical rather than a political question."— इस वाक्य की उपलक्षणाओं की समालोचनात्मक विवेचना शिक्षा के विभिन्न अंगों से सरकार के सम्बन्ध के प्रसंग में कीजिये।

(३) समाज में स्कूल का क्या स्थान है? किस प्रकार दोनों सामीप्य लाभ कर सकते हैं?

(४) "समाज की नैतिकता तथा दृष्टिकोण से ही शिक्षा के ध्येय का निर्माण होता है।" इस कथन की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि किसी भी देश अथवा काल की शिक्षा पर समाज का क्या प्रभाव पड़ता है।

(५) इस राज्य में बसने वाली समाज शिक्षा योजना में स्कूल किस प्रकार समुदाय की सेवा (Community Service) में उपयोगी हो सकते हैं?

(६) राज्य के स्वरूपों (Nature) से शिक्षा संस्थाओं के लक्ष्यों का [illegible] निश्चय होता है। इस कथन की समालोचना कीजिए। भारतीय शिक्षा में इस कथन का क्या स्थान होगा?

(७) शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण किस सीमा तक उचित है ?

(८' 'राज्य की राजनैतिक विचारधारायें शिक्षा को प्रभावित करती है।' भारतीय शिक्षा के उदाहरण से इस कथन को स्पष्ट कीजिये।

(६) विद्यालय और समाज के सम्बन्ध का निरूपण कीजिए। विद्यालय सामाजिक ढाँचे का वह प्रभावशाली माध्यम किस प्रकार सिद्ध हो सकता है जिसे राष्ट्र शिक्षा द्वारा स्थापित करना चाहता है ।

(१०) जन-शिक्षा में राज्य को क्या भाग लेना चाहिए? इसका विवेचन कीजिए। इस सबन्ध मे राज्य का क्या क्या कर्तव्य अथवा अकर्तव्य होना चाहिए ।

(११) देश की शिक्षा के प्रति शासन के क्या दायित्व है? किस अंश तक शिक्षा में शासन द्वारा हस्तक्षेप क्षम्य है ?

(१२) 'शिक्षा' किस सीमा तक राज्य के द्वारा नियन्त्रित होनी चाहिए ? उत्तर प्रदेश की शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं का उल्लेख करते हुए इस प्रश्न पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।

(१३) सामाजिक परिस्थितियाँ शिक्षा की रूप-रेखा किस प्रकार निश्चित करती हैं ? भारतीय परिस्थितियों के सन्दर्भ मे इसे स्पष्ट कीजिए।

(१४ सामाजिक व्यवस्था में शिक्षा द्वारा कहा तक परिवर्तन किये जा सकते हैं ? इसकी पूर्ण विवेचन कीजिए।

तेईसवाँ अध्याय

शिक्षा में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

(Nationalism and Internationalism in Education)

शिक्षा और राष्ट्रीयता— जब कोई समाज सर्वशक्तिमान हो जाता है और एक भौगोलिक सीमा के अन्दर के समस्त व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बाँध लेता है तो उसे राष्ट्र की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार राष्ट्र वह सत्ता अथवा शक्ति है जो मनुष्यों को एकता के सूत्र में बाँधती है। मनुष्य अपने पारस्परिक जाति-भेद, प्रान्त-भेद, व्यक्ति-हित को छोड़ कर और सामूहीकरण की भावना से ओत-प्रोत होकर राष्ट्र की सत्ता को स्वीकार करते हैं तथा उसके उत्थान के लिये योगदान करते हैं। व्यक्तियों तथा सामाजिक शक्तियों के योग से राष्ट्र एक स्वतन्त्र, महान तथा मौलिक अस्तित्व धारण करता है और समस्त नागरिकों को अपने नियन्त्रण में रखता है। ऐसे राष्ट्र में व्यक्ति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, वे राष्ट्र के ही अङ्ग हो जाते हैं। राष्ट्रवाद के समर्थकों का कहना है, "राष्ट्र के लिये व्यक्ति है, व्यक्ति के लिये राष्ट्र नहीं।" राष्ट्रीय सरकार की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों में राष्ट्रीय भावना भरना होता है। राष्ट्र को सुदृढ़ तथा सफल बनाना नागरिकों का सबसे बड़ा कार्य समझा जाता है। राष्ट्र की आवश्यकताओं, आदर्शों तथा मान्यताओं के अनुसार ही शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। नागरिकों में राष्ट्र के प्रति अपार भक्ति, शासक की आज्ञा का पालन, अनुशासन, आत्म-त्याग, कर्तव्य-पालन आदि की भावना का उद्रेक करना शिक्षा का आदर्श होता है। राष्ट्र अपने आदर्शों के प्रचार के लिए तथा अपनी शक्ति के स्थायित्व के लिये शिक्षालयों को अपना मुख्य साधन बना लेता है। जर्मनी, इटली, जापान तथा रूस के शिक्षालय इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इस प्रकार की शिक्षा राष्ट्र के निर्माण में अत्यन्त ही सहायक होती है क्योंकि राष्ट्र-हित का ध्यान रखकर ही उसकी व्यवस्था की जाती है। इससे राष्ट्र की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक उन्नति होती है। देश के सभी नागरिक पारस्परिक भेद-भाव को छोड़कर एकत्व के सूत्र में बँध जाते हैं। प्रान्तीयता तथा जाति-भेद को कोई प्रश्रय नहीं मिलता। सामाजिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों तथा रूढ़िगत विचारों का अन्त हो जाता है। प्रत्येक नागरिक राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझता है तथा उसे निभाने का भरसक प्रयत्न करता है। प्रत्येक नागरिक अपने स्वार्थ तथा इच्छा को छोड़कर राष्ट्र की सेवा के लिये सदैव तत्पर रहता है। फलतः राष्ट्र समृद्धिशाली, सुखी तथा सर्वशक्तिमान हो जाता है। बालकों में राष्ट्रीय भावना भरने के लिये शिक्षा एक महत्वपूर्ण साधन है। अतः सभी राष्ट्रवादी देश शिक्षा पर अपना पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं और शिक्षा के द्वारा बालकों को जैसा बनाना चाहते हैं बनाते हैं।

परन्तु राष्ट्रवादी शिक्षा दोषो से परिपूर्ण है। इस शिक्षा द्वारा छोटे बालको को सकुचित देश-भक्ति, मिथ्या अभिमान तथा पशुबल का पाठ पढ़ाया जाता है। इस शिक्षा द्वारा ऐसे नागरिकों की उत्पत्ति की जाती है जो आख मूंद कर राष्ट्र का अनुकरण करते है; राष्ट्र धर्म को ही अपना धर्म मानते हैं और अपना जीवन राष्ट्र की सेवा मे अर्पण कर देते हैं। बरट्रेंड रसेल' (Bertrand Russel) कहता है कि "बालक तथा बालिकाओं को यह सिखाया जाता है कि उनकी सबसे बड़ी भक्ति उस राज्य के प्रति है जिसके वे नागरिक हैं और उस राज्य-भक्ति का धर्म यह है कि सरकार जैसा कहे वैसा होना चाहिये। उनको इसलिये झूठा इतिहास, राजनीति तथा अर्थशास्त्र समझाया जाता है कि कहीं वे अन्ध राज्य-भक्ति के पाठ पर नुक्ताचीनी न करें। अपने देश के नहीं किन्तु दूसरे देशों के बुरे कारनामो का ज्ञान कराया जाता है जबकि सत्य यह है कि प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के साथ अन्याय करता रहता है।" स्पष्ट है कि राष्ट्र सरकार द्वारा सचालित शिक्षा नागरिको में संकुचित राष्ट्रीयता तथा अन्ध राज्य-भक्ति की भावना भरती है जिसके फलस्वरूप वे अपने राष्ट्र की उच्चता एव श्रेष्ठता पर गर्व करने लगते हैं, अन्य देशो की निष्पत्ति को कम तथा दुर्बल समझते है और अन्य जातियों के चरित्र, योग्यताओं तथा विशेषताओ को कोई महत्त्व नही देते। ऐसे नागरिक बनाने तथा ऐसा नागरिक धर्म निभाने का भयकर परिणाम महायुद्ध के रूप में दृष्टिगोचर होता है। नागरिकता ठीक है, नागरिक भी ठीक है, किन्तु किसकी नागरिकता और किसका नागरिक ? वह परिभाषा जिसमें नागरिक के धर्मों की इतिश्री उच्च कोटि का पिता, उच्च कोटि का पति, उच्च कोटि का मित्र और उच्च कोटि का भारतीय, अग्रेज, इटेलियन, जर्मन चीनी या अमेरिकन होना समझा जाता है अब निन्दनीय है। अब 'मेरा देश सही हो चाहे गलत हो' (My country right or worng) की भावना ठीक नही जचती। डाक्टर लावीसे (Dr Lavisse) का कथन है, "मातृ-भूमि के प्रति प्रेम की भावना को मजबूत करना आवश्यक है, परन्तु अपने देश के लाभ के लिये मानव-जाति के कार्य की अवहेलना ठीक नही है।" (It is necessary to strengthen the love of native land, but it is not right to belittle for the apparent profit of one's country the work of mankind) सकुचित राष्ट्रीयता से मानव समाज की उन्नति नही होती। इसलिये यदि शिक्षा के नागरिकता आदर्श का कोई अभिप्राय है तो वह केवल है 'विश्व की नागरिकता' अथवा 'विश्व-बंधुता।'

शिक्षा और अन्तर्राष्ट्रीयता

शिक्षा में राष्ट्रीयता को भावना के विकास के कारण बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दो महायुद्ध हो चुके है और तीसरे की तलवार सिर पर लटक रही है। इन युद्धों के परिणामो से आप भली-भांति परिचित हैं। इन वर्षों में सामूहिक क्रूरता, मानव का

अंग-भंग, अत्याचार, मौलिक मानवीय और राजनीतिक अधिकारों का हनन और धार्मिक स्वतान्त्र्य का विनाश जितनी अधिक मात्रा में हुए हैं उतनी ही मात्रा में मानव जाति के इतिहास में पहले कभी नहीं हुए। इसलिये आज का समाज राष्ट्रीय शिक्षा को भय की दृष्टि से देखने लगा है। अब इस प्रकार की शिक्षा द्वारा विश्व में सुख तथा शान्ति के स्थायित्व की और मानव समाज के कल्याण की कोई आशा नहीं की जा सकती। आज हमारी शिक्षा उस मानव की सृष्टि करने में पूर्णरूप से असमर्थ है जो अपने को पहचान कर विश्व के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। राष्ट्रवादिता ने हमें इस भयानक अवस्था में ला पटका है। अतः अब हमें विद्यालयों में अपने राष्ट्र से अधिक ऊंची किसी चीज में निष्ठा रखने की शिक्षा देनी चाहिए। जिस निष्ठा की आज हमें आवश्यकता है वह है मानव के प्रति निष्ठा। दूसरे शब्दों में अब हमें राष्ट्रीयता के स्थान पर विश्व-बन्धुत्व की भावना को अपनाना चाहिए जिस से मानव अपने को पहचान कर विश्व के समस्त नागरिकों के प्रति प्रेम, सद्भावना, सहानुभूति तथा उदारता का भाव ग्रहण कर सके। इसलिए आज के युग की एकमात्र पुकार अन्तर्राष्ट्रीयता ही है। इस भावना को अपनाकर हम विश्व-युद्ध की पुनरावृत्ति को रोक सकते हैं। विश्व में सुख और शान्ति स्थापित कर सकते हैं। अतः अब शिक्षा द्वारा अथवा शिक्षालयों द्वारा बालकों में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे इस तरह की शिक्षा पाये हुए बालक जीवन में प्रवेश करने पर अन्तर्राष्ट्रीयता के सच्चे रूप का संरक्षण तथा परिवर्धन कर सकें।

शिक्षा द्वारा बालकों में अन्तर्राष्ट्रीय भावना भरने के पक्ष में कई बातें प्रस्तुत की जा सकती हैं। पहली बात तो यह है कि सम्पूर्ण मानव जाति एक है और विश्व एक इकाई है। यद्यपि विश्व के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में विभिन्न रूप, रंग, जाति तथा धर्म के लोग निवास करते हैं परन्तु उन सबकी मानवीय आत्मा एक है। हम भारत के रहने वालों को भारतीय कहते हैं और अमरीका के रहने वालों को अमरीकन परन्तु जहां तक मानवीय गुणों का सम्बन्ध है वे सब प्रदेशों में एक से हैं। हम भारतीय उदारता या भारतीय सहानुभूति नहीं कहते। ये तो सभी प्रदेशों के निवासियों के मानवीय गुण हैं। अतः शिक्षा द्वारा बालकों को इन गुणों की प्राप्ति के लिए उत्साहित करना चाहिए। इससे बालक समस्त मानव-जाति के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति रखना सीख जायेंगे।

दूसरे, आधुनिक काल में विज्ञान ने विश्व के भिन्न-भिन्न देशों की पृथकता का अन्त कर दिया है। अब यातायात के साधन, बेतार के तार, रेडियो, टेलीविजन आदि आविष्कार के कारण संसार के विभिन्न देश एक दूसरे के निकट आ गये हैं। इसलिये एक देश की राजनीतिक तथा सामाजिक दशा का प्रभाव दूसरे देशों पर पड़े बिना नहीं रह सकता। एक देश की साधारण भी राजनीतिक तथा सामाजिक उथल

पुयल दूसरे मे महान् परिवर्तन कर सकती है । आज संसार तीव्रता से गतिशील है । वह देश जो क्षण भर को भी आलस्य मे पड़ेगा पिछड़ जायगा । अत: अब दूसरे देशो के प्रति उदासीन नही रहा जा सकता । अब कूपमडूक राष्ट्रीयता का युग बीत गया है। अब कोई राष्ट्र स्वयं अपने मे पूर्ण नहीं है। एक राष्ट्र की उन्नति दूसरे राष्ट्रो पर निर्भर है । अपनी दैनिक जीवन की आवश्यक वस्तुओ के लिये हमें दूसरो का मुंह ताकना पड़ता है । फिर भला 'अपनी ढपली अपना राग' वाली कहावत कैसे मानी जा सकती है? अब तो हमे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण ही अपनाना चाहिए और ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिये जो अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओ के विकास म योग दे सके । विश्वबन्धुत्व का भाव जगाने के लिये यह आवश्यक है कि हम बालको के समक्ष आरभ से ही विश्व परिवार का लक्ष्य रक्खें । प्रारम्भ से ही बालको मे यह भावना भरने का प्रयत्न करें कि विश्व के बड़े से बड़े तथा छोटे से छोटे देश, शिक्षित और अशिक्षित, उन्नतिशील तथा पिछड़े हुए अथवा पद-दलित, सभी इस महान् विश्वरूपी परिवार के सदस्य हैं । जिस प्रकार एक परिवार के सदस्य पारस्परिक प्रेम तथा भाई-चारे की भावना मे सम्बद्ध रहते हैं उसी प्रकार विश्वरूपी बड़े परिवार के सदस्यो को भी प्रेम तथा भाई-चारे की डोरी मे सम्बद्ध रहना चाहिये । यदि ऐसा सम्भव हो सका तो विश्व में पारस्परिक द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, लम्पटता पनपने न पायेगी और विश्व मे सुख शान्ति समानता तथा स्वतन्त्रता स्थापित हो सकेगी । प्राय. विश्व में कुछ पिछड़े हुए देशो के कारण ही पारस्परिक वैमनस्य, लड़ाई-झगड़े, कलह तथा युद्धो की रचना होती है । यदि हम परिवार प्रेम की भावना से ओत-प्रोत होकर अपने पिछड़े हुए देशो की जनता को शिक्षा द्वारा सभ्य तथा स्वतन्त्र बनालें तो विश्व मे सभी परिवार सुख और शान्ति से रह सकते हैं । हमारा अपना परिवार-प्रेम अन्य अनेकों परिवारो से प्रेम करके ही सजीव और अक्षुण्ण रह सकता है । दूसरे शब्दों में जिस प्रकार एक राष्ट्र का कल्याण राष्ट्र के सभी व्यक्तियो के समुचित विकास पर निर्भर रहता है उसी प्रकार विश्व-राष्ट्र का कल्याण सभी राष्ट्रो की उत्तम भावनाओं के विकास पर तथा उनके पारस्परिक मैत्रीपूर्ण, प्रेमपूर्ण तथा शान्तिपूर्ण व्यवहार पर निर्भर है । शिक्षा के द्वारा ही यह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त प्रतिफलित हो सकता है ।

अन्तर्राष्ट्रीय भावना के प्रसार के सिद्धान्त

अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्व-बन्धुत्व की भावना के सचार का बहुत कुछ उत्तरदायित्व शिक्षा पर है । परन्तु इस शिक्षा का स्वरूप क्या हो ? कौन-कौन से उद्देश्य अथवा सिद्धान्तों को लेकर शिक्षा की व्यवस्था की जाय? ये प्रश्न बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। अतः इन पर विचार करना आवश्यक है । कुछ विद्वानों ने इस सम्बन्ध मे निम्नांकित बातों अथवा सिद्धान्तों पर बल दिया है:—

(१' बालकों की शिक्षा इस प्रकार की हो जिसमें उन्हें स्वतन्त्र रूप से सोचने

अथवा विचार करने का अवसर मिले। स्वतन्त्र रूप से विचार करने की आदत पड़ जाने पर वे दूसरों के आदेशों पर बिना सोचे-समझे न चलेंगे। राष्ट्र के कर्णधारों की आज्ञाओं का आँख मूँद कर पालन न करेंगे।

(२) बालकों को शिक्षा के पाठ्य-क्रम में विज्ञान को भी स्थान दिया जाना चाहिये। विज्ञान की शिक्षा द्वारा विचारों की संकीर्णता, अन्ध-विश्वास, जाति-भेद, आदि के अन्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। विश्व-बन्धुता, समानता तथा स्वतन्त्रता के आदर्शों को ध्यान में रखकर शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिये।

(३) शिक्षा द्वारा संकुचित राष्ट्रीयता अथवा नागरिकता की भावना भरने के स्थान पर विश्व-नागरिकता की भावना का उद्रेक करना चाहिए। भूगोल, इतिहास तथा नागरिक शास्त्र के शिक्षण द्वारा बालकों के समक्ष विश्व-नागरिकता का आदर्श उपस्थित करना चाहिए शिक्षा द्वारा राष्ट्र-प्रेम की परिभाषा को बदल देना चाहिए, तभी 'मेरा देश सही हो चाहे भूल में हो, सम्मानित है' की भावना से हम छुटकारा पा सकेंगे।

(४) मानव की पारस्परिक निर्भरता को शिक्षा द्वारा स्पष्ट करना चाहिए। बालकों को इस बात का ज्ञान कराना चाहिये कि किस प्रकार एक देश की आर्थिक तथा राजनीतिक उन्नति संसार के अन्य देशों पर निर्भर है। पारस्परिक निर्भरता का ज्ञान हो जाने पर बालकों के हृदय में दूसरे देशों के प्रति अनुराग तथा आदर के भाव उत्पन्न हो सकेंगे।

(५) विश्व के विभिन्न भागों में रहने वाले प्राणियों के जीवन, रहन-सहन, आचार-विचार, उद्योग-धन्धे, रीति-रिवाज, आदि का सामान्य ज्ञान बालकों को देना चाहिए। अज्ञान के कारण ही मानव उदासीन रहता है। अन्य देशों के निवासियों के विषय में ज्ञान प्राप्त हो जाने पर बालक कूपमंडूकता के घेरे से बाहर निकल सकेंगे और संसार की दूसरी मानव-जातियों के कार्यों के प्रति उपेक्षा के भाव न रखेंगे। इस कार्य में हमारा पाठ्य-क्रम हमारी सहायता कर सकता है। छोटी कक्षाओं के पाठ्य-क्रम में उक्त बातों से सम्बन्धित सभी विषयों को स्थान देना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय भावना को जगाने के लिये यदि हम विश्व के प्रादेशिक विभाजनों का अध्यापन समाप्त कर दें तो अति उत्तम होगा।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय भावना को उद्रेक करने के साधनों के मध्य शिक्षक भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस कार्य की बहुत कुछ सफलता शिक्षक के व्यक्तित्व, आदर्श, विश्वास, कार्यनिष्ठा आदि पर निर्भर करती है। शिक्षक एक विशिष्ट दृष्टि-कोण के आधार पर विषयों को विद्यार्थियों के सम्मुख उपस्थित करता है। वह अपने चातुर्य से शिक्षण करते समय उन आदर्शों पर बल देता है जिनको वह उत्तम समझता है और बालक इन आदर्शों को समझकर अपना लेते हैं। इस प्रकार

यदि शिक्षक का लक्ष्य सर्व-भेद-विहीन-विश्व-समाज की स्थापना करना है तो बालक भी उससे प्रभावित होकर इसी लक्ष्य को अङ्गीकार करेंगे। और यदि शिक्षक का निजी दृष्टिकोण सकुचित होगा तो वह अपने बालकों में विश्वबन्धुत्व की भावना नहीं जगा सकेगा। अतः उसे स्वयं इस भावना से ओत-प्रोत होना आवश्यक है। इस भावना को अङ्गीकार करने के पश्चात् वह अपने विभिन्न कार्यों, जैसे सामूहिक कार्यों का आयोजन अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् की स्थापना, अन्तर्राष्ट्रीय बातों पर वाद-विवाद, उत्सव, मेले, नाटक आदि के द्वारा बालकों में वांछित भावनाएं उत्पन्न करने में सफल हो सकता है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय-शिक्षा-विज्ञान-संस्कृति-संस्था इस विषय में बहुत कुछ कर रही है और उसने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को पनपाने के लिए एक शिक्षा योजना भी बनाई है। उसे प्रयोग में लाया जा सकता है। इस संस्था के उद्देश्यों, आदर्शों तथा कार्यों से हम सभी को भली-भाँति परिचित होना चाहिए तभी हम इस भावना के प्रसार में अपना योग दे सकेंगे। अत. अन्तराष्ट्रीय भावना का प्रसार करने तथा सुख और शान्ति स्थापित करने के लिए शिक्षा की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

—

प्रश्न

(१) बालकों में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने के प्रसंग में शिक्षा का क्या महत्त्व है?

(२) शिक्षा के उन साधनों की विवेचना कीजिए जिनके द्वारा बालकों में आप अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा एक दूसरे को समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न करेंगे।

(३) उन विभिन्न शक्तियों की विवेचना कीजिए जो शिक्षा में अन्तराष्ट्रीय दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता पर बल देती हैं।

(४) राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा कहाँ तक परस्पर अपवर्ती तथा सहायक है? क्या किसी देश के युवकों को दोनों राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रशिक्षण एक साथ बिना किसी प्रत्यक्ष विरोध के देना सम्भव है? अपने मत की पुष्टि में तर्क दीजिए।

(५) शिक्षा में 'अन्तर्राष्ट्रीयता' से आप क्या समझते हैं? आपकी देश भक्ति की कल्पना से इसका कहाँ तक समन्वय हो सकता है?

(६) शिक्षा किस प्रकार राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना दोनों को संवर्धित कर सकती है? पूर्णतया स्पष्ट कीजिए।

BIBLIOGRAPHY

A FOREIGN

ADAMS : *Evolution of Educational Theory.*
Modern Developments in Educational Pratic

BOYD : *History of Western Education.*

CUBBERLEY : *The History of Education.*

DEWEY : *Democracy and Education.*
The School and the Child.
The cho l and Society

DUGGAN : *A Student's Text Book in the History of Education*

GRAVES : *A Student's History of Education*

JACKS : *Modern Trends in Education.*

KILPATRICK : *The Project Method*

MONROE : *A Brief Course in the History of Education.*

NUNN : *Education : Its Data and First Principles.*

PARKHURST : *Education on the Dalton Plan.*

ROSS : *Groundwork of Educational Theory.*

RUSK : *The Doctrine of Great Educators.*
The Philosophical Basis of Education.

RUSSEL : *Education and the Social Order.*

SPENCER : *Education*

B. INDIAN

एम. अग्रवाल : भारतीय शिक्षा के सिद्धान्त

ब्राउन एण्ड सक्सेना : माडर्न डेवलपमेन्ट इन एजुकेशन

सीताराम चतुर्वेदी : शिक्षा प्रणालियाँ और उनके प्रवर्तक

एस. पी. चौबे : पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास

सीताराम जायसवाल : पश्चिमी शिक्षा का इतिहास

डी. भाटिया : फिलासफी एण्ड एजुकेशन

डॉ. एन. मुकर्जी : शिक्षा सिद्धान्त

[illegible] शुक्ल : शिक्षा विचार

[illegible] : एजुकेशन, [illegible]